ॐ ह्री अर्हं नमः
शासनपति श्री महावीरस्वामिने नमः
नमो नमः श्री गुरुधर्मसूरये

श्री भगवतीसूत्र सारसंग्रह

[हिन्दी भाषा]

(भाग ४ था : शतक २१ से ४१)
(इस भाग में भगवतीसूत्र की समाप्ति है।)



लेखक :
स्व. शासनदीपक मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज के
शिष्यरत्न न्याय-व्याकरण-काव्यतीर्थ
पंन्यास श्री पूर्णानंदविजयजी (कुमार श्रमण)

ॐ ह्रीं अर्हं नमः
शासनपति श्री महावीरस्वामिने नमः
नमो नमः श्री गुरुधर्मसूरये

श्री भगवतीसूत्र सारसंग्रह

[हिन्दी भाषा]

(भाग ४ था : शतक २१ से ४१)

(इस भाग में भगवतीसूत्र की समाप्ति है।)



लेखक :
स्व. शासनदीपक मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज के
शिष्यरत्न न्याय-व्याकरण-काव्यतीर्थ
पंन्यास श्री पूर्णानंदविजयजी (कुमार श्रमण)

प्रकाशक :

संघवी जगजीवनदास कस्तूरचंद शाह
P/o. साठंबा (साबरकांठा) गुजरात
वाया धनसुरा A.P. Rly. पीन-383340



प्रथमावृत्ती गुजराती २००० प्रति
प्रथमावृत्ती हिन्दी १००० प्रति

वीर संवत	विक्रम संवत	धर्म संवत	इ. संवत
२०१२	२०४२	६४	१९८६

मूल्य १५-०० रुपये



कमलकांत आर. तिवारी
संगीता प्रिंटिंग प्रेस,
५, कपूर काटेज, छठवां रास्ता,
सांताक्रुज (पूर्व), बम्बई-५५.

जैनी वाणी स्तुति

जीयाज्जीयात् सदाजीयाज्जैनी वाणी जगत्त्रये ।
संसारताप दग्धानां जीवानां सौख्यदायिनी ॥१॥
महाधीरा च गम्भीरा त्रिलोकी द्रव्यसाधिका ।
वाणी तीर्थकृतां मान्या देवदानव मानवैं ॥२॥
अर्हद्वक्त्र प्रसूता या कर्मोधदाहने क्षमा ।
मोहक्रोधशमे मुख्या मोक्षमार्ग विधायिका ॥३॥
मन्मतिज्ञानलाभार्थं भाषानुवादगुम्फिता ।
व्याख्याप्रज्ञप्ति पूजा सा 'पूर्णानन्द ददातु मे ॥४॥
जैनी वाणी प्रथयतु सुखं मादृशेभ्यो जनेभ्य, ।
'पूर्णानन्दा' जिनवरमुखे, शोभमाना सदैव ॥५॥
पापासक्तैर्विनयरहितैः क्रोधमायासुबद्धैः ।
सेव्या पूज्या नाहि भवति या दुर्जनैः सा सतीव ॥३॥

— पंन्यास पूर्णानन्द विजयजी म.
(कुमार श्रमण)

श्री विजयधर्मसूरि गुरुवन्दना

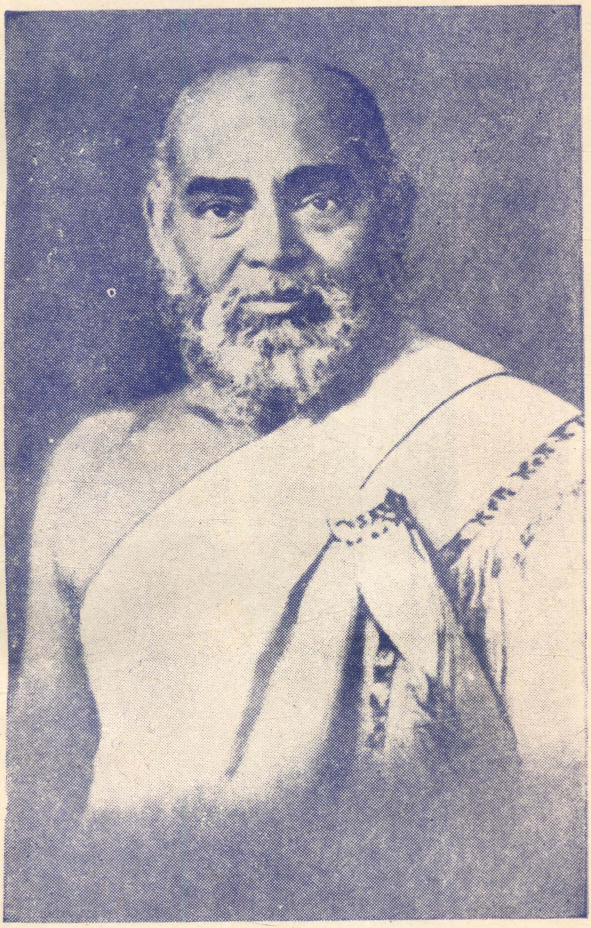
जातो यन्मुखभाभरैरभिभवाद् म्लानोऽन्तरिन्दुः शुचा
यद्देहद्युतितोज्जलन्नतितरां भस्मीबभूव स्मरः ।

यद् भाग्यार्जनचिन्तया सुरगणोऽस्वप्नोऽविनिद्रोऽभवत्
ज्ञानाद्वैतमतं पुनः प्रकटित व्याप्तेर्भुवो यद्धिया ॥१॥

प्रौढप्रतापभाजो जगदुपकारा जयन्ति ते गुरवः ।
शास्त्रविशारदजैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरीन्द्रः ॥

प्रमाणपरिभाषाग्रन्थ टीकाकार
स्व. मुनिराज श्री न्यायविजयजी म.
न्यायविशारद, न्यायतीर्थ

जगत्पूज्य, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य, स्व. श्री.



श्रीमद्विजयधर्मसूरीश्वरजी म. सा.

A. M. A. S. B. H. M. A. S. I. H. M. G. O. S. I.,

जन्म सं. १९२४ महुवा सौराष्ट्र)

दीक्षा सं. १९४३ भावनगर

स्वर्गगमन सं. १९७८ शिवपुरी (म.प्र.)



लेखक के गुरुवर्य
शासनदीपक, स्व.
मुनि श्री १००८
श्रीमद्विद्याविजयजी
महाराज साहेब
स्वर्गगमन सं. २०११
मागसर वदि १२
शिवपुरी (म प्र.)

पूज्य गुरुवर्य्य १००८ श्री विद्याविजयजी म. को

卐 समर्पण 卐

संसार की चौराशी लाख शेरीओं में रखड़नेवाला,
मोहराजा के सैनिकों के जाल में फंसा हुआ
इसीलिए सर्वथा अनाथ बना हुआ मैं,
शिक्षित बनने के लिए
आपश्री के चरणों में दीक्षित हुआ,
और कारीगर के हाथ में पड़ा हुआ पत्थर
छेनी तथा हथोड़े की मार खाकर,
जैसे पूज्यतम आकार को प्राप्त करता है
वैसे मैं भी कुछ बनने पाया हूं
इसी से आपश्री के अनन्त उपकार का
लाभ प्राप्त कर कृतकृत्य बना मैं
भगवतीसूत्र सारसंग्रह का चौथा आगमीय ग्रन्थ
आपश्री के कर कमलों में अर्पित कर धन्य बनता हूं।

भवदीय

पं. पूर्णानन्दविजय (कुमार श्रमण)

शासनदीपक श्रीविद्याविजय गुरुवन्दना

आबाल्यं ब्रह्मचर्यं जिनवचनबलात् पालयन्तस्त्रिधा ये,
निष्णाता आगमाब्धौ जनिमृतिभयदं मोहशत्रुं जयन्तः ।
त्यक्त्वा स्वार्थं परार्थं सुविमलहृदये धर्मध्यानं दधाना,
जीयासुस्ते हि विद्याविजयगुरुवराः भूतले ज्ञानपूर्णाः ॥१॥

यद्वाचामृतपानलुब्धमनसः प्राज्ञाः सदोपासते,
ये भव्यान् प्रतिबोधयन्ति वचनैः सद्धर्मतत्त्वं मुदा ।
तत्त्वातत्त्व विचारणैकपटवो विद्याब्धिपारं गताः,
ते विद्याविजया जयन्तु भुवने चारित्ररत्नाकराः ॥२॥

येऽजस्त्रं परित्यज्य स्वार्थमखिलं लोकोपकारोद्यतः,
येषां नो हृदये सदा स्वपरता येषां कुटुम्ब जगत् ।
हेयादेय समस्त वस्तु निवहं ये बोधयन्तां जनान्,
तद्विद्याविजयांघ्रिपद्मयुगले ध्यायामि मे मानसे ॥३॥



प्रकाशकीय निवेदन



लगभग पांच वर्ष के पहले भगवतीसूत्र सार-संग्रह का चौथा भाग गुजराती भाषा में प्रकाशित हुआ था। आज उसको हिन्दी भाषा में प्रकाशित करते हमें बहुत खुशी हो रही है। दोनों भाषा में भगवतीसूत्र सार-संग्रह के चारों सूत्र संघ के करकमलों में रखने का गौरव भी हमें है। क्योंकि रेल्वे स्टेशन तथा हाइवे रोड से हमारा गाम दूरी पर है। छोटासा गाम है, फिर भी इतनी बड़ी अमूल्य सेवा करने का हमें जो सौभाग्य मिला है, उसके लिए हम पूज्य पंन्यासजी महाराज के ऋणी हैं!

सम्यग्ज्ञान आत्मा का प्रकाश है, मूल खजाना है, मोक्ष प्राप्ति का आदि कारण है, तथा समाधिस्थ बनने का श्रेष्ठ मार्ग है। केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद, तीर्थंकर देव जो देशना देते है वह द्वादशांगी कहलाती है उसमें पंचमांग भगवती सूत्र है। भगवतीसूत्र के योगोद्वहन करने के पश्चात पू. पं. श्रीजी ने आबाल गोपाल समझ सके ज्ञान प्राप्ति कर सके.... तदर्थ भगवतीसूत्र का जिस पद्धति से विवेचन किया है वह अपने स्थान पर अद्वितीय है.... जो प्राप्त हुए अभिप्रायों से ही स्पष्ट हो जाता है।

सादड़ी (राजस्थान) के संघ के हम आभारी है, इस भाग को छपवाने में उनकी सहायता के लिए हम ऋणी हैं।

सांताक्रुज (इस्ट) के संगीता प्रेस के मालिक श्रीमान कमलकांत तिवारीजी ने यह काम अपनाही समझकर बड़ी तत्परता से इसे पूर्ण किया है।

अब तो द्वादशांगी का दशमांग श्री प्रश्नव्याकरण भी गुजराती भाषा में हम प्रकाशित कर पाये है। उसका हिन्दी संस्करण भी शीघ्रता से छपवाने का इरादा है।

साठंबा,
२०४२ जेठ सुदि पूर्णिमा—

—लि.
प्रकाशक





द्वादशांगी को वन्दना

आत्मा की अनन्त शक्तिओं का अवरोध करनेवाले, घातीकर्मों का समूल नाशकर केवलज्ञान प्राप्त किये, अरिहंत परमात्माओं के श्रीमुख से प्रसारित, अनन्त-लब्धिधारक गणधर भगवंतों से रचित, श्रेष्ठतमबुद्धि वैभव के मालिक, पंचमहाव्रतधारक महामुनिराजों से अपने हृदय कमल में स्थापित, मोक्षमहल का अग्रिम द्वार, महाव्रत-देशव्रत तथा पापों से निवृति स्वरूप प्रत्याख्यान ही जिसका फल है। द्रव्य-स्कंध-पुद्गल-परमाणु-जीव तथा कर्मप्रभृति पदार्थों की अनन्ता को सिद्ध करना ही जिसका सत्यार्थ है। संसार को, जीवात्माओं को, तथा उनके कर्मों को अनादिकालीन सिद्ध करने में सर्वश्रेष्ठ, स्याद्वाद मुद्रा से मुद्रित द्वादशांगी को मेरी भावभरी वन्दना है।

—लेखक

लेखकीय निवेदन



राजस्थान पाली जिलान्तर्गत सादड़ी शहर के चैत्यालय में प्रतिष्ठित मूलनायक श्री चिंतामणी पार्श्वनाथ प्रभु की, स्वर्गस्थ दादागुरु १००८ श्रीमद्विजय धर्म सूरीश्वरजी महाराज सा. की तथा मेरे शिक्षा तथा दीक्षागुरू, शासनदीपक, मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज की असीम कृपा से, श्रुतज्ञान के सागरसम श्री भगवतीसूत्र की पूर्णाहुति हिन्दी तथा गुजराती भाषा में निर्विघ्न कर पाया हूँ।

दूसरे भाग की प्रस्तावना के लेखक पूज्य जैनाचार्य १००८ श्री विजयकीर्तिचन्दसूरीश्वरजी महाराज के शब्दों में कहे तो द्रव्यानुयोग के जटिल, कठिन तथा अगम्य विषयों के मर्मस्थल पर पहुँचकर उन्हे विशद (स्पष्ट) करना तथा प्रत्येक विषय पर प्रकाश डालना यह तभी हो सकेगा कि लेखक को पूरा अनुभव हो, बुद्धि कुशाग्र हो, शास्त्रों का तलस्पर्शी ज्ञान हो, सतत परिश्रम हो, हृदय में हितबुद्धि हो, माता सरस्वती की कृपा (दयापूर्ण नजर) हो, तथा गुरूकृपा (आशिर्वाद) हो तभी लेखक सफल बनता है" इस प्रकार के आशिर्वाद पूर्वक उच्चारित शब्द मेरे लिए सत्यस्वरूप से सिद्ध बनने पाये है।

वि स. १९९७ मंजल रेलडीआ (कच्छ) कच्छ के चातुर्मास में पूज्यगुरूदेवो ने भगवतीसूत्र के छः शतक तक नोंट बुक

के १२५ पेज तक मूलसूत्रानुसार विवरण लिखा था। वह नोट बुक बहुत वर्षों तक मेरे पा रही और पूना गोडीजी टेंपल ट्रस्ट के उपाश्रय के चातुर्मास में भगवतीसूत्र के वांचन दरम्यान उस विवरण को संस्कार देने की कल्पना की, और कार्य का प्रारम्भ किया। पांच शतक का पहला भाग तैयार हुआ और बोरीवली के जांभली गली के चातुर्मास में प्रकाशित किया, फलस्वरूप मेरे आनंद में चार चांद लगे फिर तो २–३–४ भाग में वृहत्काय भगवतीसूत्र को पूर्ण किया। हिन्दी भाषा में भी १–२–३ भाग प्रकाशित हुए, आज चौथे भाग को प्रकाशित करने का अवसर मिला है।

मेरे जैसे सर्वथा निःसहाय साधक मुनि के लिए अकल्पनीय दुःसाहस था, परन्तु 'शुभ भावना, सततप्रवृतिशीलता और कार्य को सर्वांगीण सुन्दर बनाने की मानसिक लगन आदि कारणों से मेरा दुःसाहस भी आज सुसाहस बनने पाया है।

ध्येय की उच्चता, लक्ष्यसिद्धि के लिए निःस्वार्थ लगनी तथा सर्जनात्मक पवित्र प्रवृत्ति में शासन देव की सहायता तथा गुरू देवों का आशिर्वाद नहीं चाहने पर भी मिले बिना रहता नहीं है। मेरे लिये तो वैसा ही बना है उसमें शंका रखने जैसा नहीं है।

कार्य की सिद्धि चाहे कैसे भी तथा चाहे किसी की सहायता से बनी हो मेरे वास्ते तो वे सब निमित्त आनन्द प्रद बनने पाये हैं। इसीलिए वे महापुरुष आचार्य भगवंत, संघ के अग्रणिओं, ट्रस्टीओं तथा भिन्न-भिन्न लेखकों का मैं हार्दिक

आभार मानता हूँ मेरे लिए तो वे सभी अभिवन्दनीय तथा अभिनन्दनीय है।

वि० सं० २०१० के शिवपुरी (मध्य प्रदेश) के चातुर्मास के व्याख्यान दरम्यान गुरुदेव की हाजरी में कर्मग्रन्थ, तथा सं० २०११ के चातुर्मास में चतुर्विध संघ के बीच में भगवती सूत्र वांचन करने पाया था जो मेरे लिए सर्वप्रथम साहस था। आज भी उन चातुर्मासों की स्मृति आती है तब गुरुदेव की असीम कृपा भी मध्य नजर में आये बिना नहीं रहती है। अफसोस केवल इतना ही है, कि वे ज्ञानगर्भित व्याख्यानों को पुस्तकारूढ़ कराने जैसी क्षमता मेरे पास नहीं थी। तदन्तर प्रायः कर बहुत से चातुर्मासों के व्याख्यान में भगवतीसूत्र ही मेरे लिये आदरणीय रहा है।

वि० सं० २०२७, बम्बई विजय वल्लभ चौक (पायधुनी) के श्री नमिनाथ के उपाश्रय में परमपूज्य, शान्तस्वभावी, जैनाचार्य १००८ श्री विजय प्रेमसूरीश्वरजी म तथा विजय सुबोध सूरीश्वर जी म. (उस समय पंन्यास) की प्रेमदृष्टि के पात्र मैं बना और पंचमांग श्री भगवतीसूत्र के योगोद्वहन कर पाया। वि० सं० २०२८ मागसर सुदि ३ के दिन आदीश्वर जी की धर्मशाला में मुझे गणिपद प्राप्त हुआ, तथा मागसर सुदि ६ बुधवार ता० २४ नोवेंबर १९७१ के दिन में पंन्यास पद के लायक बना। परन्तु "लाभे लोभो वर्धते" इस सूत्रानुसार योगोद्वहन पूर्ण होने पर मुझे द्वादशांगी की सेवा करने का विचार हुआ, तप के अनुष्ठान के साथ आगमीय सेवा से वंचित रहने न पाऊं, अतः मेरे यथाक्षयोपशम के अनुसार भगवतीसूत्र पर ही लिखने का प्रारम्भ हुआ और गुरुदेव की कृपा से मेरा भगीरथ कार्य पूर्ण हुआ है।

साथ-साथ पूर्वभवीय विराधना भी मेरे भाग्य में रही होगी, जिससे इस भव में आदेय नामकर्म का अभाव तथा अंतराय कर्मों की भरमार को साथ लेकर मेरा जन्म हुआ है, अतः वर्तमान काल में कदाच मेरे द्वारा विवेचित इन ग्रन्थों की ज्यादा प्रशंसा न भी होने पावे अथवा 'छोटे मुंह बड़ी बात' जैसा भी बने, तो भी भविष्यकाल में कोई माई का लाल जन्मेगा तब मेरे ग्रन्थ आदरणीय बनेंगे इसमें कोई संदेहनहीं है। फिर भी ग्रन्थ के प्रारम्भ काल से ही मेरे प्रयत्न की अनुमोदना करते बहुत से आचार्य भगवंतो के उपाध्यायों के तथा मुनिराजों के अभिप्रायों से मेरा उत्साह बढ़ते गया, इसी से अनुमान करना सरल है कि मेरा प्रयत्न सर्वथा निष्फल नहीं गया है।

गुजराती तथा हिंदी के इन चारों भागों में मूल सूत्र न होने से जिज्ञासु, तत्वचिंतक तथा स्वाध्याय प्रेमी सद्गृहस्थों को भी परमात्मा महावीर स्वामी की वाणी का अभूतपूर्व लाभ मिलने पायेगा। आज की व्यापारिक, कौटुंम्बिक तथा सरकार के कानून कायदों की स्थिति इतनी विषम है; जिससे व्याख्यान वाणी सुनने की प्रबल इच्छा होते हुए भी प्रतिदिन समय निकालना और प्रवचन सुनना लगभग शक्य न रहा होने से अपने घर में सामायिक या अन्य समय में ऐसे ग्रन्थों का मनन करना श्रेष्ठ मार्ग है।

लेखक, चिंतक तथा सबों को सीधी-सादी भाषा में सत्य सलाह देने में ख्यातनाम, मनसुखलाल ताराचंद महेता (नेपच्युन बीमा कंपनी वाले) मेरी संयम यात्रा के लिए ध्रुवतारा समान थे, नेमिनाथ उपाश्रय में मुझे एक दिन कहा कि आपके आगमीय ज्ञान का लाभ यदि लेखन कार्य में

लिपिबद्ध कर लिया जाय तो समाज के लिए जादा फायदा-कारक रहेगा, इसी प्रकार (मेवाड़ छोटी सादड़ी) के शेठ चन्दनमल जी नागोरी जी ने एक पत्र में टकोर लगाते हुए कहा कि इन छोटी-छोटी पुस्तिकाओं में बालचेष्टा करने के बजाय, किसी ठोस, अमूल्य और अमर बन पाये वैसे साहित्य में परिश्रम कीजिये "मेरे वास्ते आदरणीय इन दोनों सद्गृहस्थों की सलाह माननीय थी, क्योंकि उनका आध्यात्मिक उपकार मेरे पर अमीट था। विचारों के अमलीकरण करने के लिये सीधी नजर भगवती सूत्र पर पड़ी और शुभ संकल्प पूर्वक गुरुदेवों का स्मरण कर कार्य का प्रारम्भ किया तथा चारों भागों में पूर्णाहुति कर पाया अफसोस केवल इतना ही है कि वे मेरे उपकारी गृहस्थ आज स्वर्गस्थ है।

'प्रारम्भ किये कार्य भी अपूर्ण रहे' ऐसी मोहमयी बम्बई की उत्तेजक हवा धमालमय जीवन, चातुर्मास की जवाबदारी, अविरत व्याख्यानों की प्रवृत्ति, सर्वथा असहाय जीवन रहने पर भी मेरी लेखन प्रवृत्ति चालू है। उसमें हितेच्छुओं के आशिर्वाद के अतिरिक्त दूसरा कारण क्या हो सकता है? भविष्य में भी मेरे शुभेच्छकों के पास आशीर्वाद की आशा रखने का मैं हकदार हूँ।

लेखन कार्य में मूलसूत्र तथा टीकाकार, पूज्य श्री अभयदेव सूरीश्वर जी म. का शत प्रतिशत आश्रय लिया गया है। आत्मा की जागृतिपूर्वक भगवान महावीर स्वामी की वाणी को, कम अभ्यास वाले बाल जीव भी आराम से समझ सकें और स्वाध्याय में स्थापित करे उस बात को ख्याल में रखकर मैंने भी सीधी साधी भाषा का ही मार्ग अपनाया है, जिससे चार ज्ञान के मालिक श्री गौतम स्वामी के प्रश्नों का आशय

तथा देवाधिदेव, भगवान महावीर स्वामी जी के दिये हुए उत्तरों का आशय साधारण जनता आसानी से समझ सके।

यद्यपि प्रारम्भ से अन्त तक मेरा मतिज्ञान पूर्वक परिश्रम रहा है फिर भी पू० गुरुदेव के हाथों से लिखा गया केवल ६ शतक का मेटर मेरे पासे सुरक्षित न रहा होता तो अत्यन्त जटिल आगमीय ग्रन्थ को हाथ में लेने का उत्साह मुझे न होने पाता अतः पूज्य गुरुदेव के असीम उपकार की फलाश्रुति ही ये चारों भाग है उसे स्वीकार न करुं तो मेरे जैसा कृतघ्न दूसरा कौन ?

भगवती का अन्तिम भाग होने से इसमें बहुत से प्रश्न एकेन्द्रियादि, तथा युग्मादि के होने से समझ में न भी आवे तो भी, ३६३ पाखंडिओं का विस्तृत विवेचन, पुलाकादि मुनिओं की विशाल व्याख्या, तपश्चर्या तथा अतिशयादि के बहुत से विषय पठनीय और मननीय बनने पाये हैं।

राजस्थान पाली जिलान्तर्गत सादड़ी शहर मेरी जन्म-भूमि है। दीक्षा लेते ही ४८ वर्ष पूर्ण हुए हैं। बोरीवली जांभली गली के सादड़ी के सदगृहस्थों को पुस्तक छपाने संबंधी बात की और संपूर्ण खर्च अपने पर लेकर मुझे खूब ही खुश किया है। अतएव सहायक दाताओं को मेरा धर्म लाभ पूर्वक आशीर्वाद है। प्रेसके मालिक श्रीमान कमलकांत तिवारी-जीने भी शीघ्रतापुर्वक पुस्तक छाप दी है जिनकी प्रशंसा करना ही शेष रहता है। बम्बई तथा बोरीवली में रहे सादड़ी निवासी भाग्यशालिओं ने पुस्तक छपाने का संपूर्ण खर्च अपने मस्तक पर लेकर मुझे मेरी प्रवृत्ति में खुब-खुब उत्साहित किया है तदर्थ सादड़ी के संघ को मेरा हार्दिक आशीर्वाद है। भविष्य

में भी ऐसी आशा इसलिए रखता हूं कि मैं भी सादड़ी की भूमि पर जन्मा हुआ हूँ।'

भगवती सूत्र द्वादशांगी में पंचमांग है, तो प्रश्न व्याकरण दशवाँ अंग है। गुजराती भाषा में छप चुका है हिन्दी अनुवाद हो रहा है। उसे भी प्रेस में भेजने की इच्छा है अतः जिस किसी भाग्यशाली को सम्यग्ज्ञान में लाभ लेने की इच्छा हो वे बोरीवली वाले विमलचंद रांका को मिले।

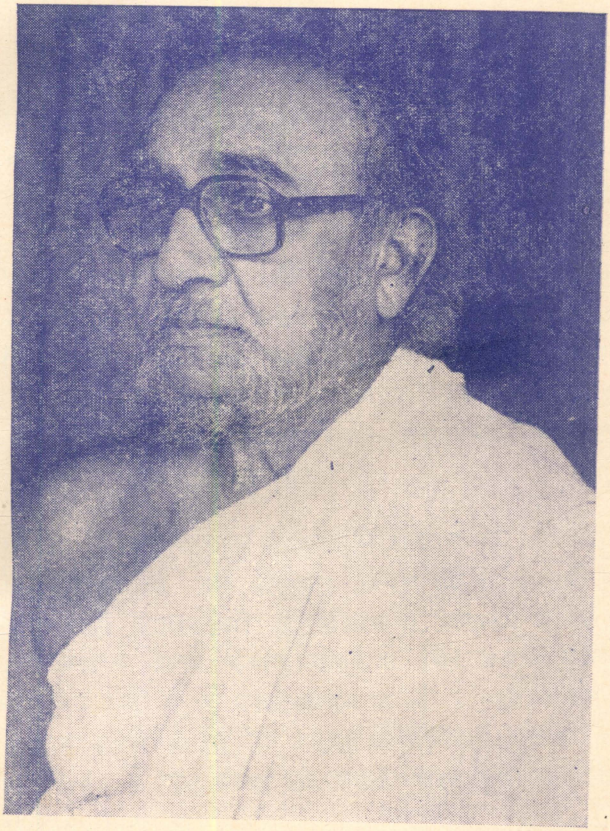
आगमीय ज्ञान से सभर ऐसे उच्चस्तरीय ग्रंथ हिन्दी भाषा में छपे उसे दूसरा उत्तम लाभ और क्या हो सकता है?

अन्त में परमदयालु परमात्मा से मेरा निवेदन है कि :

"एकेन्द्रियादि संसारः प्राप्तो मयाऽप्यनेकशः।
अधुना प्रार्थये देव ! न देयं तत्र जन्म मे ॥ १ ॥
ह्रासो भवतु मोहस्य, मायायाः घातनं तथा
नैक जन्म कुसंस्काराः नश्यन्तु त्वत्प्रभावतः ॥ २ ॥
प्रानुयां शासनं जैनं वाणीं भागवतीं पुनः।
चरणं देवदेवस्य भवान्तरेऽपि नैकशः ॥ ३ ॥

लि. पं. पूर्णानन्दविजय (कुमारश्रमण)
न्या. व्या. काव्यतीर्थ
C/o. श्री सुपार्श्वनाथ जैन देरासर
नवी चाल भीवंडी
(थाणा-महाराष्ट्र) पीन-४२१ ३०२.

ग्रन्थलेखक न्या. व्या. काव्यतीर्थ पन्यासश्री



श्रीमत् पूर्णानन्द विजयजी म. (कुमार श्रमण)

दीक्षा. वि सं. १९९४ मागसुदि १० करांची (सिन्ध)

ग्रन्थकार परिचय



देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी की ७४ वीं पाट को सुशोभित करनेवाले नवयुगप्रवर्तक, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य १००८ श्री विजयधर्म सूरीश्वर जी महाराज के शिष्य, शासन-दीपक, मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज के शिष्यरत्न, पंन्यासजी श्री पूर्णानन्द विजयश्री महाराज का जन्म, राजस्थान, पाली जिलान्तर्गत, सादडी शहर में हुआ था जो गगनचुम्बी जैन मंदिरों तथा श्रद्धाशील श्रमणोपासकों से सुशोभित शहर है। उसके बडावास में रहनेवाले बाफना गोत्रीय सेठ नेमीचंदजी के वे संसारी पुत्र थे। माताजी का नाम मोंघीबाई तथा उनका संसारी नाम पुखराज था।

यौवन के प्रारम्भकाल में उन्होंने संसार की निःसारता देखी और दीक्षा लेने की भावना उत्पन्न हुई। मनस्वी पुरुष अपनी अच्छी भावनाओं को जीवन में उतारने में देर नहीं करते, जिससे वे सिंध करांची शहर में बिराजमान मुनिराज श्री विद्याविजयजी म. के पास जाकर अपनी भावना प्रकट की, और खुब धामधुम से वि. सं. १९९४ के मागसर शुक्ल १० को ता. १३-१२-३७ के दिन दीक्षा ली. उनका नाम पूर्णानन्द विजय जी रखने में आया।

दीक्षित होने के बाद शिक्षित बनने के लिए अभ्यास में अपना मन स्थिर किया। गुरू के वचनों पर अतूट श्रद्धा होने

से उनकी आज्ञानुसार पंचप्रतिक्रमण प्रकरण, कर्मग्रंथ, तत्वार्थ सूत्रादि का अभ्यास पूर्ण करके संस्कृत हैमलघु प्रक्रिया व्याकरण में प्रविष्ट हुए। थोड़े ही समय में संस्कृतभाषा पर अच्छा काबू प्राप्त किया। फलस्वरूप करांची में ही हजारों इन्सानों के बीच कल्पसूत्र सुबोधिका के अमुक व्याख्यान वांचने में सफल हुए। तदन्तर लघुवृति, द्वयाश्रय महाकाव्य, आदि का अभ्यास किया। गुरुमहाराज के साथ शिवपुरी आये, और दादागुरू श्री विजयधर्मसूरि के समाधि मंदिर की पवित्र छाया में परीक्षा के माध्यम से वहां के विद्वान पंडितों के पास अभ्यास करने में दिनरात एक कर पाये। केवल छः वर्ष में लघुवृति, वृहद्वृति न्यायसंग्रह, क्रियारत्नसमुच्चय, पंचकाव्य, स्थाद्वाद मंजरी प्रमाण मीमासा, रत्नाकर अवतारिका तथा तत्त्वार्थ भाष्य के गहरे पठन-पाठन करने के साथ कलकत्ता संस्कृत एसोसिएसन की डिग्री परीक्षायें देकर न्याय व्याकरण काव्यतीर्थ के पदधारक बने. साथ-साथ अन्य दर्शन-ग्रन्थों के उपरान्त जैनागमों में भी प्रवेश कर चुके थे। अपने गुरूदेव की उपस्थिति में भगवतीसूत्र को व्याख्यान में वांच सके थे। पढ़ाने का शौक होने से कितने ही विद्यार्थिओं को व्याकरणन्याय तथा काव्य के ग्रंथ पढ़ाने के उपरान्त ज्योतिष विषय में ताजिक जातक प्रश्न व आरम्भ सिद्धि को भी पठन पाठन में प्रवेश करा चुके थे।

उनके अन्तरजीवन का ख्याल आवे तदर्थे २-३ प्रसंग बतलाना मुनासिब समझता हूं।

(१) प्रतापगढ़ राजस्थान के गुमानजी के मंदिर में पंन्यास जी चातुर्मास बिराजे हुए थे! एक दिगम्बरमुनिजी वर्षावास के लिये पधारे हुए थे। कानजी स्वामी के मत प्रचारक एक

यतिजी भी पधारे हुए थे। दिगम्बरमुनिके विचार पंन्यास जी के साथ कुछ चर्चा करने का होने से २-३ बार उन्होंने प्रेरित किया, परन्तु अपनी लाक्षणिक ढब से पंन्यास जी ने प्रत्युत्तर दिया कि 'मैं चर्चा करने में सर्वथा निरुत्साही हूं, क्योंकि आज दिन तक श्वेतांबर–दिगम्बर में चर्चा काफी हो चुकी है, जिसका फल कुछ भी नहीं रहा, बल्कि महावीर के संतान अपन दोनों बैर विरोध के मायाजाल में फंसकर बहुत कुछ सामाजिक हानी कर बैठे हैं। आपका और मेरा समाज, वणिग धर्मी होने से, वाद-विवाद होने में तथा बढ़ने में देर नहीं लगती, परन्तु उसका समाधान बड़ा भारी कठिन है। अतः मेरी सलाह है कि अपन दोनों मुनि एक ही पाटपर बैठकर व्याख्यान की योजना करें। प्रतापगढ़ में जैनसमाज की संख्या बहुत बड़ी हैं, साधारण जनता को श्वेतांबर दिगंबर का ख्याल होता नहीं है, इसलिए आपके प्रस्ताव के बदले मेरा व्याख्यान का प्रस्ताव तय किया जाय तो सामाजिक फायदा रहेगा, और समाज को सर्वथा अभूतपूर्व दृश्य देखने को मिलेगा. दिगंबर मुनि का मन हो गया था परंतु यतिजी ने उनके कान में कहा होगा कि श्वेतांबर महाराज का अभ्यास कम होने से चर्चा टाल रहे हैं। उसी समय पंन्यासजी ने कहा कि, यतिजी! मुझे कितना आता है और कितना नहीं? इसे जानने की अपेक्षा आपके इन ज्ञान भंडार में से आपकी पसंदगी का कोई भी ग्रन्थ मुझे दीजिए और परसो से आप अभ्यास करना चालू करें यदि एक पंक्ति में भी भूल आवे तो मैं दिगम्बर बनने को तैयार हूं अन्यथा आपको श्वेतांबर बनना होगा? सब निरुत्तर रहे और बातें - कोरी बाते ही रह गई। फिर तो हमारे दोनों मुनिओं के एक ही साथ

व्याख्यान हुए जिन्होंने यह दृश्य देखा है, वे आज भी भूलने नहीं पाये।

(२) मध्यप्रदेश के एक व्यापारी क्षेत्र में चातुर्मास में अधिक मास की वजह से खरतरगच्छ के पर्युषण प्रथम श्रावण मास में आये और संघ की विनंती से पंन्यासजी ने कल्पसूत्र व बारसासूत्र का वांचन किया। उस समय भाव नगर से अभयचंद भगवानदास गांधी ने पंन्यासजी के गुरुजी का लिखा हुआ 'पर्युषणा विचार' नामक पुस्तक को लाल-झंडी बतलाने के लिए भेजा। प्रत्युत्तर में पंन्यासजी ने लिखा कि 'मेरे गुरु का पुस्तक केवल चर्चात्मक है, उसमें कल्पसूत्र या बारसासूत्र को दो दफे पढ़ने में पाप या पर्वाधिराज की विराधना होती हो ऐसा भाव इस पुस्तक में नहीं है। क्योंकि कल्पसूत्र में तीर्थंकर परमात्माओं के जीवन चरित्र ही है जिसके पठन-पाठन से संयम पर्यायों की शुद्धि होती है।

(३) वि सं २०१३ शुजालपुर मंडी के चातुर्मास दरम्यिान स्व. मनसुखलाल ताराचंद मेहता भी पर्वाराधन हेतु आये हुए थे। संवच्छरी के पहिले महाराज श्री ने सब साथ मिलकर वार्षिक प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया। और कुछ भी सोचे बिना सब मंजुर हो गये। तपागच्छ, खरतरगच्छ, अंचलगच्छ, तथा एकाद तेरापंथी भाई भी प्रतिक्रमण में एकत्र हुए समय का भोग सबों ने दिया और अपूर्व मजा रह गई।

बम्बई आये मनसुख भाई ने पत्र में लिखा कि—

बम्बई, अमरेली तथा दूसरे शहरों में वार्षिक प्रतिक्रमण खुब किये, परन्तु जो आनन्द, हर्षोल्लास, मैत्री भाव तथा वैरशमन के चित्र आपश्री की हाजरी में शुजालपुर मंडी में

दिखने को मिले वैसा अब तक देखने में नहीं आया जैन पत्रों में ये समाचार देने की आपकी मनाई से आपके आन्तर जीवन की सरलता साफ दिखाई दे रही है। 'ज्ञानस्यफलं' विरतिः इस सूत्र को आपश्री ने चरितार्थ किया है, अतः मेरी भाववन्दना स्वीकार करे।

इससे अतिरिक्त मैत्री भावना कौनसी ?

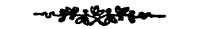
समाज के एकीकरण का प्रस्ताव दूसरा कौनसा ?

अन्त में पंन्यासजी गंभीर, विद्वान होने पर भी उनका प्राकृतिक जीवन मितभाषी रहा हुआ होने से भगवती का का लेखन सफलतापूर्वक कर पाये हैं।

विमलचन्द एन. राका
बोरीवली (वेस्ट)



राणकपुर



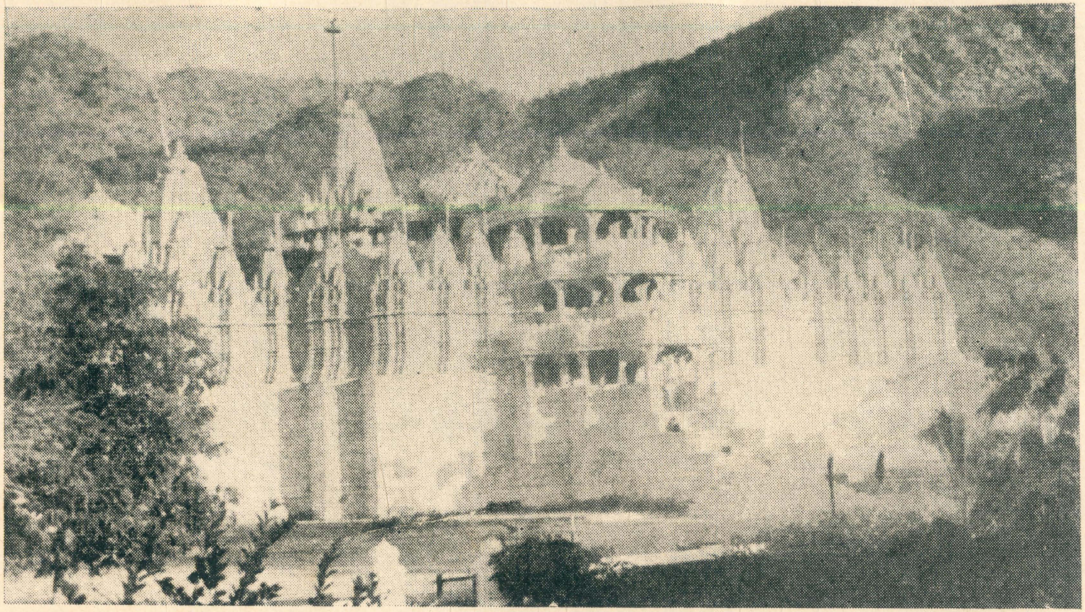
रम्याणि हर्म्याणि जिनेश्वराणां
श्रद्धालवो यत्र वसन्ति लोकाः
मुद्गा, घृतं, दुग्धमया च भूमि,
मरुस्थली सा न कथं प्रशस्या

जिस देश में रमणीय-मनोहर जिनेश्वर देव के मंदिर हैं, जहां श्रद्धालू लोग बसते हैं। जिस भूमि पर धन, घी और दूध पर्याप्त मात्रा में हो, उस मरुभूमि की प्रशंसा क्यों न की जाय!

जरूर यह प्रशंसा राजस्थान के गोड़वाड़ भूभाग के लिए की गई है। इस धरती का संबंध रामायण और महाभारत काल रहा है। शौर्य, त्याग और बलिदान की गाथाओं से गुंजित इस धरती पर रण बांकुरे चौहान, सोलंकी और राठौड़ों के राज रहे हैं। वहीं कई दानवीरों और धर्म प्रेमियों ने इस धरती का शृंगार किया है।

यहाँ जूना खेड़ा, नाड़ोल, नारलाई आदि गाँवों के कण-कण में प्राग-इतिहास मिलता है तो गोड़वाड़ की जैन पंचतीर्थी (वरकाणा, नारलाई, नाड़ोल, मुछाला महावीर और राणकपुर) में उस युग की समृद्धि धर्म और कला के अमूल्य खजानों के दर्शन आज भी हमें चकित कर देते हैं। राणकपुर की शिल्प-कला व वास्तुकला तो जग जाहिर है। देश-विदेश के हजारों

विश्वभर में शिल्पस्थापत्य का बेजोड़ स्थान



राणकपुर जैन महातीर्थ स्टे०—फालना (राजस्थान)

उसकी इष्ट देवी ने वैसा ही नलिनी गुल्म विमान उसे स्वप्न में दिखाकर नक्शा बनाने के लिए प्रेरित किया।

संवत् १४३३ में धरणाशाह ने इस मंदिर की आधारशीला रखी; जिसमें सप्त धातु एवं अनेकों बहुमूल्य वस्तुयें उपयोग में लाई गई। प्रधान शिल्पी दीपा के निर्देशन में सिद्धहस्त शिल्पियों ने ६५ वर्ष तक निरन्तर अथक श्रम करके छेनी और हथौड़ी से मूक संगमरमर (स्थानीय सोनाड़ा का सफेद पत्थर) को कला और भक्ति की रसधारा से ओतप्रोत रुपाकार दिया। लगभग ९० लाख स्वर्ण मुद्राओं के व्यय से निर्मित इस मंदिर की, धरणाशाह की वृद्धावस्था में संवत् १४९८ में आचार्य सोम सुन्दर सूरी जी ने अपने कर-कमलों द्वारा प्राण-प्रतिष्ठा की। मंदिर का शेष काम धरणाशाह के छोटे भाई रत्नाशाह ने पूर्ण करवाया।

संवत् १९७२ में आचार्य देव श्री विजय नेमिसूरीश्वरजी म. सा. के सदुपदेश से श्री आणंदजी कल्याणजी पेढी, अहमदाबाद ने इसका जिर्णोद्धार कराया और संवत् २००९ में श्रीमद् नंदनसूरीजी म. सा० के करकमलों द्वारा फागुन सुद ५ को श्री संघ सादड़ी ने इसकी पुनर्प्रतिष्ठा करवाई। प्रतिष्ठा समारोह में प्रतिदिन लगभग एक लाख लोग उपस्थित रहते थे।

राणकपुर का यह भव्य मंदिर १४४४ खंबों पर टिका, २४ मंडपों व ५४ देव कुलिकाओं से युक्त स्थापत्य और मूर्तिकला का उत्कृष्ट नमूना है। प्रत्येक खंभों पर विभिन्न बेलबुटों व नक्काशी का काम किया हुआ है। मेघमंडपों एवं गवाक्षों में लटकती पाषाण झूमरें और उनमें उत्तकीर्ण पच्चीकारी, दीवारों

यात्री यहाँ बड़ी उमंग से आते हैं और इसे देखकर मंत्र मुग्ध हो जाते हैं।

राजस्थान के पाली जिले में सादड़ी कस्बे से १० कि मी. दूर दक्षिण-पूर्व में मघाई नदी के किनारे प्राकृतिक सुषमा से आच्छादित अरावली पर्वतमालाओं की सुरम्य गोद में बसा राणकपुर का भव्य धावल मंदिर दर्शकों को अपनी कलात्मकता से सम्मोहित करता है।

मध्यकालिन शिल्प वैभव का दर्शनीय व अनूठा यह जैन मंदिर चौमुखा है। ४८ हजार वर्गफिट में बना यह मंदिर तीमंजिला है। जो प्रथम जैन तीर्थंकर श्रीऋषभदेव (आदिनाथ) भगवान को समर्पित है।

इसके निर्माण के संबंध में कहा जाता है कि मेवाड़ के महाराणा कुम्भा के मंत्री श्रेष्ठीवर्य श्री धारणाशाह पोरवाल ने एक रात्रि स्वप्न में देवताओं का नलिनी गूल्म नामक भव्य विमान देखा तो मन में भाव उत्पन्न हुए कि इसी बनावट का मंदिर बनाया जाय। इस संकल्प को पूरा करने के लिए कुल-देवी की आराधना प्रारंभ कर दी। संकल्प के अनुसार उन्होंने आस-पास क्षेत्र के बड़े-बड़े शिल्पियों को आमंत्रित कर स्वप्न में देखे विमान जैसा मंदिर बनाने की बात कहते हुए शिल्पियों को मंदिर का नक्शा बनाकर लाने का कहा किन्तु किसी भी शिल्पी का नक्शा उनके स्वप्नानुसार नहीं बना। अन्त में मुण्डारा ग्राम निवासी दीपा नामक शिल्पी ने धरणाशाह के स्वप्न को रेखांकित कर प्रस्तुत किया जिसे देखकर आश्चर्य चकित धरणाशाह ने मंदिर का निर्माण कार्य दीपा को सौंप दिया। कहते है दीपा अर्द्धसन्यासी था।

एवं मंडपों में विभिन्न देवी-देवताओं एवं नृत्य मुद्राओं में अंकित अप्सराएं शिल्पकला का श्रेष्ठ नमूना प्रस्तुत करती है। इनके अतिरिक्त कल्पतरु, सहस्त्रनाग, नागदमन व तोरणों की आलंकारिक बनावट बहुत चित्ताकर्षक है। मंदिर में किसी भी जगह खड़े रहने पर आमने-सामने और दायें-बायें के दृश्य समान दिखते हैं जो तत्कालिन, वास्तुकला का अद्भूत उदाहरण है।

मूल नायक भगवान ऋषभदेव की नयनाभिराम मूर्ति के दर्शन कर ऐसा लगता है जैसे आज सब कुछ पा लिया हो पूर्ण आत्म संतोष, आत्म शांति, आत्म तृप्ति!

मंदिर के अप्रतिम सौंदर्य की भव्यता एवं विशालता में शिल्पकारों ने अपने बुद्धि-चातुर्य, कला-कौशल, श्रम एवं दक्षता से अनोखी सौंदर्य राशि बिखेर दी है।

यहाँ का सम्पूर्ण सौंदर्य दर्प में उद्धत नहीं, अर्चना में विनीत है। जो उदार सेठ धरणाशाह की श्रद्धा एवं दीपा शिल्पी की एकाग्र साधना का परिचय दे रहा है।

मुख्य मंदिर के पास ही अभूतपूर्व कलात्मक दो मंदिर है। एक भगवान पार्श्वनाथ का व दूसरा भगवान नेमिनाथ का। यहीं राणा कुम्भा द्वारा निर्मित सूर्य मंदिर भी है।

मंदिरों के साथ ही यात्रियों के ठहरने के लिए समुचित-सुविधायुक्त अनेकों धर्मशालाएं है एवं एक भोजनशाला भी है। जो सेठ आणंदजी कल्याणजी की व्यवस्था में सुचारु रूप से चल रही है।

राणकपुर राजस्थान में दिल्ली अहमदाबाद पश्चिमी रेलवे लाइन के फालना स्टेशन से ३० कि. मी. दूर तथा सड़क मार्ग द्वारा आबू से १८० कि मी , उदयपुर से ३० कि. मी. व जोधपुर से १७० कि मी दूरी पर स्थित है। इन सभी स्थानों से राणकपुर के लिए सीधी बस सेवाएं एवं टैक्सियाँ उपलब्ध है।

राणकपुर के लिए गुजराती में एक कहावत प्रसिद्ध है—

आबूजी नी कोरणी, अने राणकपुर नी मांडणी,
तारंगा नी ऊंचाई, अने शत्रुंजय नी महिमा,
रुखी-सूखी खा जो, पर राणकपुर जा जो।

सादड़ी

राणकपुर के सबसे समीप कस्बा है-सादड़ी।

सादड़ी जो राणकपुर व परशुराम महादेव (सादड़ी से ११ कि मी. दूर अरावली पर्वत श्रेणी में समुद्र तल से २७५५ फूट ऊपर स्थित सुरम्य प्राकृतिक गुफा मंदिर) के दर्शनार्थ आनेवाले हजारों साधु-सन्यासियों, महात्माओं, तीर्थ-यात्रियों व सैलानियों की चरण-रज से गौरांवित होता रहा है।

लगभग २० हजार की आबादीवाला यह कस्बा ८६ वर्ग कि मी में फैला हुआ है। सादड़ी के साहूकार पूरे देश में अपनी ईमानदारी व उदारता के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। यहाँ के व्यापारी देश के कोने-कोने में फैले हुए हैं। सादड़ी के दान-

दाताओं ने देश के चहुमुखी विकास में मुक्त हस्त से अपना अमूल्य सहयोग दिया है। धार्मिक, सामाजिक, आयोजनों के अतिरिक्त शिक्षा, चिकित्सा उद्योग आदि में भी अपना सक्रिय योगदान देकर यहाँ के निवासियों ने इस भूमि को गौरांन्वित किया है।

१२ वीं शताब्दी से पूर्व यहाँ मात्र एक बड़ा रमणीय तालाब था--राणेश्वर तालाब। और थीं कुछ आदिवासी बस्ती। मुख्य बस्ती का प्रारम्भ बाड़मेर से यहाँ आए कुछ ब्राह्मण परिवारों से हुआ। साथ ही ओसियाँ से आए जैन परिवारों से इसका विस्तार हुआ। ब्राह्मण परिवारों के मोहल्ले थे -पुरोहितों का वास, गरासिया वास, माइला वास, गोरों का वास आदि। और जैनियों के मोहल्ले थे--मुत्थों का वास, पंडिया वास, बड़ा वास, खेलाजी वास, कावेडिया वास। जो आज भी मौजूद है। यह बस्ती तालाब के किनारे-किनारे बसी थी। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों राणेश्वर तालाब का पानी सूखता गया त्यों-त्यों तालाब में भी बस्ती बनने लगी।

ये लोग बहुत ही समृद्ध और धनवान थे। कहते हैं इनके घरों में पशुओं को भी सोने की जंजीर से बांधते थे। इनका मुख्य व्यवसाय पैसों का लेन-देन था। ये लोग जबान के पक्के व इज्जतदार थे। तभी तो यहाँ के लोग 'सादड़ी के साहूकार' नाम से प्रसिद्ध रहे हैं।

जैनियों ने यहाँ आकर श्री चिन्तामणी पार्श्वनाथ भगवान का एक भव्य कलात्मक मंदिर बनवाया। ९०० वर्ष प्राचीन यह जिनालय आज भी नगर के मध्य अपनी धर्म पताका फहरा रहा है। १६ वीं शताब्दी में महाराणा सांगा ने भी

इस रमणीय गाँव में भगवान लक्ष्मीनारायणजी के मंदिर की नींव भरवाई थी जो आज भी मुख्य बाजार में वोराजी के मंदिर से प्रसिद्ध है।

जैनियों का सबसे प्राचीन धर्म स्थान था-पनजी की पोशाळ। जहां अब रांका गौत्रीय अम्बिका देवी का जैन मंदिर है। और दूसरा था एक उपाश्रय जो अब गोखरों के वास में 'श्री महावीर जैन स्थानक' के नाम से जाना जाता है।

समृद्ध बस्ती के साथ अन्य जाती के लोग भी यहाँ आकर बसने लगे। जिनमें मेघवालों का बड़ा वास, खटिकों का वास, छीपों का वास आदि थे। धीरे-धीरे सुकड़ी नदी के दूसरे किनारे पर भी किसान जातियाँ-जाट, घाँची, कुम्हार आदि आकर बसे। यह बस्ती अब बारली सादड़ी के नाम से जानी जाती है।

सुरक्षा की दृष्टि से सादड़ी गाँव इस प्रकार बसाया गया था कि हर मोहल्ले के मुख्य द्वार पर बड़ा भारी दरवाजा होता। यहाँ तक कि गाँव के बाहर आने-जाने के रास्ते भी भारी दरवाजों से सुरक्षित रहते थे। जहाँ हर समय पहरा रहता था। कोई भी बाहरी संदेहाग्पद व्यक्ति गाँव में प्रवेश नहीं कर पाता था। रात को ये सारे दरवाजे बंद हो जाया करते थे। कहते हैं कड़ी सुरक्षा के कारण ही आज तक सादड़ी को सामुहिक रुप से नहीं लूटा गया जबकि आस-पास के गाँव कई बार लूटे गये।

कहते हैं विपदा के दिनों में महाराणा प्रताप ने दानवीर सेठ भामाशाह से यहीं सम्पर्क किया था। भामाशाह के भाई

श्री ताराचंदजी कावेडिया सादड़ी के कामदार थे। उनकी बावड़ी और उसके वंशज आज भी कावेडिया वास में निवास करते हैं।

सादड़ी के लोग बड़े पुण्यशाली, लक्ष्मीवंत व्यापारी थे। साथ ही यशस्वी और दानवीर भी थे। इनका संपर्क बड़े-बड़े राजघरानों से भी रहा।

सादड़ी और उसके आस-पास का ३६० गाँवों का संपूर्ण गोड़वाड़ का क्षेत्र मेवाड़ के अधीन था। १७ वीं शताब्दी में महाराणा राजसिंहजी के शासनकाल में जोधपुर के राजा विजयसिंहजी की पत्नि महारानी झाली जिसे राणा ने अपनी धर्म बेटी बनाकर रखा था, विदाई के समय सम्पूर्ण गोड़वाड़ क्षेत्र दहेज में दे दिया। ३६० गांवों के गोड़वाड़ क्षेत्र में सादड़ी सबसे सुन्दर व बड़ा गाँव था। महारानी झाली ने अपना निवास स्थान सादड़ी में बनवाया और अन्त काल तक यहीं रही। भूतपिपली के पास रावला में बने शिल्पकला से निखारे गए महल-मालिए व मंदिर और छत्री आज भी उनको याद दिलाते हैं। राणकपुर मार्ग पर जोधपुर के राजा मानसिंहजी द्वारा बनाया गया महारानी बाग आज भी उनकी निजी संपत्ति है।

सादड़ी गांव की चारों दिशाओं में चार बावड़ियाँ व चार देवी मंदिर बनाए गए थे पूर्व में-कालका माता का मंदिर पश्चिम में-वाकल माता का मंदिर, उत्तर में-शितला माता का मंदिर, दक्षिण में-रोहिल माता का मंदिर। ये मंदिर आज भी मौजूद है।

सादड़ी की सुरक्षा के लिए सिंदप राजपूतों को चौकीदारी के लिए नियुक्त किया गया था। मोकाजी और जुजारजी

नामक स्थान आज भी वीर मोकम सिंहजी की याद दिलाते हैं। कहते हैं–डाकुओं से लड़ते-लड़ते जहाँ उनका सिर कट कर पड़ा वह स्थान मोकाजी व जहाँ धड़ कट कर पड़ा वह स्थान जुजारजी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पहले यहाँ एक बड़ी बावड़ी थी।, आज यहाँ बंदोरिया वास है।

बावरी जाती के लोग जो डकैती किया करते थे, जोधपुर के राजा सर प्रतापसिंहजी ने इन्हें सादड़ी में बसा कर खेती-मजदूरी में लगाया। इनकी बस्ती प्रतापगढ़ के नाम से जानी जाती है।

सादड़ी में ज्यों-ज्यों बस्ती बढ़ने लगी त्यों-त्यों खेती की जमीनें आबादी में बदलती गई। पाटिया, जवारियों का वास, न्यू-आबादी, और अब तो अम्बेडकर नगर, झेलों की आबादी, चौहान कालोनी, भट्टा नगर, राणकपुर व परशुराम महादेव रोड पर बस्तियाँ लगातार बढ़ती जा रही है। पिछले २५ वर्षों से यहाँ नगरपालिका है।

आज यहाँ बस स्टेण्ड पर बना मंगल कलश आने वाले यात्रियों का स्वागत करता नजर आता है। पास में ही आजाद मैदान में खुला रंग मंच शोभा दे रहा है। मैदान की दूसरी ओर दो विशाल चिकित्सालय है—एक पुरुषों के लिए और दूसरा महिलाओं के लिए। इनके अतिरिक्त नगर में एक आयुर्वेदिक चिकित्सालय व एक पशु चिकित्सालय है। अस्पतालों के पीछे ही श्री लोकाशाह जैन गुरूकूल (छात्रावास) है। एक और जैन छात्रावास-श्री आत्मानन्द जैन छात्रावास जो सर्वप्रथम विद्यालय था, आखरीया में स्थित है। दो अन्य सरकारी छात्रावास भी है। यहाँ कुल १५ स्कूले हैं, जिन में

एक लड़कों की उच्च माध्यमिक, एक लड़कियों की माध्यमिक ३ उच्च प्राथमिक व १० प्राथमिक पाठशालाएं हैं।

यहाँ P.W.D. के विश्रांती गृह के अतिरिक्त तीन धर्मशालाएँ हैं। यहाँ अनेकों मंदिर, मस्जिद, मठ आदि भी है। सभी जाती-धर्म के लोग यहाँ आपस में मिलजुल कर रहते हैं। यहाँ के लगभग सभी सार्वजनिक स्थान स्थानीय दानदाताओं द्वारा बनाकर सरकार को सौंपे गये हैं। यहाँ तक कि स्थानीय पुलिस थाना भी दानदाताओं द्वारा बनाया गया है।

यहाँ अनेक स्वयंसेवी संस्थाएं है जिनमें श्री आत्मवल्लभ जैन सेवा मंडल लायन्स क्लब प्रमुख है। अन्य है जेसीस, खेतलाजी मण्डल व यंग क्लब।

सादड़ी की २० हजार की आबादी में से लगभग ४ हजार की आबादी जैन समाज की है। जहां अनेकों जैन मंदिर है, जिनमें सबसे प्राचीन है १२ वीं शताब्दी निर्मित श्री चिन्तामणी पार्श्वनाथ भगवान का शिखर बंद मंदिर। जिसमें मूल नायक जी की प्राचीन, बादामी रंग की मूर्ति बड़ी मनमोहक है। यह बड़ा मंदिर कहलाता है। इसके अतिरिक्त श्री शांतिनाथ भगवान का मंदिर-बड़ा उपाश्रय के पास, श्री चन्द्रप्रभु का मंदिर–बारली धर्मशाला में, श्री आदिनाथ भगवान के तीन मंदिर–विद्यशाला में, श्री महावीर स्वामी का मंदिर–(पावापुरी)- नाईवाड़ा, श्री महावीर मंदिर (कांच का मंदिर) न्यू आबादी में, आदि मुख्य मंदिर है। निकटवर्ती गाँव मादा राजपूरा के प्राचीन मंदिर व राणकपुर मार्ग पर श्री केशरिया जी का मंदिर भी सादड़ी संघ द्वारा संभाले जाते हैं। वहाँ कोई जैन बस्ती नहीं है।

यहाँ साधु भगवन्तों के ठहरने हेतु अनेकों उपाश्रय हैं। जिनमें श्री न्यातीनोहरा उपाश्रय विशाल है। यहाँ आयम्बिल शाला भी है। इसी न्यातीनोहरे में श्री संघ स्वामीवात्सल्य होते हैं। इसके अतिरिक्त बड़ा उपाश्रय, पाटियों का उपाश्रय के अलावा साध्वीजी म के ठहरने के लिए ग्यारह उपाश्रय है।

स्थानकवासी जैन समाज का गोखरों के वास में 'महावीर भवन' नामक विशाल उपाश्रय है। साथ ही चन्दनबाला जैन उपाश्रय के अतिरिक्त भूतपिपली के पास दो उपाश्रय व एक न्यातीनोहरा है। इसी तरह पाटियों में एक पोरवालों का न्यातीनोहरा भी है। जैन यात्रियों के लिए दो धर्मशालाएं एवं एक भोजनशाला भी है।

जैनो की इतनी बड़ी बस्ती होते हुए भी यहाँ आपस में किसी प्रकार के विवाद नहीं है। ओसवाल, पोरवाल, स्थानकवासी सभी एक साथ मिलकर प्रेम से रहते हैं और सभी कामों में समान रूप से योगदान देते हैं।

सादड़ी की पवित्र भूमि ने देश को साधु रत्न भी दिये हैं। जिनमें स्वर्गीय आचार्य श्री पूर्णानन्द सूरीश्वरजी म., श्री न्यायसूरीजी म., श्री हींकारसूरीजी म. व श्री पूर्णानन्द विजयजी गणी- (कुमार श्रमण) है। इसी प्रकार कई साध्वी गण, धर्मप्रेमी, श्रद्धालू, तपस्वी, विद्वान, समाज सुधारक, दानी यहाँ के समाज में विद्यमान है।

यहाँ जैन समाज के कई सेवा मण्डल भी हैं। जिनमें श्री आत्मवल्लभ जैन सेवा मण्डल प्रमुख है। अन्य है—श्री लोकाशाह जैन मण्डल व तीन महिला मण्डल।

प्रवासी राजस्थानियों में भी सादड़ी जैन समाज सर्वाधिक रुची लेता है। अनेकों धार्मिक, सामाजिक व सार्वजनिक निर्माण कार्यों से लेकर सर्वजन हिताय के प्रत्येक कामों में स्वतंत्ररुप से व अनेकों राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में भी प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

जैन समाज ने देश को समृद्ध व्यापार के साथ अच्छे डॉक्टर, इंजिनियर व शिक्षाविद् दिए हैं जो विदेशों में भी अपनी योग्यता का परिचय दे रहे हैं।

अहिंसा का पाठ जिन्होंने माँ की कोख में सीखा है- इनकी विशेषता है कि ये हिंसक प्रवृत्तियों में कहीं भी भाग नहीं लेते। इसी कारण जैन समाज का सर्वत्र सम्मान है।

उक्त संपूर्ण लेख के लिए मुझे ऐतिहासिक पुस्तकों व जैन साहित्य के अतिरिक्त श्री हस्तीमलजी कोठारी, श्री बंशीलाल जी जैसानी, स्वर्गीय कपूर भाई पुजारी एवं अनेक जानकार लोगों से महत्वपूर्ण सामग्री मिली है। सबका मैं आभारी हूं।

लेख के अतिरिक्त भी अनेक सामग्री मेरे संकलन में छुट गई होगी। कृपया विद्वान पाठक मुझे अन्य महत्वपूर्ण जानकारी से अवगत कराने का कष्ट करें। ताकि भविष्य में कहीं भी उसका समुचित उपयोग किया जा सकेगा।

बहुत विस्तृत सामग्री को मैंने संक्षिप्त रुप में लिखकर यहाँ प्रस्तुत किया है, त्रटी के लिए क्षमा याचना।

५ अगस्त ८६

कांति रांका



सादड़ी का सौभाग्य है कि यहाँ हर चातुर्मास में आचार्य भगवंतों या साधु-मुनिराजों का पदार्पण होता ही है।

निम्नलिखित उल्लेखनीय चातुर्मास आज भी याद किये जाते हैं।

१. स्वर्गीय विजयधर्मसूरीश्वरजी म सा. वि. सं. १९५५ (काशीवाला)
२. ,, विजय नेमीसूरीश्वरजी ,, ,, १९७२
३. ,, विजय वल्लभसूरीश्वरजी ,, ,, १९७५,१९८९,२००५
४ ,, सागरानन्दसूरीश्वरजी म. सा. १९८२
५. ,, ज्ञानसुन्दरजी म. सा. उपकेश गच्छ
६ ,, लब्धीसूरीश्वरजी म. सा. १९९२
७. ,, ललितसूरीश्वरजी म. सा. १९९४
८. ,, नीतिसूरीश्वरजी म सा. १९९७
९. ,, विजय उदयसूरीजी म.सा. व नन्दनसूरी म. सा. २००९
१०. ,, समुद्रसूरीजी म सा. १९९५
११. ,, कैलाश सागर सूरीश्वरजी म सा. २०११
१२ श्री विजय रामसूरीश्वरजी डेलावाला म.सा; २०१६
१३ श्री विजय रामचन्द्र सूरीश्वरजी म. सा. २०१६
१४ स्वर्गीय पूर्णानन्द सूरीश्वरजी म. सा. २०१८
१५. श्री विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. २०२०
१६. श्री पंन्यासजी श्री पूर्णानन्द विजयजी म. सा. (कुमार श्रमण) (इस ग्रन्थ के लेखक) २०२२
१७. श्री विजय दत्तसूरीजी म. सा. २०२३
१८ स्वर्गीय विकासचन्द्र सूरीश्वरजी म. सा. २०३०,२०३१
१९. श्री इन्द्रदिन्न सूरीश्वरजी म सा. २०३७

भगवतीसूत्र सार-संग्रह : भाग चौथा की

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
पूर्वभूमिका	१
पूर्वभूमिका	१०
नरक गति में जीवों की विचारणा	१६
असुर कुमारादिदेवों में जन्म लेने वाला कौन ?	१८
पृथ्वीकाय में जन्म लेनेवाला कौन ?	२०
अप्काय तेजस्काय वायुकाय में उत्पाद	२१
वनस्पति बेइन्द्रिय पंचेन्द्रिय मनुष्य में उत्पाद	२२–२३
उपक्रम	२६
यज्ञ किसे कहते हैं ?	३०
हे प्रभो ! लेश्या कितनी कही गयी है ?	३३
जीवों के भेद कितने ?	३४
जैन शासन में जीवों केलक्षण	३९
एक समयोत्पन्न नारक क्या समयोगी है ?	४१
द्रव्य कितने हैं ? उसके भेद कितने हैं ?	४६
जीवद्रव्य के परिभोग में अजीव क्या शीघ्र आते हैं ?	४७
असंख्यात लोकाकाश में अनन्त द्रव्य रह सकते हैं ?	४८
संस्थान कितने प्रकार के में ?	५१

विषय	पृष्ठ
श्रेणिओं के प्रकार कितने हैं ?	५३
हे प्रभो गणपिटक कितने प्रकार से कहा गया है ?	५६
युग्म कितने हैं ?	६०
जीव और अजीव के पर्याय कितने हैं ?	६२
हे प्रभो आवलिका में समय की मर्यादा कितनी कही है।	६४
निगोद कितने प्रकार से है ?	६६
निर्ग्रन्थ कौन है, और उसके कितने प्रकार है ?	६८
चारित्र मोहनीय की भयानकता	६८
चारित्र मोह की नाटक लीला	७०
पुलाकादि मुनिओं की विस्तृत चर्चा	७२ से १०२ तक
पुलाक-बकुश कुशिल निर्ग्रन्थ स्नातक	
आदि मुनिओं की ३६ प्रकार से विस्तृत व्याख्या है।	
संयतों की व्याख्या	१०५
सामायिक संयत	१०५
आत्मा का धर्म कौनसा है ?	१०५
छेदोपस्थानीय तथा परिहार विशुद्धचारित्र	१०८
सूक्ष्म संपराय तथा यथाख्यात चारित्र	१०९ से ११७
३६ प्रकार से संयतों की विशद व्याख्या	
संयतों की प्रति सेवनादि विराधनादि	११७
प्रतिसेवना विराधना के कितने प्रकार कहे हैं ?	११८-१२४
दर्प, प्रमाद, अनाभोग, आतुर, आपत्, संकीर्णता	
आकस्मिक, भय, क्रोध तथा विमर्श ये दस प्रकार की	
विराधना की विस्तृत चर्चा	
आलोचना के समय दस दोषों की सेवना	१२४
सच्ची आलोचना कौन कर सकता है ?	१२७

विषय	पृष्ठ
आलोचना देनेवाले गुरु कैसे होने चाहिये ? साधु समाचारी कितने प्रकार से कही है ?	१२७
प्रायश्चित के कितने प्रकार है	१४५-१५४
तप के मूल तथा अवान्तर भेद	१५५-१७७
ध्यान आभ्यन्तर	१७७
आर्तध्यान के चार भेद	१७७
रौद्रध्यान	१८१
मानवावतार में राक्षस होंगे क्या ?	१८६
रावण कौन था ?	१८७
तब राक्षस कौन ?	१८८
वेद को जैन क्यों नहीं मानते ?	१९९
रौद्रध्यान किस तरह पहचाना जाता है ?	१९२
धर्मध्यान	१९४
धर्मध्यान के लक्षण कितने है ?	२०४
धर्मध्यान का आलंबन क्या है ?	२०८
धर्म की अनुप्रेक्षा कितनी है ?	२०९
तीनों ध्यानों में मालिक कौन-कौन ?	२१२
आर्तध्यान के मालिक कौन ?	२१३
रौद्रध्यान के मालिक कौन ?	२१५
धर्मध्यान के मालिक कौन ?	२१६
शुक्लध्यान की दुर्लभता किसलिए ?	२१७
शुक्लध्यान के भेद कितने ?	२१८
चार भेदों का तात्पर्यार्थ	२१९-२२५
व्युत्सर्गनाम आभ्यंतर तप यानि क्या ?	२२५
नारक नरकगति में कैसे उत्पन्न होते हैं ?	२२७
जीवों का गत्यन्तर कैसे होता है ?	२२८

विषय	पृष्ठ
प्रारभ्यते ११ द्वारों से तीनों काल में कर्मों के बंधक कौन ?	२३४
अनंतरोपन्न जीवों के लिए	२४१
अनंतरावगाढ़ और परंपरावगाढ़ जीवों के लिए	२४१
चरम और अचरम जीवों के लिए	२४२
अनंताहारक परंपराहारक अनंतर पर्याप्तकादि के लिए	२४२
शतक २७ वाँ	२४४
जीवों ने कौनसी गति में पापकर्म का उपार्जन किया था।	२४५
प्रश्नोत्तर की पूर्व भूमिका	२४९
शतक का उपक्रम	२५० से २७२
(इसमें क्रियावादी तथा अक्रियावादी अज्ञानवादी वैनयिक आदि ३६३ मतमतांतरों का विशद तथा विस्तृत वर्णन है।)	
जीव क्या क्रिया आदि को मानते हैं ?	२७३
प्रस्तुत प्रश्नोत्तर की पश्चात् भूमिका	२८०
जैन शासन की दृष्टि से द्रव्यों की वक्तव्यता	२८९
(एकान्त नित्य की दूषणता)	
एकान्त अनित्य में दूषण	२९५
देवाधिदेव का अन्तिम उद्बोधन	३००
क्षुद्रकृत युग्मादि प्रकार से नारकों का वर्णन	३०५
जीवों के लिए नरकभूमि नियत क्यों।	३०९
परिणाम ही कर्मबंधन में वैचित्र्य लानेवाले है	३११
तो फिर स्त्री को मोक्ष कैसे मिलेगा।	३१६
एकेन्द्रिय जीवों के भेदानुभेद	३२५ से ३४०
(निक्षेपादि नव द्वारों से व्याख्या है)	
अपकाय की वक्तव्यता	३४१

विषय	पृष्ठ
तेजस्काय की वक्तव्यता	३४१
वायुकाय की वक्तव्यता	३४२
वनस्पतिकायिकों की वक्तव्यता	३४३
पांच स्थावरों का मनुष्य जाति पर उपकार	३४४
अब हम वनस्पति के उपकार को देख ले	३४५
तब वनस्पति का उपभोग कैसे करेंगे।	३४६
उपक्रम	३५०
छद्मस्थ यानि क्या।	३५१
चार अतिशय मूल के	३५५ से ३६४
(अतिशयों के चर्चा पठनीय है)	
जीवों का स्थलांतर कैसे होगा।	३६७
पृथ्वीकायिकों तथा अप्कायिकों की वक्तव्यता	३६९
अग्निकायिक की वक्तव्यता	३७०
वायु तथा वनस्पति कायिकों की वक्तव्यता	३७१
पृथ्वीकायिक आदि जीवों के स्थान कहाँ।	३७७
अप्कायिक जीवों के स्वस्थान	३८०
अग्निकायिकों के स्वस्थान	३८२
वायु तथा वनस्पतिकायिकों के स्वस्थान	३८३
एकेन्द्रियों को कर्म प्रकृतियाँ कितनी होती है।	३८३
एकेन्द्रिय जीव कितनी कर्म प्रकृतिओं को बांधते हैं।	३८४
संयम और असंयम यानि क्या।	३८५
कौन-कौन सी गति के जीव एकेन्द्रिय प्राप्त करते हैं	३९३
एकेन्द्रिय जीवों को समुद्घात कितने।	३९३
एकेन्द्रियों को कर्म बंधन की विशेष वक्तव्यता	३९३
अनन्तरोपपन्नक एकेन्द्रियों की वक्तव्यता	३९६

विषय	पृष्ठ
परंपरोपपन्नक एकेन्द्रियो की वक्तव्यता	३९७
पृथ्वीकायिको की वक्तव्यता	४००
अनन्तरोपपन्नक एकेन्द्रिय की वक्तव्यता	४०५
दो इन्द्रिय जीवों की राशिक्रम से वक्तव्यता	४०८
दो जीवों की राशिक्रम से रक्तव्यता	४११
चार इन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रियो की वक्तव्यता (स्वतंत्र अहिंसक भारत देश में अगणित जीवों की हत्या की मीमांसा)	४१४ से ४२३
असंज्ञी यानि क्या।	४२३
कृतयुग्म कृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रियों की वक्तव्यता	४२८
दीर्घ कालि की संज्ञा	४२९
दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा	४३०
पंचेन्द्रिय जीव क्या कर्मों के बंधक है।	४३०
आत्मा का कुटुंब परिवार कौन सा ?	४५०
सम्यग्दृष्टि आत्मा का परिवार	४५१
मिथ्यात्वी आत्मा का परिवार	४५३
इन जीवों को कितने प्रकार के योग कहे गये हैं	४५८
संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव विरत अविरत और विरताविरत होते हैं ?	४६०
यह जीव आहारादि संज्ञा के उपयोग वाले हैं ?	४६१
पुरुष वेदकर्म बांधने का कर्म	४६३
स्त्रीवेद कर्म बांधने के लक्षण	४६६
नपुंसकवेद कर्म बांधने के लक्षण	४७०
साम्यकृत्व का जबरदस्त प्रभाव	४७४
राशि युग्मों की चर्चा	४८८

विषय	पृष्ठ
कितनी संख्या में जीव नरक में जाते हैं ?	४८६
उत्पत्ति में अविरत क्यों ?	४९१
अविरत जीव लेश्यावाले होते हैं ?	४९६
शतक की पश्चाद् भूमिका और गौतमस्वामी का अंतेवासित्व	४९८
भगवती सूत्र में शतकों की संख्या कितनी ?	५०८
प्रस्तुत ग्रन्थ में पदों की संख्या कितनी ?	५०९
गौतमस्वामी जी	५१३
व्याख्या प्रज्ञप्ति यानि ?	५२१
द्वादश गणि पीटक को नमस्कार	५२५
श्रुतदेवी मेरे मतिज्ञान को नाश करनेवालो हो	५३०
योगोद्‌हन के लिए अन्तेवासित्व जरूरी है ?	५३८
प्रशस्ति	५४३
अभिप्राय आदि	५४४



卐 शुद्धिपत्र 卐

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
लेश्या	लेश्याओं	३४	१९
तडन	ताडन	३६	१५
पर्याप्त को	पर्याप्तकों	३८	२७
मिष्ठान	मिष्टान्न	४१	१७
याचिक	वाचिक	४४	९
मनोग	मनोयोग	४५	१५
कराय गय	कराये गये	५७	९
यात	यावत्	६१	२
जीवस्ति	जीवास्ति	६१	६
कृतयग्म	कृतयुग्म	६१	६
होनाधिकता	हीनाधीकता	६२	१९
गथ	हाथ	६३	४
ही न	हीन	६३	९
ही न	हीन	६३	१५
ही न	हीन	६३	२२
ही न	हीन	६३	२६
अवगहन	अवगाहना	६४	२
पहमांग	पद्मांग	६४	१४

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
इइकांग	हूहूकांग	६४	४
पाना	जाना	६६	१४
कितना	जितना	६९	२५
सता	सत्ता	६९	२६
व्रजा	व्रज	७०	१४
वेडनीय	वेदनीय	७१	२०
शक्ति	शोक	७१	२२
मुनिधर्म से साधक	मुनिधर्म के साधक मुनिराज	७२	८
संज्ञा	संज्ञा	७२	१८
उपकणरम्	उपकरणम्	७४	२३
ग्रन्थ	निर्ग्रन्थ	७५	१५
ही	दी	७६	१३
जरीय	जरीयं	८०	१७
यथाख्यान	यथाख्यात	८२	८
ओर	आरे	१४	६
लेकिग	लेकिन	८५	१४
अर	और	८७	१०
अपेक्षा	की अपेक्षा	८६	२५
तथात	तथा	९०	२१
उपशय	उपशम	६२	१६
गुणस्थापक	गुणस्थानक	६२	१७
देवविरति	देशविरति	९६	२३
में रहित से	रहित होने से	६७	१५
हास्यपद	हास्यास्पद	६६	२

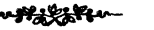
अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
अभिषा	अभिलाषा	९९	७
प्रवृत्रि	प्रवृति	९९	११
शिथल	शियल	९९	२५
अस्तरित	अन्तरित	१००	१०
पशयिक	पशमिक	१०२	९
विचारखा	विचारणा	१०४	२२
अपतिसेवक	अप्रतिसेवक	११०	२२
स्नातकवसा	स्नातकवत्	११२	२१
संयत स्वभाव	संयत, तथा स्वभाव	११३	१
उपयोग वाले	अनाकार उपयोगवाले	११३	२
अनुरीदक	अनुहीरक	११३	२३
संयता	संयतों	११७	६
आत्मा को	आत्मा की	११७	१९
जानकारी की	जानकारी, अथवा	११७	२२
शाणगार	शणगार	१२०	५
पापी	पाप	१२७	१४
स आह	से आह	१२८	१८
ले जायेगी	न ले जायेगी	१४८	१४
मक्त	भक्त	१५५	२४
कामयोग	काययोग	१६२	८
उपेज्ञा	उपेक्षा	१६४	२३
अमूत	अमूर्त	१६६	१९
भेद हुए। इस प्रस	०	१६८	१२
सावध	सावद्य	१७१	१३
उसका	उसका मन	१७३	१९

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
होंचे !	होंगे	१७५	१६
स्धैर्य	स्थैर्य	१७५	१७
तया	तथा	१७६	१७
द्रव्यादि	मौजुद है।	१७८	१३
दर्शनाछुद्	दर्शनाद्यु द्	१८२	४
से में	में से	१८५	१३
विधा	विद्या	१८७	७
पशुओं को	पशुओं की	१९०	२६
गृहस्थाश्रल	गृहस्थाश्रम	१९२	९
फसाद	फिसाद	१९४	८
लैकिक	लौकिक	१९४	२३
में	में से	१९५	२४
चढ़ गया	चढ़े गये	१९९	७
हाल	हालत	२०२	२२
कम	कर्म	२०७	२१
धर्म ध्यान	धर्म ध्यान भी	२१७	१३
क्षयक	क्षपक	२३७	२६
अनंत आरारक	अनंत आहारक	२४३	४
उद्देशक-१	उद्देशक-२-११	२४३	१८
अज्ञान को	अज्ञान के	२४९	११
परोज्ञ	परोक्ष	२५७	५
होने के	होने से	२५८	१०
विसंवायितता	विसंवादिता	२६१	२१
दीर्घत्व को	दीर्घत्व की।	२६३	२०
ट्रस्वत्व की	दीर्घत्व को	२६३	२०

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ट	पंक्ति
ट्रस्वत्व को	ट्रस्वत्व की	२६३	२१
होती	होता	२६५	२२
सत्त	सत्	२९८	१८
विशष	विशेष	३०१	८
मनमतान्तर	मतमतान्तर	३०३	३
कल्पोज	कल्योज	३०५	११
व्योज	योज	३०९	१४
से	०	३०९	२१
ग्रहस्थनां	गृहस्थानां	३१९	१५
देशकुल	देवकुल	३३४	२४
वनस्पति का उपभोग कैसे करेंगे ?	वनस्पति कायिकों की वक्तव्यता	३४३	१०
आशक्त	अशक्त	३४६	२५
करना	प्रयत्न करना	३४७	१५
विरोध	निरोध	३४९	६
अगति	आगति	३५०	११
चक्षुदर्शन	चक्षुदर्शन ।	३५१	५
क्षद्मस्थ	छद्मस्थ	३५१	१०
तगडी	चमडी	३५५	११
बान्टी	बाल्टी	३१५	११
आँच	आँख	३१६	११
परमात्माय	परमात्मतत्व	३११	१०
धाड़े	धोड़ो	३८८	१८
होता है	होता नही है	३९०	२४

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
त्र्योजत्रदुग्म	त्रयोजकृतदुग्म	४००	१३
कल्पोजत्र्योज	कल्योजकृतयुग्म	४००	१३
होती है	होते है	४०४	४
ष्उत्कृट	उत्कृष्ट	४१३	१९
३४	३९	४२१	१९
चोवीसदं को	चौवीसदंड को	४२८	६
जीवों	जीवों से	४२८	१२
दीर्घकालि की	दीर्घकालिकी	४२८	२२
अनिवृभिकरण	अनिवृतिकरण	४३०	१२
आत्मा को	आत्मा के	४३२	१८
सभक्ति	सम्यग्	४५१	६
उसका	मेरा	४५१	१०
क्लग	क्लब	४५४	१८
कोट	कोर्ट	४५५	१
सृष्टि	सृष्टि का	४५६	९
स्पष्ट	अस्पष्ट	४५९	१९
समोचर	समाप्त	४७०	१७
बदलकर	बतलाकर	५२६	२२
मतिज्ञान के	मतिज्ञान को	५३०	१
बढ़ा सा	बढ़ा हुआ	५४०	५

—: द्रव्य सहायक :—



५००१) परम पूज्य आचार्य श्री हीमाचल सुरीश्वरजी म. सा. की आज्ञाव्रती शिष्या साध्वीजी श्री शान्ति श्री जी म. सा. एवं गुणरत्न श्री जी म. सा. के उपदेश से बहनों का नया उपाश्रय देरो बास के ज्ञानखाते में से भेंट।

२५०१) श्रीमती तख्तो बेन पुखराज जी बाफना

१००१) शा. जाँवतराजजी नथमलजी रांका

१००१) ,, लक्ष्मीचन्दजी चान्दमल जी भंडारी

१००१) ,, रिखबचंदजी जीवराजजी बंबोली

१००१) ,, कुन्दनमलजी बालचंदजी तलेसरा

१००१) ,, विमलचंदजी करमचंदजी रांका

१००१) ,, शांतीलाल जी मांगीलाल जी चंडालिया

१००१) ,, मदनलाल जी मीठालाल जी धोका

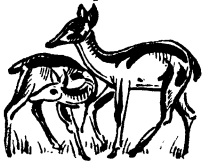
१००१) ,, वस्तीमलजी सागरमल जी पुनमियाँ

१००१) ,, रमेश कुमारजी कून्दनमल जी धोका

१००१) ,, पुखराजजी शीवराजजी मेहता

१००१) ,, फुलचन्दजी फोजमल जी

१००१) शॉ हरकचंदजी शेषमल जी राठोड़
१००१) ,, नगीनचंद्रजी पुखराजजी रांका
१००१) ,, चून्नीलालजी हीराचंदजी बाफना पेठावाला
१००१) ,, दौलतरामजी वनाजी राठोड पेठावाला
१००१) ,, लालचन्दजी नीहालचंदजी रांका
भीवंडीवाला
१००१) ,, कपूरचन्दची करमचन्दजी बाफना
१००१) ,, मांगीलालजी ओकचन्दजी पारलेचा
१००१) ,, देवराजजी सरदारमलजी राठोड़
१००१) ,, संघवी पुनमचंद नेमाजी पिपाणा वाला
५०१) ,, मांगीलालजी नथमलजी भंडारी
५०१) ,, गुमानचंदजी शेषमलजी बाफना
५०१) ,, मोहनलालजी चून्नीलालजी पुनमियां
५०१) ,, विमलचंदजी कून्दनमलजी रांका
५०१) ,, मिलापचंदजी जूहारमलजी रांका
५०१) ,, फूलचंदजी कुन्दनमलजी रांका
५०१) ,, मोहनलालजी सागरमलजी तलेसरा
१०१) ,, रमेश कुमार लालचंदजी करबावाला









॥ ज्ञानलक्ष्मीनिधान श्री गौतमस्वामिने नमः ॥

❁❁❁

पूछने वाले, ४८ (अड़तालीस) लब्धिओं के मालिक गौतम-स्वामी आदि गणधर भी बिराजमान थे और दूसरी ओर लक्ष्मीदेवी के लाडले श्री धन्नाजी, शालीभद्रजी तथा पतित तथा दलित कुल में जन्मने पर भी पंच महाव्रतों से देदीप्यमान मेतारजमुनि और श्री हरिकेशी मुनिराज मुनिधर्म में पूर्णरूप से मस्त होकर समवसरण की शोभा बढ़ा रहे थे।

उस वक्त समवसरण में विराजमान भगवंत महावीर स्वामी ने फरमाया कि हे भाग्यशालीओं! आप सभी आपके जीवन में नये-नये तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए सदा जागृत रहना, क्योंकि सम्यग्ज्ञान ही आत्मा की अमोघ शक्ति होने से अनादिकाल से अड्डा जमाये हुये काम, क्रोध, मद मोह, लोभ और रागद्वेष आदि आन्तरिक शत्रुओं की शक्ति कमजोर होगी जिससे खुद की आत्मा अनेक शक्तिओं के विकास के लिए आगे बढ़ेगी। सच्चा आत्मज्ञानी प्रत्येक द्रव्य, गुण और पर्यायों का यथार्थ ज्ञान पाने के लिए कोशिश करता है, क्योंकि एक भी द्रव्य, गुण या पर्याय बगैर का नहीं होता है और गुण या पदार्थ भी द्रव्य के अतिरिक्त अन्य जगह पर नहीं रह सकते। गुण, द्रव्य का सहभागी और पर्याय क्रमभावी होने से तारतम्य भाव से गुण घट सकते हैं या बढ़ सकते हैं। जबकि पर्याय का रूपांतर होने से उस पर्याय के नाम से द्रव्य संबोधित होता है। जैसा कि वनस्पति द्रव्य है इसलिए नीम, आम, बबूल, कमल भाजीपाला आदि पर्यायों को छोड़कर दूसरी जगह नहीं रहता है।

सुवर्ण भी चूड़ियाँ, अंगूठी, लंगड़ी आदि अन्य असंख्य पर्यायों में विद्यमान रहता है।

खेत में होनेवाली रुई का भी धोती, शट, रूमाल, पैंट आदि पर्यायों में उपयोग होता है।

आकाश जड़ है फिर भी वह घटाकाश, पटाकाश आदि पर्यायों के नाम से जाना जाता है।

और परमात्मा भी साकार निराकार, सगुण निर्गुण आदि गुण पर्यायों से सबके लिए पूजनीय, वंदनीय और दर्शनीय बनते हैं।

उसी तरह मनुष्य, बालक, युवक, वृद्ध, देव, देवी, गाय, हाथी, बैल, कबूतर, चींटी, मक्खी, मच्छर, सर्प, बिच्छू आदि अनंतानंत शरीर रुप पर्यायों को जाने बिना जीव द्रव्य को प्राप्त करना बहुत मुश्किल है। इसी प्रकार कोई द्रव्य, तत्व या पदार्थ का भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके गुण व पर्याय का सर्वांगी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उसके बिना किसी का भी विपरीत ज्ञान-संशयज्ञान या अज्ञान मिटनेवाला नहीं है।

हे गौतम ! अनंत संसार में द्रव्य, स्कंध, परमाणु, जीवात्मा, उनके कर्म व शुभाशुभ कर्मों की हारमाला अनंत है। जिन्हें चर्मचक्षु का मालिक छद्मस्थ होने से जानता नहीं है। क्योंकि आत्मा की अनंतज्ञान तथा दर्शन की शक्ति का बाधक बननेवाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अंतराय और नोहनीय कर्मरुपी घातीकर्म आत्मा के हर एक कोने में सत्ता जमाये हुये हैं। केवलज्ञान की भूमिका प्राप्त करनेवाले महामानव ही यथाख्यातचरित्र द्वारा उन कर्मों को निर्मूल बना सकते हैं और केवलज्ञान के स्वामी बन सकते हैं। जो आत्मा का मूल खजाना है, उसी से संसार के प्रत्येक द्रव्य को, तथा उसके मूल स्वभाव को यथार्थ जानने में और दूसरों को

जानकारी देने में समर्थ हो सकते हैं। इसलिए ही केवलज्ञान से अतिरिक्त और कोई ज्ञान नहीं है, इसी कारण से अनंतज्ञेय पदार्थों को प्रत्यक्ष करनेवाले अरिहंत देव ही देवाधिदेव हैं, तीर्थंकर हैं और सर्वज्ञ हैं इसीलिये उनके निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा रखना श्रेयस्कर है।

सभी शास्त्रों का अभ्यास करने के बाद निष्पक्ष दृष्टि से कहना पड़ेगा कि अरिहंतों के श्रीमुख से प्रकाशित द्वादशांगी ही सर्वश्रेष्ठ आगम है। जिनमें स्वर्ग, नरक, उनके आवास कर्मगति, आगति, संसार में परिभ्रमण आदि के अलावा पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक तथा त्रसकायिक को स्पष्ट और सांगोपाग ज्ञान देखने को मिलता है।

वनस्पति की जड़ में, स्कंध में, छिलके में, पुष्प में और फल में कौन सा जीव कहाँ से आता है? कहाँ जाएगा? कितनी संख्या में वहाँ जीव विद्यमान होंगे! इन सब बातों का ज्ञान द्वादशांगी में स्पष्ट रुप से दिया गया है। ऐसा भी कोई कहेगा कि, नरक के कीड़े का या देवलोक के विमान का ज्ञान जरूरी नहीं होने से उनकी क्या आवश्यकता है? केवल जरुरी ज्ञान ही काफी है। लेकिन उनका कहना यथार्थ नहीं है, क्योंकि अपना जीव पूर्व जन्म में अनंत भव कर चुका है। जहाँ दूसरे अनंत जीवों के साथ रागात्मक या द्वेषात्मक संबंध से जुड़ा हुआ होने से कौन-सा जीव अपनी स्मृति में कब आयेगा या उसके साथ बंधे हुये शुभाशुभ कर्म कहाँ कब और कौन सी स्थिति में भुगतने होंगे? यदि उसकी खबर खुद को नहीं है तो वह दूसरे को कैसे समझा पायेगा?

इसलिए केवली का आगम ही सम्यक् श्रुतज्ञान है। उसमें भी भगवतीसूत्र सभी सूत्रों में बृहत्काय, देवाधिष्ठित

होने से पूज्यतम है।

द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरण करणानुयोग और कथानुयोग के ज्ञान का सागर है। चार ज्ञान के मालिक गौतमस्वामी जी पूछनेवाले हैं और केवलज्ञान के मालिक भगवान महावीर उनके उत्तर दाता हैं।

शतक २१-२२-२३

तीनों शतक एक-सी वनस्पति विषयक ज्ञान की हैसियत रखते हैं, इसलिये इनको यहाँ सम्मिलित किया गया है। इसमें शालि, व्रीहि, गेहूं आदि के क्रमशः आठ, छः, पाँच वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग की जड़, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्ता, पुष्प, फल और बीज नामक दस उद्देशक हैं और २१ वें शतक के ८० उद्देशक, २२ वें शतक के ६० उद्देशक तथा २३ वें शतक के ५० उद्देशक हैं।

ये सब इसी सूत्र के दूसरे भाग के ११ वे शतक के प्रथम उद्देशक में दिखाये गय उत्पल की तरह उत्पात, अपहार, अवगाहना, कर्मबंधक, वेदक उदय, उदीरक, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, योग, उपयोग, गंधादिवर्ण, उच्छवास, आहारक, अनाहारक, विरताविरत, क्रिया, बंध, संज्ञा, कषाय, वेद, वेदबंधकत्व, संज्ञी असंज्ञी, इन्द्रीय, स्थिति गमनागमन, आहार, स्थिति, समुद्घात, समवहत्व, उद्वर्तना, अनंत बार जन्म लेना। इस तरह के ३३ प्रकार से विचार करना चाहिये। जो प्रज्ञापना सूत्र के व्युत्क्रांति पद में सविशेष होने से और इस पुस्तक के दूसरे भाग के ११ वे शतक के पहले उद्देशक में विस्तार से चर्चित होने से वहीं पर जान लेना उचित है।

शतक २१ : उद्देशक–१

हे प्रभो! शालि, व्रीहि, गेहूँ और जव आदि धान्य वनस्पति के मूल में उत्पन्न होनेवाले जीव कौन-सी गति से आते हैं!

उत्तर में भगवान ने फरमाया कि, हे गौतम! उनके मूल में आनेवाले जीव तिर्यंच और मनुष्य गति में से आकर जन्म लेते हैं। यद्यपि देवलोक के विलास में चकनाचूर बने देवों को भी वनस्पतिकाय में जन्म लेना पड़ता है। तथापि मूल, स्कंध, कंद, त्वचा, शाखा तथा पानरुपी वनस्पति के जघन्य स्थान में जन्म नहीं लेते हैं। वे पुष्प, फल या बीज रुप में जन्म धारण करते हैं। जबकि तिर्यंच और मनुष्य गति के जीवों के लिये वनस्पतिकाय के दस स्थानों में जन्म लेने के लिए द्वार खुले हैं।

जघन्य से एक दो या तीन और उत्कृष्ट से संख्याता या असंख्याता जीव एक वक्त पे मूल रूप में जन्म लेते हैं। वहाँ इतने सारे जीव हैं कि उनका अपहार असंख्य उत्पर्पिणी या अवसर्पिणी तक प्रति समय असंख्यात-संख्यात में किया जाये तो भी सब जीव वहाँ से बाहर निकाले नहीं जा सकते। उनकी जघन्य अवगाहना अंगुल का असंख्यात भाग और उत्कृष्ट से दो से नव धनुष की है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों

को बाँधनेवाले, वेदना सहन करनेवाले और उदीर्णा करने वाले हैं।

सारांश यह है कि उनको चार संज्ञा होने से प्रति समय नये कर्म बाँधते हैं, पुराने कर्म भुगतते हैं और मिथ्यात्वी होने से उनकी उदीर्णा भी करते हैं।

मिथ्यात्व की मौजूदगी में कषाय, अवि रति और प्रमाद होने से कर्मों का बंधक, वेदक और कपोत लेश्या होने से एक वचन की अपेक्षा से असंयोगीरूप में तीन भांगा और बहुवचन की अपेक्षा से सब जीव या तो कृष्ण लेश्यावाले या फिर नीललेश्या वाले और कापोत लेश्यावाले होते हैं। जबकि द्विक संयोग से १२ भांगे इस प्रकार हैं : एक जीव कृष्ण लेश्या का, दूसरा नील लेश्या का, एक कृष्ण और दूसरा जीव नील लेश्या के बहुत से जीव नील के और एक कृष्ण का, सब नील के और विरोधी स्थिति वाले भी नील के हो। इस पद्धति से ही दूसरी लेश्या के भांगे की भी कल्पना की जा सकती है।

त्रिक संयोग से आठ प्रकार जानना। १-१-१, १-१-३, १-३-३, ३-१-१, ३-१-३, ३-३-१, और ३-३-३ हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, एक कृष्ण का, दूसरा नील का और तीसरा कापोत का समझना है। दूसरे में कृष्ण नील में एक-एक और कापोत में बहुत जीव जानना है। इस प्रकार तीन, चार, पाँच, छः, सात और आठ भागों की कल्पना करनी चाहिये।

मूल के जीव, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, काययोगी और दोनों उपयोग के होते हैं।

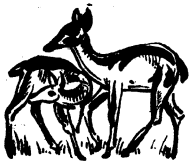
जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से असंख्यात काल तक वहाँ रहते हैं।

गमनागमन यानि शालि व्रीहिका त्याग करके दूसरे स्थान पर जाकर अपने मूल स्थान पर आये उसे गमनागमन कहते हैं और वह जघन्य से दो भव और उत्कृष्ट से असंख्यात भव तक जानना। शेष आहार समुद्घात उद्वर्तना आदि दूसरे भाग में से जान लेना। विशेष में सर्व जीव, प्राण, भूत पूर्व-काल में अनेक या अनंतबार शालि आदि के मूल रुप में उत्पन्न हुये हैं।

॥ पहले वर्ग का १ ला उद्देशक पूर्ण ॥

इस प्रकार कंद, स्कंध त्वचा, शाखा, प्रवाल, पान आदि का एक एक उद्देशक मूल की तरह जाना जाता है। केवल पुष्प में देवगति का जीव अवतार लेता है और कृष्ण, नील कापोत और तेजोलेश्या होती है। अवगाहना अंगुल का असंख्यात भाग और उत्कृष्ट से बीच का उद्देशक पुष्प की तरह जानना।

॥ शतक २१ वा समाप्त ॥



'समाप्ति वचनम्'

नवयुग प्रवर्तक, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य स्व १००८ श्री विजय धर्मसूरीश्वर जी महाराज, भगवान महावीर स्वामी की ७४ वीं पाट पर विराजमान होकर जैनशासन, जैन समाज, तीर्थ-स्थापना तथा विद्याक्षेत्र आदि की अभूतपूर्व सेवा करके अपना नाम इतिहास में अमर कर गये हैं। उनके बहुत से शिष्यों में से शासनदीपक, प्रचण्डवक्तृत्वशक्तिधारक मुनि-राजश्री विद्याविजयजी महाराज थे! उनके शिष्य न्याय, व्याकरण, काव्यतीर्थ पन्यास श्री पूर्णानन्द विजय (कुमार श्रमण) ने अपने मतिज्ञान के विकासार्थ तथा भवांतर में भी श्रुतज्ञान की प्राप्ति के लिये भगवती सूत्र के २१-२२-२३ शतकों की विवेचना यथामति पूर्ण की है।



शतक–२४वाँ

पूर्व भूमिका :

चक्षुगोचर स्थूल पदार्थों का विवेचन और प्रवचन सबके लिए सुगम हो सकता है। लेकिन जीवमात्र की गति (कौनसी गति से आता है) आगति (यह भव समाप्त करने के बाद कौनसी गति में जायेगा) छद्मस्थ जीवों के लिए सर्वथा परोक्ष होने से उनका वर्णन उनके लिये अशक्य है। फिर भी यह एक हकीकत है कि "अतति-सततं गन्छतीत आत्मा" इस न्याय के अनुसार जीवात्मा कोई भी एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सकता है। चाहे वह ३३ सागरोपम का देव हो, नारक हो; तिर्यंच हो, मानव हो, तीन पल्योपम का युगलिक हो या आकाश में उड़नेवाला विद्याधर हो, जंघाचारण मुनि हो, चतुर्दश पूर्व का ज्ञाता या उपशम श्रेणी को प्राप्त किये मुनि हो सबको एक स्थान से दूसरे स्थान जाना ही पड़ता है। चोर को हथकड़ी पहनाकर सैनिक उसे किधर भी ले जा सकते हैं, उसमें चोर की इच्छा जरा भी काम आती नहीं है। उसी तरह कार्मण शरीर (सूक्ष्म शरीर) के सहवासी आत्मा को कर्म राजा किधर से भी उठा के किधर भी पटक सकते हैं। उस वक्त किसी भी जीव की शक्ति, बुद्धि-वाचालता होशियारी या भौतिक-वाद का कोई भी साधन काम नहीं आता है।

जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस जीव के साथ जिस प्रकार के शुभाशुभ कर्म भुगतने होते हैं, तब जरा भी रोग न हो तो भी पलक झपकते ही मनुष्य की मृत्यु हो जाती है और

जहाँ प्रतिशोध या प्रेमभावना का आदान प्रदान करना होता है वहाँ उसे जाने की फरज पड़ती है और इच्छा न होने पर भी जाना पड़ता है।

गति प्राप्त जीव अपने इस भव के सुभोभित किये गये या पोषे गये स्थूल शरीर को और इन्द्रियों को और इस भव की संपूर्ण माया को छोड़ देता है और सूक्ष्म शरीर के माध्यम से दूसरे भव का स्वीकार करता है। एक भव में से दूसरे भव में जाने के लिये जैन शासन में आयुष्य कर्म, नामकर्म और आनुपूर्व्वी नामकर्म की मर्यादा है; जैसे कि मनुष्य भव प्राप्त जीव जब दुर्बुद्धि, मिथ्याचरण असभ्य आचरण, या अज्ञानता में पापों का सेवन करता है तब उसके लिए नरकगति का आयुष्यकर्म अनिवार्य हो जाता है। उसके बाद उसकी लेश्याओं में कृष्णत्व, नीलत्व और कापोतत्व की वृद्धि होने से वह मनुष्य कृष्ण लेश्या और कापोत लेश्या का मालिक बनता है। उस वक्त उसके मन, वचन, और अपनी जात का अहम् और दूसरे गुणी जीवों की निंदा उसे नरक गति में ले जाती है।

इस प्रकार अगले जन्म में नरकगति में जाने की तैयारी करके बैठा हुआ वह पापकर्मी आत्मा जब मृत्युशय्या पर पड़ा होता है तब जीवन में किये गये पापकर्मों की और दुष्टाचरणों की याद उसे आती है और वह भयग्रस्त बनता है और परिणाम स्वरुप अतिशय और अनिवार्य द्विधा में फंसने के बाद वह सीधा सिद्धशीला की ओर भागने लगता है। लेकिन सर्वशक्तिसंपन्न कर्म सत्ता होने से उसी समय में ही पूर्वोपार्जित आनुपूर्व्वी नामकर्म का उदय होता है और चोर जिस तरह सिपाही के हाथ में फंस जाता है उसी तरह वह भी

नरकानुपूर्व्वी के हाथ में फंस जाता है और उसे नरकभूमि की ओर प्रस्थान करना पड़ता है। इस प्रकार चार गति के मैदान में कर्म गति की जंजीरों में फंसा होने से परिभ्रमण कर रहा है और जब तक सूक्ष्म शरीर की सत्ता में नजर कैद है तब तक बहु जीव किसी काल में भी परमात्मा पद को प्राप्त कर नहीं सकता है।

माना कि जीव का शुद्ध स्वभाव निरंजन निराकार है लेकिन कोयले की खान में से निकले हुये हीरे के पत्थर की माफिक-अनंतानंत कर्मों की जंजीर में फंसा होने से उसका शुद्ध स्वरुप हीरे की तरह प्रच्छन होने से अभी अकिंचित्कर है इसलिये चारों गतिओं का परिभ्रमण कोई भी टाल नहीं सकता है।

आत्मिक ज्ञान प्राप्त करने की सिफारीश सब सूत्रकारों ने अपनी-अपनी मति के मुताबिक की है। लेकिन हम जानते हैं कि किसी की सिफारिश मात्र से किसी को आत्मज्ञान प्राप्त हुआ हो ऐसा एक भी कथानक मिलता नहीं है। जीव मात्र को अनंत भवों के साथ, अनंतानंत जीवों के साथ, पुद्-गल स्कंध या परमाणु के साथ जबरदस्त माया लगी रहती है। ऐसी परिस्थिति में परद्रव्य की जानकारी लिये बिना स्वद्रव्य की जानकारी अपवाद को छोड़ के सबके लिये अशक्य रही है। उसके लिये संसार का यथार्थ स्वरुप जीवों के कर्म, और उसकी गतिओं को जानने की आवश्यकता नकारी नहीं जा सकती।

भगवतीसूत्र के २४ वें शतक में ज्ञान का सागर बहाया गया है। जो विषय इन्द्रियातीत है उसे अतीन्द्रीय ज्ञानी बिना कोई दूसरा जान नहीं सकता इसलिये चारों गतिओं में

परिभ्रमण करनेवालों जीवों का इतना सूक्ष्म ज्ञान दूसरी किसी जगह देखने को नहीं मिलता। इसलिये सच्चा तत्वज्ञान ही उपादेय है, अपने उपादान को शुद्ध करने का अमोघ साधन है।

इस प्रस्तुत शतक में उद्देशक २४ हैं और दंडक भी २४ हैं, जिसमें अनंतानंत जीव गत्यन्तर कर रहे हैं। उन सबकी सत्ता (विद्यमानता) "पुढो सत्ता" इस सूत्रानुसार से सर्वथा पृथक् है। चाहे कर्मों की जंजीर में फंसा होने से किसी समय एक ही पौद्गलिक शरीर में संख्यात असंख्यात था अनंत जीव इकट्ठे हुये हो या एक शरीर में एक ही जीव आराम से रहता हो या "भोगायतनं शरीरम्" के न्याय से एक मकान में परिवार की तरह ४-५-१०-२० आदमी एक साथ रहते हों लेकिन जैन शासन के अनुसार सब जीवों के कर्म अलग-अलग होने से कर्म भुगतने के लिये ही एक स्थान में (शरीर में) रहते हैं और कर्म भुगतने के बाद सब अपने-अपने रास्ते पर चल पड़ते हैं। एक जीव को दूसरे जीव के साथ केवल रागात्मक या द्वेषात्मक सम्बंध पूरे करने होते हैं उसके सिवा दूसरा सम्बंध नहीं होता है। इसलिये पृथ्वीकाय में अनेक जीव एक स्थान में जन्म लेते हैं लेकिन कर्म सबके भिन्न-भिन्न होने से कुदाली मारने वाला आदमी एक ही जगह पर कुदाली मारता है और वहाँ के सब जीव मर जाते हैं इसलिये यह जानना सरल हो जाता है कि मारक को पृथ्वीकाय के जिस जीव के साथ प्रतिशोध होता है वह उतनी ही जगह पर कुदाली मारता है और जीव मर जाते हैं।

लेकिन दूसरी जगह के जीव सुरक्षित रह जाते हैं।

आम के पेड़ की एक तरफ बबुल का पेड़ होने से पवन की

वजह से पान में छिद्र पड जाते हैं। अब कोई ऐसा कहे कि बबुल का पेड़ दूसरी तरफ होता तो ? लेकिन कर्मसत्ता ऐसा कहती है कि बबुल के कांटे के जीवों के साथ आम के जिस तरफ के पत्ते बैरभाववाले होते हैं, इसलिये उन जीवों का हनन ताड़न पिड़न करने के लिये बबुल का वृक्ष भी बगैर किसी के परिश्रम के वहीं जन्मा, बड़ा हुआ और पवन के झोंकों के साथ आम के पत्ते के जीवों को छेदता हुआ अपने प्रतिशोध का बदला ले रहा है ऋणानुबंधन चुका रहे हैं। ऐसा जब देखते हैं तो लगता है कि कर्मसत्ता का जोर कितना व्यापक है। संसार के यथार्थ स्वरुप को प्रत्यक्ष देखने के बाद जैन शासन कहता है कि, प्रत्येक जीव के कर्म भिन्न होने से कर्म उसे जैसा नचाता है वैसा नाचना पड़ता है, इसलिये सब जीव अपनी-अपनी सत्ता में सर्वथा भिन्न हैं। उनकी संख्या अनंतानंत हैं। मैदान में फुटबॉल की तरह कर्मराजा की ठोकर खाकर चारगति के चौगान में जीव घूम रहे हैं।

जिस केवलज्ञान में एक भी कर्माणु शेष नहीं रहता है, जिसकी उत्पत्ति में सबसे पहले समस्तावरण पूर्वक मोहकर्म की जड़ें जलकर राख हो जाती है, उसके बाद आँख पर बंधी पट्टी जैसा ज्ञानावरणीय कर्म और दर्शनावरणीय कर्म और अंतराय कर्मों का क्षय होने से आत्मा की अनंत शक्ति प्रकाशित होती है। ऐसे केवलज्ञान के मालिक भगवान महावीर स्वामी गौतम स्वामी के पूछे प्रश्नों का उत्तर दे रहे हैं। जिसका हम सूत्रानुक्रम से विचार करेंगे, जिसमें प्रज्ञापना-सूत्र का व्युत्क्रांतिपद पूर्णरूप से अवतरित है।

एक-एक दंड़क का एक-एक उद्देशक इस शतक में होने से

निम्नलिखित बीस द्वारों से फैसला करने का है। वे द्वार इस प्रकार हैं :—

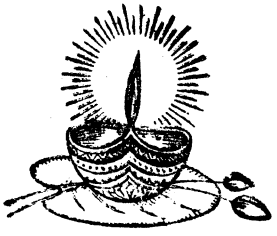
(१) उपपात :—नरक में उत्पन्न होनेवाले जीव कौनसी गति में से आते है ?

(२) परिमाण :—नरकादि में कितने जीव उत्पन्न होते हैं।

(३) संहनन :—नारकादि का संघयण कौनसा ?

(४) उसकी ऊँचाई, (५) संस्थान-आकार (६) लेश्या, (७) दृष्टि ज्ञान अज्ञान, योग, उपयोग, संज्ञा, कषाय, इन्द्रिय, समुद्घात, वेदना वेद, आयुष्य, अध्यवसाय अनुबंध (विवक्षित पर्यायों का सातत्य) काय संबंध (अमुक काया से अमुक काया में जाकर वापिस आना) इस प्रकार प्रत्येक का निर्णय करने का है।

(शतक २४ की पूर्वभूमिका समाप्त)



शतक–२४ : उद्देशक–१

नरक गति के जीवों की विचारणा :

हे भगवंत । नरकगति में उत्पन्न होनेवाले जीव कौन सी गति में से निकल कर नरक भूमि में जन्म लेते हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, नरक गति और देवगति को छोड़कर तिर्यंच और और मनुष्यगति में से निकल के जीव नरक में जन्म लेते हैं । तिर्यंच जीवों में से भी एकेन्द्रिय, दो-इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीव नरक में उत्पन्न नहीं होते है, लेकिन पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव नरक में जन्म लेते हैं । वह तिर्यंच संज्ञी हो या असंज्ञी जलचर (जल में रहने वाला) स्थलचर (पृथ्वी पर चलने वाला) खेचर आकाश में उड़नेवाला) हाथ से चलनेवाले नवलें, छाती से चलनेवाले सर्प और पर्याप्ता हो वह नरक में जन्म लेते हैं । पर्याप्ता हो असंज्ञी तिर्यंच योनिवाले रत्नप्रभा यानि प्रथम नरकभूमि में ही जन्म लेनेवाले होते हैं । उससे आगे की भूमियों मे जाने की उनकी ताकत नही हैं । जघन्य से दस हजार और उत्कृष्ट से एक हजार योजन की शरीर अवगाहना है । आदि की तीन लेश्या, मिथ्यादृष्टि, मतिश्रुतअज्ञान वचन और कायायोगी, साकार निराकार उपयोगी, आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञावाले, चारों कषाय, पाँच इन्द्रिय, वेदना मारणांतिक समुद्घात, सुखदुःख के अनुभवी, नपुसंकवेदी, असंख्यात अध्यवसाय जो प्रशस्त और अप्रशस्त दोंनों प्रकार के पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याय में जघन्य से अन्तर्मुहुर्त और उत्कृष्ट

से पूर्व कोटि तक रहनेवाले भवकी अपेक्षा से दो भव और काल की अपेक्षा से जघन्य से अन्तमुहूर्त अधिक दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट से पूर्वकोटि अधिक पल्योपम का असंख्यात भाग जानना। जैसे कि. वह जीव पहले असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच था। बाद में रत्नप्रभा नरक में गया। वहाँ से निकल कर फिर असंज्ञी नहीं लेकिन संज्ञित्व को प्राप्त करता है इस लिये भव की अपेक्षा से दो भव का काय सम्बन्ध जानना और काल से जघन्य का काय संवेध (सम्बन्ध) अन्तर्मुहुर्त आयुष्य सहित नरक की दस हजार वर्ष की स्थिति और उत्कृष्ट से असंज्ञी के पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट आयुष्य सहित रत्नप्रभा में पल्योपम का असंख्यात भाग जानना।

इस पद्धती के प्रश्न सविस्तार से मौलिक पाठ में से जान लेना।

संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच सम्बन्धी प्रश्न और उत्तर असंज्ञी की तरह जानना। जैसा कि, संख्यात वर्ष के आयुष्यवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच सातों पृथ्वी में जन्म लेते हैं। उसमें से प्रथम नरक में जो उत्पन्न होनेवाले है उनका आयुष्य जघन्य से दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट से सागरोपम की मर्यादा है। छः संघयण और शरीर प्रमाण जघन्य से उंगली का असंख्यातव भाग और उत्कृष्ट से हजार योजन है। छः संस्थान, छः लेश्या, तीन दृष्टि, तीन अज्ञान, तीन ज्ञान, तीन योग, पांच समुद्घात आदि पूर्व दिया गया है ऐसा जानना।

मनुष्यावतार में से जो नरक में जानेवाले होते हैं वे संज्ञी मनुष्य, संख्याता वर्षायुवाले, पर्याप्ता और सात नरकों के

द्वार उनके लिये खुले रहते है। जघन्य से एक दो, तीन और उत्कृष्ट से संख्याता मनुष्य नरक में उत्पन्न होते हैं। छः संघयण, शरीर प्रमाण जघन्य अंगुल पृथकत्व और उत्कृष्ट से पाँच शतक धनुष्य प्रमाण और जो जीव अवधिज्ञान मनः पर्यवज्ञान और आहारक शरीर प्राप्त करके वहाँ से गिरते हैं और नरक में जाते हैं उनको चारज्ञान और तीन अज्ञान के विकल्प में जानना चाहिये। शेष प्रथम की तरह जानना। सातवें नरक में जाननेवाले प्रथम संघयणवाले ही होते हैं और स्त्रीवेदवाले सातवें नरक में नहीं जाते हैं।

(शतक २४ : उद्देशक १ समाप्त)



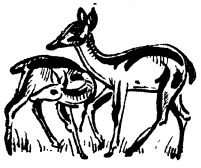
असुरकुमारादि देवों में जन्म लेनेवाला कौन ?

हे गौतम ! चारों गतियों में से केवल मनुष्य और तिर्यंच, असुरकुमार देवलोक में उत्पन्न होने के लायक हैं। पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच जो संमूर्च्छिम है उनकी उत्कृष्ट आयुष्य मर्यादा पूर्व कोटि वर्ष की होने से देवायुष्य उतनी ही संख्या में बांधते हैं। इसलिए जघन्य से दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट से पल्योपम का असंख्यातवों भाग (पूर्वकोटि वर्ष) की स्थितिवाले असुरकुमारों में उत्पन्न होते हैं। वे जीव जघन्य से एक, दो, तीन और उत्कृष्ट से संख्यात या असंख्यात संख्या में जन्म लेने हैं। यदि वे जघन्यकाल की स्थितिवाले

हों तो उनके अध्यवसाय शुभ होते हैं ! संज्ञी जीव असुरकुमार में जन्म लेते हैं उनमें से असंख्यात वर्षायुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच जब असुरकुमार होते हैं तब जघन्य से दस हजार और उत्कृष्ट से तीन पल्योपम की स्थितिवाले होते हैं। यह बात भोगभूमि (युगलिकभूमि) तिर्यंचों के लिये जाननी और असंख्यात नहीं लेकिन संख्यात जीवों का उत्पात जानना। बज्रऋषभनाराच संघयणवाले की शरीर अवगाहना जघन्य से धनुः पृथकत्व और उत्कृष्ट से छः योजन जानना। समचतुरस्र संस्थान आदि की चार लेश्या, मिथ्यादृष्टिवाले, तीन योग, दो अज्ञान, दो उपयोग, चार संज्ञा चार कषाय, पांचइन्द्रिय वेदना, मारणांतिक समुद्घात दो वेदना होती है।

पुरुष और स्त्रीवेद आदि यथायोग्य जानना। संख्येय और असंख्येय वर्षायुवाले मनुष्य असुरकुमार में जन्म लेते हैं। शेष बातें मूलसूत्र से जाननी।

इस तरह भवनपति के आठ भेद के आठ उद्देशक उपरोक्त-रीत्या जानना जो एक-एक उद्देशक में एक-एक भेद पूर्ण होता हैं।



शतक २४ : उद्देशक १२

पृथ्वीकाय में जन्म लेनेवाले कौन ?

हे प्रभो, जो जीव आनेवाले भव में पृथ्वीकाय में उत्पन्न होने की योग्यता रखते हैं, वे कौनसी गति में से आते हैं।

जवाब में भगवंत ने कहा कि, केवल नरक गति के जीव ही पृथ्वीकाय में अवतार नहीं लेते हैं, परन्तु शेष तीनों गति के जीव पृथ्वीकाय में जन्म लेते हैं। यदि तिर्यंच गति में से निकल के पृथ्वीकाय में जन्म लेते हों तो क्या ? एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रीय, तेइन्द्रीय, चारइन्द्रिय या पंचइन्द्रिय तिर्यंच गति में से आते हैं ? एकेन्द्रिय में भी क्या पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय या वनस्पतिकाय, में से आते हैं ? पृथ्वीकाय में भी क्या सूक्ष्म या बादर में से आते हैं ? बादर में भी पर्याप्त या अपर्याप्त जीव पृथ्वीकाय में जन्मते होंगे ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम, एकेन्द्रिय जीव वनस्पतिकाय तक होते हैं। सूक्ष्म, बादर, पर्याप्ता और अपर्याप्ता एकेन्द्रिय जीव पृथ्वीकायत्व को पा सकते हैं। उनका आयुष्य जघन्य से एक अंतर्मुहुर्त और उत्कृष्ट से बावीस हजार वर्ष का है। एक ही समय में नदी के प्रवाह की तरह निरंतर असंख्यात जीव जन्म लेते हैं। अंतिम संघयण आदि की, चार लेश्या, मिथ्या दृष्टि, अज्ञानी (मति और

श्रुत अज्ञान) केवल काययोगी दोनों उपयोगी, आहारादि चारों संज्ञा, केवल स्पर्शेन्द्रीय कषाय, मारणांतिक समुद्घात, साता असाता वेदना, नपुसंकवेद, शुभाशुभ अध्यवसाय आदि होते हैं। यद्यपि, अध्यवसाय मन के आधीन होता है और एकेन्द्रियों को मन नहीं होता है। फिर भी केवली वचन ऐसा है कि, उनको अध्यवसाय होते हैं। भव की अपेक्षा से जघन्य से दो भव और उत्कृष्ट से असंख्यात काल तक पृथ्वीकायत्व में रहना पड़ता है। अवगाहना जघन्य तथा उत्कृष्ट से अंगुली के असंख्यात भाग जितनी। मसूर या चंद्र जैसा उनका संस्थात हैं। शेष मूलसूत्र से जानना।

अप्काय में उत्पाद :

नारकों को छोड़कर दूसरी तीनों गति के जीव अप्काय में जन्म लेते हैं। बादर पर्याप्ता या अपर्याप्ता पृथ्वीकायिक भी जन्म लेते हैं। वे जघन्य से एक अन्तर्मुहुर्त और उत्कृष्ट से सात हजार स्थिति वाले हैं। पृथ्वीकायिकों की तरह जानना।

तेजस्काय में उत्पाद :

देवगति का कोई भी देव तेजस्काय (अग्निकाय) में जन्म नहीं लेता है। आयुष्य मर्यादा (स्थिति) तीन अहोरात्रि की है। शेष पृथ्वीकायिकों की तरह जानना।

वायुकाय में उत्पाद :

चारों निकाय का एक भी देव वायुकायिक नहीं बनता है।

वनस्पति में उत्पाद :

वनस्पतिकायिकों को पृथ्वीकाय की तरह जानने की सिफारीश की गई है। देवों के जीव प्रतिसमय अनंत संख्या में वनस्पतीकाय में अवतार लेते हैं। सारांश यह है कि, पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायुकाय के जीव वनस्पतिकाय में असंख्यात की संख्या में जन्म लेते हैं और वनस्पति के जीव फिर से वनस्पति में जन्म लेनेवाले हों तो अनंत की संख्या में जन्म लेते हैं। क्योंकि, शेष चार कायों के जीव असंख्यात हैं जबकि वनस्पति अनंत है। भव और काल की उत्कृष्टता से अनंतभव और अनंतकाल जानना। इतने लम्बे काल तक वनस्पति के जीव वनस्पति में रहते हैं और आवनजावन करते हैं। शेष पूर्ववत है।

नोंध :—मन, वचन और काया से मैथुन, विषय विलास, दुराचार और व्यभिचार में आसक्ति, असंख्यात जीवों की हत्या, महामिथ्यात्व और मायाचार की अतिरिकता से सम्यक्त्व पाये बिना या उसका वमन करने के बाद वे जीव वनस्पतिकाय के अंधकार पूर्ण स्थान में जन्म लेते हैं। जहाँ से तीर्थंकर परमात्माओं की अनंत चौबीसी पूर्ण होने के बाद मुक्ति होती है।

अतिरिक्त स्पष्टता अगले भागों से जाननी।

बेईन्द्रिय जीवों का उत्पाद :

हे गौतम! नरक और देवों को छोड़कर तिर्यंच और मनुष्य अपने अपने भव पूर्ण करके दोइन्द्रिय अवतार को पाते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव, एकेन्द्रिय में सूक्ष्म

बादर-पर्याप्ता और अपर्याप्ता जन्म लेती हैं । जघन्य से एक अन्तर्मुहुर्त और उत्कृष्ट से १२ वर्ष की स्थितिवाले हैं। इस प्रकार तीनइन्द्रीय और चारइन्द्रिय जीवों के लिए भी जानना।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच गति में उत्पाद :

गौतम स्वामी के सवालों का उत्तर देते हुये भगवान ने फरमाया कि, चारों गतियों के जीवों को आने का यह स्थान है। मतलब कि, नरक देव मनुष्य, और तिर्यंच गति के जीव आयुष्य पूर्ण करके तिर्यंच अवतार लेते हैं । सातों नरक भूमियों के नारको का उत्पाद होता है। प्रथम नरक भूमि के नारकों की स्थिति जघन्य से एक अन्तर्मुहुर्त की और उत्कृष्ट से पूर्वकोटि की जाननी। जघन्य से एक, दो, तीन और उत्कृष्ट से संख्यात और असंख्यात जन्मते है। एकेन्द्रिय के सूक्ष्म बादर पर्याप्ता-अपर्याप्ता जीवों का उत्पाद यहीं है। देवलोक में दूसरे देवलोक के देवों का ही उत्पाद जानना। शेष मूलसूत्र से जानना जो सविस्तार दिया गया है।

मनुष्य में उत्पाद :

हे प्रभो ! कौनसी गति के जीव मनुष्य गति में आकर जन्म लेते हैं।

जवाब में भगवंत ने कहा कि, चारों गति के जीवों के लिये यह स्थान है । नरकगति की वक्तव्यता में केवल

सातवीं नरक भूमि के जीव मनुष्य गति में नहीं आते हैं। "अहे सतम पुढवि नरेइएहिंतो णो उववज्जंति" जबकि तत्वार्थ सूत्र के ३-६ सूत्र के भाष्य में "सम्यग्दर्शन सप्तभ्योऽपीति" अर्थात सातवीं नरक में नारक मनुष्य जन्म को ग्रहण करते हैं और सम्यग्दर्शन पा सकते हैं। इस प्रकार दोनों पाठों का रहस्य केवली भगवंत जान सकते हैं।

रत्नप्रभा के नारक जघन्य से मास पृथकत्व और उत्कृष्ट से एक पूर्व कोटि की स्थितिवाले हैं। जघन्य से एक दो तीन और उत्कृष्ट से संख्याता जीव मनुष्य अवतार में जन्म लेते हैं। क्योंकि नारक जीव संमूर्च्छिम मनुष्य में जन्म नहीं लेते हैं। गर्भज मनुष्य संख्याता ही होते हैं। केवल वायु काय और अग्निकाय के जीवों को छोड़कर शेष एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीव मनुष्य भव पाते हैं। चारों निकाय के देवों का उत्पाद भी मनुष्यकाय जैसा जानना। २२ उद्देशक वानव्यंतर के लिए २३ वां ज्योतिष देवों २२ उद्देशक वानव्यंतर के लिए मूलसूत्र से जानना।

चोबीस उद्देशक सह चोबीसवाँ शतक केवलज्ञानी के अलावा दूसरे ज्ञानीओं के लिए सर्वथा अप्रत्यक्ष है।

क्योंकि सम्यगज्ञान जैन शासन से बाहर कहीं भी देखने को नहीं मिलता है इसलिये द्वादशाँगी, देव, दानव-मानव और उनके अधिपतिओं से वंदनीय, नमस्करणीय, संत्करणीय और पूजनीय है और सम्यगज्ञान के अभिलाषिओं के लिये मननीय पठनीय और परार्तनीय है।

॥ शतक चौबीस का उद्देश चौबीसवां समाप्त ॥

❖ समाप्ति वचनम् ❖

विद्वन्मान्य, अनेक जीवों को सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्रदाता, उपरियाला आदि तीर्थों के उद्धारक, द्रव्य-क्षेत्र काल और भाव के ज्ञाता शास्त्रविशारद जैनाचार्य, स्व. १००८ श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी म. के शिष्य अनेक ग्रंथों के लेखक वक्ता; शासक दीपक, स्व. मुनिराज श्री विद्याविजयजी म. के शिष्यरत्न-न्याय व्याकरण, काव्यतीर्थ, पंन्यासपद विभूषित मुनि श्री पूर्णानन्द विजयजी (कुमार श्रमण) ने अपने स्वाध्याय की रक्षा के लिये मतिज्ञान के विकास के लिये और भवांतर में भी श्रुतज्ञान की प्राप्ति सुलभ हो इसलिये भगवतीसूत्र (व्याख्या प्रज्ञप्ति) के २४ उदेशक सह २४ वाँ शतक विक्रम संवत २०३५ के भाद्रपद यदि १४ के दिन अंधेरी के उपाश्रय में पूर्ण किया है।

"शुभं भूयात सर्वेषां जीवानाम्
सर्वे जीवाजिवादीज्ञानं प्राप्नयुः"

॥ शतक चौबीसवां समाप्त ॥



शतक—२५

उपक्रम :

बारह उद्देशकों से पूर्ण पचीसवाँ शतक राजगृही नगरी में चर्चा गया है जहाँ देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी ने १४ वर्षा ऋतु (चोमासा) पूर्ण किये हैं और शेष काल में भी अनेकबार मगधदेश की राजधानी इस राजगृही नगरी में पधारकर व्रत, नियम और भिन्न भिन्न अभिग्रहपुर्वक के पच्चक्खाण द्वारा मानव समाज पर अमित उपकार किया है। इस देश के राजाधिराज, अखंड प्रतापी श्रेणिक (बिंबसार) नाम के राजा थे। राजनीति के संपुर्ण गुण उनमें विद्यमान थे। संधि और विग्रह में भी बहुत काबिल थे। देश की रक्षा करने में, प्रजा को न्यायनीति और सदाचार देने में दुष्टों को सजा दिलाने में और सज्जन साधु संत तथा धार्मिक पंडितों की शुरक्षा करने में राजा ने कभी भी प्रमाद या आलसीपन का प्रदर्शन किया नहीं था।

जिस देश की राजनीति (कानून), प्रजा की सुरक्षा के लिये स्थापित किये गये न्यायालय, शिक्षणालय या सैनिकों में किसी भी प्रकार की ढील, प्रमाद या कर्तव्यभ्रष्टता का प्रवेश करने नहीं देती है, वह देश ही सदैव उन्नती की ओर अग्रेसर होता है। क्योंकि न्यायलयों की पवित्रता से देश की आंतरिक शक्ति बीज के चंद्र की माफिक बढ़ती रहती है और प्रजा में सत्य तथा सदाचार की मर्यादा का पालन होता है। अन्यथा देश में आंधी तूफान, कर्तव्यभ्रष्टता, बैर-विरोध कर्मचारीओं में आपसी मनमुटाव, और देश को बरबाद करनेवाले

असंख्य दुर्गुण राजा औरमंचारी वर्ग में प्रविष्ट होते हैं।

शिक्षणालयों की अणीशुद्ध पवित्रता से प्रजा का जन-मानस और बाल बालिकाओं का यौवन जीवन नीखरता है। और देश के भविष्य के नागरिकों में, प्रजा में तथा राज्य के संचालकों में भी देश की वफादारी बढ़ती है। अन्यथा मशीन, उद्योग कारखाने से भौतिक पदार्थों का बढ़े हुये उत्पादन से देश की आजादी हल होती नहीं है। काले सर्प के मुंह से जैसे अमृत नहीं निकल सकता उस तरह भौतिक साधना का उत्पादन चाहे करोड़ों का हो, अथवा देश की तिजोरी विदेशी नगद नारायण से भर जाये तो भी श्रीमंतों के या राजनैतिकों के जीवन मे कभी भी अमृतत्व अर्थात दैवी संपति का आवास नहीं होता है। फलस्वरुप एक राजनेता दूसरे का बैरी बनेगा, एक प्रधान दूसरे प्रधान का शत्रु होगा और श्रीमंत ज्यादा श्रीमंत होकर देश में बैमनस्यवाद का राक्षस खड़ा करेगा।

संरक्षणालयों की पवित्रता से दुष्टकार्य करने वालों में, दुर्जनता का उपयोग करने में और हिंसा, झूठ, चोरी, बद-माशी की तरफ जानेवाली प्रजा में दंड का भय उत्पन्न होने से देश की आजादी की रक्षा होती है, उस देश में आंतरिक विग्रह नहीं होता है। फलस्वरुप बहुबेटीओं की, सज्जन नागरिकों की और दूसरे कार्यालयों की सुरक्षा होने से राज्य तंत्र व्यवस्थित होता है और वह देश की आबादी का कारण होता है।

अपने देश के कानून और नीति नियम दूसरे देश के कानून और नीति नियम जैसा बनाने में कई बार असंगतता

होती है, ऐसा सोचकर श्रेणिक राजा ने अपने देश को, प्रजा को, और उनके रिवाजों को अनुकूल हो ऐसा बनाया और उसके अनुसार चलने में अपना धर्म समझा था, जिसकी वजह से मंत्रीओं में, सरसेनापतिओं में सैनिकों में व्यापारिओं में विद्यार्थिओं में, शिक्षकों में और राज्य के कर्मचारिओं में कहीं भी मन मुटाव नहीं हुआ था। मन मुटाव कभी होता भी था तो टिकता नहीं था। इसलिये सब अपने को देश का सेवक मानकर धार्मिक वफादारीपूर्वक राजा की तथा प्रजा की आबादी में हिस्सेदार बनते थे। श्रेणिक राजा खुद देश की आबादी की सुरक्षा के लिये पूर्ण जागृत होने से शासन की लगाम कहीं भी ढीली न हो उसका ध्यान रखते थे। इसी वजह से शिक्षणालय सरस्वती के धाम होने से प्रत्येक विद्यार्थी विद्याध्ययन के सिवा दूसरी एक भी झंझट में नहीं पड़ता था। क्योंकि विद्यार्थी जीवन ही आध्यात्मिक उन्नति का, सदाचार की प्रगति का, और गृहस्थाश्रम में दीपावली के दिये प्रगट करने का, मौलिक कारण है, ऐसा सोचकर यह विद्यार्थी अपने विद्या गुरुओं का बहुमान पूर्वक के विनय को ही सरस्वती माता की कृपादृष्टि का फल मानने वाले थे।

गणितशास्त्र में जोड़ बादबाकी, गुणाकार भागाकार होते हैं और सबसे पहले शिक्षक जोड़ का ज्ञान देता है। उसी प्रकार विद्यार्थी जीवन ही जोड़ जैसा होता है। मतलब की जीवन के सद्गुणों का और वीर्यधन का वर्धन होता है। विद्यार्थी जीवन को पवित्र बनाना चाहिये ऐसा समझकर ममधदेश के शिक्षणालयों को देश की रचना में कारणभूत माना गया था।

सैनिकों को और सेनापतियों को एक होकर देश को कैसे बचाना चाहिये ? इसके लिए वे जागृत थे । गुंडे, बदमाश, चोर व्यभिचारी आदि को दंड देने में ही राजधर्म है । इसलिये राजा ने सैनिक को आज्ञा दे रखी थी की, दुष्ट को सख्त सजा करनी चाहिये और सज्जन और स्त्री की सुरक्षा करनी चाहिये ।

न्यायालय ईश्वर के धाम जैसे होने से प्रजा पूर्ण रूप से आबाद थी और राजनीति देश को आजाद करने में सहायक थी । रिश्वत द्वारा प्रजा को परेशान कर सके ऐसे कायदे नहीं थे इसलिये प्रजा सुखी और संतोषी थी । व्यापार नीति में कोई व्यापारी खरीददार को परेशान न करे और अन्न, कपड़े तेल-गुड़ ऐसी चीजों का अभाव न हो, इसलिये राजा अपने सुख शांति को छोड़कर अपने गुप्तचरों से माहिति प्राप्त करता था । सारांश यह है कि, प्रजा से थोड़ा लेकर ज्यादा देनेवाले श्रेणिक महाराज की बुद्धि, प्रतिभा, शूरवीरता तथा राजनोतिपरायणता प्रशंशा के पात्र थी ।

उस काल में उस वक्त भगवान महावीर स्वामी के अनन्य उपासक, वैशाली गणतंत्र के अधिनायक चेटफ (चेड़ा) राजा को, जैनत्व की परमोपासिका अहिंसा संयम और तपोधर्म से रंगी सात लड़कियाँ थी । उसमें से एक चेल्लणा थी जो श्रेणिक राजा की धर्मपत्नी थी और उसने श्रेणिक महाराज को महावीर स्वामी के कदमों में लाने में महत्व का योगदान दिया था और राजा भी जैनधर्म के रागी बने थे । उस राजा के ५०० मंत्रिओं में अभयकुमार प्रधानमंत्री था सद्बुद्धि और सद्विवेक सम्पन्न वह मंत्री मगध देश में से अनिष्ट तत्वों का नाश करने में और धार्मिक मर्यादा प्रस्थापित करने में सदैव प्रयत्नशील था ।

उस वक्त देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी ने उस भूमि पर १४ चतुर्मास किये थे इसलिये सर्वत्र अहिंसा धर्म का ध्वनि, संयम धर्म का जय जयकार और तपोधर्म की बंसरी बजती रही थी। फलस्वरुप श्रीमंताई के नशे में जीवन बीताने वाले श्रीमंत, सत्ता के घमंड में चकनाचूर बने सत्ताधीश, काम देव में झूले में झूलती राजरानियाँ, श्रीमंतों की पत्नियाँ उनकी लड़कियाँ आदि संसार का त्याग करके संयम पथ के पथिक बने थे। इस प्रकार विशाल मुनि संघ, साध्वीसंघ, और असंख्यात देव देवी, इन्द्र और इन्द्राणि की सेवा प्राप्त करने-वाले भगवान महावीर वामी राजगृहीनगरी में पधारे हुये हैं।

यज्ञ किसे कहते हैं ?

मनुष्यावतार में सद्बुद्धि और सदविवेक के माध्यम से पुण्य पवित्र जीवन को समाप्त करके देवलोक के स्वामी बने देव, देवी, इन्द्र-इन्द्राणी अपने पुण्य कर्म के द्वारा आर्थिक, कामिक पौद्गलिक ऋद्धि, सिद्धि, महाशक्ति प्राप्त करने के बावजूद भी वे विवेक बुद्धिवाले थे। इसलिए उन्हें मालूम था कि, "क्षिणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति" और इसी न्याय से एक दिन ऐसा भी आयेगा जिसकी वजह से यह हमारा खुशबू से चहकता चमन, देवलोक के सुख, देवीओं के भोगविलाशी कपूर की गोटी जैसा यह शरीर फिर से माता की कुक्षी में नव महीने तक कैदी बने रहेंगे। जहां मूलसूत्र, लहु, चरबी, कफ-पित्त आदि गंदे पदार्थों के अलावा कुछ भी नहीं होगा। इसलिये अरिहंतों के पंचकल्याणों में, नंदीश्वर जैसे महातीर्थों में और मुनिधर्म या साध्वीधर्म की रक्षा करने में, वे अपना धर्म समझते हैं पुण्यकर्म के वैभव विलासों को

सुख मानने वाले होते हैं । अतः वे देवाधिदेव अरिहंत परमात्माओं की सेवा में हाजिर रहते हैं। सिर्फ हाजरी ही नहीं होती थी बल्कि हाजिर वे देवाधिदेव जिस रास्ते से गुजरते थे उस रास्ते पर पड़े हुये पत्थर आदि को दूर करते थे और सुगंधी पानी का छिड़काव भी करते थे। परमात्मा के चरण कमल सुवर्ण कमल पर पड़े ऐसे कमल की रचना करते थे। जीवन को पवित्र करने में वे कभी भी आलसी या प्रमादी नहीं होते थे इसलिये वे प्रमाद में फंसे मानवों को जागृत करके कहते थे कि, "हे मानव, तू प्रमाद और निद्रा का त्याग कर, और मोक्षनगरी के सार्थवाह जैसे देवाधिदेव के समवसरण में आ, और सच्चे धर्म और यज्ञ को पीछान के उपदेश श्रद्धा से सुन।"

यह याद रखा जाये कि, पत्थर पर सिंदूरमार के पन्ना या दूसरे द्रव्यों से पूजे हुये को देव मानकर उनके बलिदान के लिये बकरा, मुरगा, पाड़ा या अन्य किसी की भी हत्या करना और उसको यज्ञ कहना एक बार नहीं, हजार बार गलत है, पाप है और महापाप है। तुम प्रत्यक्ष देखोगे कि, तीक्ष्ण शस्त्र से काटे गये जानवर के मांस को खाने के लिये एक भी देवता नहीं आता है। इसलिये यह समझना सरल है कि, केवल इन्द्रियों के गुलाम मांसाहार के चाहक, सत्ता और श्रीमंतों के गुलाम बने पंडितों ने ही इस प्रकार के घटिया, निंदनीय, हिंसक या दुराचारवर्धक यज्ञों की प्रथा का प्रारम्भ किया है। "इसलिये हे मानव, तू सद्बुद्धि का वारसदार बन, विवेकी बन और ऐसे हिंसक पापों को फैलाने वाले यज्ञ कभी भी मनुष्य शरीर को देव नहीं बना सकते वो समझ" और मरने के बाद तुम देव कैसे बन सकोगे ? और ऐसा उत्तम

मनुष्य भव प्राप्त करने के बाद भी यदि आप दैवी संपति हासिल नहीं कर सकते तो गीता आपको देव कैसे बनायेगी ? फलस्वरुप जैसा कि महाभारत में कहा गया है उसके मुताबिक शरीर के जितने बाल हैं उतने वर्ष नरक में रहना पड़ेगा और यमदूत के हाथों मार खाना ही भाग्य में लिखा रहेगा।

यज्ञ शब्द 'यज्' धातू से बना हुआ है और उसका मतलब देवापूजा, संगतिकरण और दान देना होता है। देवपूजा यानि अपने जीवन में हिंसा, हिंसकता, दूसरों को मारना, 'ताड़न, पीड़न आदि हिंसकवृति और प्रवृति समाप्त होवे और दया अहिंसा आदि देवी संपति के गुणों का जीवन में विकास होवे, वृद्धि होवे वही देव पूजा है।

संगतिकरण का मतलब है ८४ लाख जीवायोनी के जीवों के साथ मैत्री और धर्मभावना पूर्वक का बर्तन करना। परस्पर आदान प्रदान करके मानव-पशु पक्षी आदि छोटे मोटे जीवों का मित्र बनके सबकी सुरक्षा करना उसको मित्र कहते हैं। दान का अर्थ यह है कि, अपने पास जो कुछ है उसमें से थोड़ा बहुत दूसरों को देना जिससे मानव समाज में वैमनस्य-वाद न हो और उसकी वृद्धि न हो क्योंकि, वैमनस्यवाद हिंसक है और साम्यवाद अहिंसा का प्रतिक है। एक दूसरे को और दूसरा तीसरे को देने लगे तो समाज में से हिंसा, चोरी, झूठ, मैथुन और परिग्रह जैसे पाप अपने आप कमजोर हो जाते हैं और मानव समाज में भी मैत्री बढ़ेगी। तीर्थंकर परमात्माओं ने कहा है कि, ऐसा यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ है।

गौतम गौत्र जैसे पवित्र गौत्र में जन्म लेने वाले, सात हाथ के ऊंचे शरीरवाले चौदह विद्याओं के पारगंत, इन्द्रभूति नामक प्रथम गणधर थे। जो अपने मनः पर्यवज्ञान के जरिये

समवसरण में विराजमान लोगों के मन के पर्यायों को जान-कर भगवान महावीर स्वामी को सवाल करते थे।

इस शतक के १२ उद्देशक निम्नलिखित हैं :

(१) प्रथम उद्देशक में लेश्यासंबंधी विचार हैं।
(२) दुसरे में द्रव्यों की वक्तव्यता है।
(३) तीसरे में संस्थानों की वक्तव्यता है।
(४) चतुर्थ उद्देशक में कृतयुग्मादि पदार्थों का विवरण है।
(५) पाँचवे में पर्यायों के लिये कथन है।
(६) पुलाक आदि पांच निर्ग्रंथ सम्बन्धी विचार किया है।
(७) सामायिकादि संयतों की विचारणा है।
(८) नारकादि का वक्तव्य है।
(९) भव्य (१०) और अभव्य का उद्देशक है।
(११) सम्यग्दृष्टि नारकों का विचार किया गया है।
(१२) मिथ्यादृष्टि के लिये है।

हे प्रभो लेश्या कितनी कही गयी है ?

जवाब में भगवंत ने छः लेश्या फरमायी हैं। वे इस प्रकार है : कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, पद्मलेश्या, तेजो-लेश्या और शुक्ललेश्या। इस प्रकरण को प्रज्ञापना सूत्र की १७ वीं लेश्या पद के दूसरे उद्देशक द्वारा जान लेने की सिफारीश की गई है। अल्पबहुत्व भी वहीं से ही जानना। देवों और देवीओं में कौन किससे अल्प और किससे ज्यादा है वहाँ तक इस प्रकरण को जानना।

नैरयिकों को (नरक जीवो को) प्रथम की तीन लेश्या, तिर्यंचों को छः लेश्या, ऐकेन्द्रियों को चार लेश्या, पृथ्वीकायिक, अपकायिक और वनस्पतिकायिक को चार लेश्या जबकि अग्निकायिक, वायुकायिक, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रीय, चारइन्द्रीय जीवों को नारक जीवों जितनी लेश्या होती है। संमूर्च्छिम् गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रियों को छः लेश्या, देवों को छः लेश्या देवीओं को चार, वैमानिकों को तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्लेश्या नामक तीन लेश्या होती हैं।

शुक्ललेश्या के स्वामी सबसे कम हैं। उससे पद्मलेश्या संख्या में बहुत है। उससे भी ज्यादा तेजोलेश्यावाले हैं उससे लेश्या बिनाके सिद्ध जीव अनंत गुने हैं। उससे कापोत लेश्यावाले अनंतगुने, नीललेश्यावाले विशेषाधिक और कृष्ण लेश्यावाले भी विशेषाधिक हैं। शेष प्रथम भाग में सविस्तर दिया गया है।

भगवतीसूत्र के प्रथम शतक में लेश्या का जिक्र किया गया है। तो फिर यहाँ दूसरी बार क्यों? इसका जवाब यह है कि, अगले प्रश्नों में संसारवर्ती जीवों के १४ प्रकार में उसमें व्यापक योग का अल्पबहुत्व कहा गया है इसलिये उसके संबंध को लेकर लेश्या का अल्पबहुत्व कहा गया है।

जीवों के भेद कितने?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम १४ राजलोक के प्रमाणवाले इस संसार में रहे अनंतानंत जीव १४ प्रकार के हैं। मतलब की १४ भेदों में अनंतानंत जीवों का समावेश होता है वह इस प्रकार है; (१) सूक्ष्म अपर्याप्त ऐकेन्द्रिय

(२) सूक्ष्म पर्याप्त एकेन्द्रिय (३) बादर अपर्याप्त एकेन्द्रिय (४) बादर पर्याप्तक (५) दो इन्द्रिय अपर्याप्तक (६) दो इन्द्रिय पर्याप्तक। इस प्रकार तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय के पर्याप्तक और अपर्याप्तक के १४ भेद होते हैं जो नवतत्व की चतुर्थ गाथा में भी वर्णित है।

एगेंदिय सुहुमियरा, सन्नियर पणिंदिया य सबितिचऊ।
अपज्झता पज्जता, कमेण चउदस जियट्ठाणा॥

जीवमात्रको शरीरादि प्राप्त करने के लिये जैनशासन में नामकर्म की मर्यादा है। वह शुभ और अशुभ दो प्रकार की है। गत भवों में महाभयंकर पापकर्मों की वजह से उपार्जित सूक्ष्म नामकर्म जब उदय में आता है तब जीव को सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति होती है। यहाँ सूक्ष्म आपेक्षिक नहीं लेकिन स्वाभाविक समझना। बहुत जीवों के बहुत शरीर इकट्ठे हों तो भी किसी को दिखाई नहीं देते, उनका स्पर्श प्राप्त नहीं होता और शस्त्र से भी उनका घात नहीं होता है और वे भी किसी का घात नहीं कर सकते। १४ राजलोक संसार में सूक्ष्म नामकर्मवाले जीव काजल की डिब्बी में रहे काजल की तरह व्याप्त हैं।

लोकाकाश में चाहे फिर राजा का राजमहल हो, श्रीमंतो का रंगमहल हो, साधू महाराजों का उपाश्रय हो, गृहस्थों का बाथरुम हो या रसोईघर, दूकान या हवेली हो सब जगह सूक्ष्म जीव व्याप्त हैं जो दिखते नहीं हैं, उनका स्पर्श नहीं होता है और अग्नि में से भी वे हानी बिना निकल सकते हैं। इन जीवों की हत्या केवल मानसिक अशुभ अध्यवसायों के आधीन होती हैं।

पृथ्वी अप्, अग्नि, वायु और वनस्पति यह पाँच एकेन्द्रिय जीव ही सूक्ष्म शरीर को प्राप्त कर सकते हैं। छद्मस्थों की आँखों से सर्वथा ओझल जीवराशीयाँ जो अनंत हैं वो केवल ज्ञानीओं के केवलज्ञान में ही देखी जाती हैं। इसलिये श्रद्धागम्य तत्व को श्रद्धा से ही मानना श्रेयस्कर है।

बादर जीवराशी, बादर नामकर्म के आधीन होने के बावजूद भी कितने ही बादर जीव सामान्यतः दृष्टिगोचर नहीं होते हैं केवल स्पर्श से ही उनकी कल्पना की जाती है। सूक्ष्मनामकर्म में पापकर्म की प्रधानता प्रबल है और बादर नामकर्म में तरतम योग से पुण्यकर्म की प्रधानता है। पृथ्वी, अप्तेज, वायु और वनस्पति के जीव बादर नामकर्म के कारण बादर भी होते हैं। तथा विकलेन्द्रिय दो, तीन, चार इन्द्रियवाले भी बादर होते हैं। जो चौदह राजलोक में व्याप्त नहीं है लेकिन अमुकनियत भाग में ही वे विद्यमान है। उनका छेदन भेदन, मारण-तड़न, तर्जन हनन आदि मन, वचन और काया से हो सकता है।

इसी कारणवश अरिहंतो का कथित संयमस्थान-सर्वोत्कृष्ट होने से अहिंसा धर्म की पूर्ण आराधना करने में श्रेष्ठ अद्वितीय है।

हे प्रभो! उपरोक्त १४ प्रकार के जीवों में योग विषयक अल्प बहुत्वकी व्यवस्था किस प्रकार है?

जवाब में प्रभु ने फरमाया कि, "हे गौतम, जघन्य और उत्कृष्ट से कौनसे जीव में किस से योगका अल्पत्व और किससे बहुत्व है वो इस प्रकार जानना :—

(१) सूक्ष्म अपर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवों में योगका अल्पत्व जघन्य से सबसे थोड़ा हैं।

(२) बादर अपर्याप्तक जीवों में योग उससे असंख्य हैं।

(३) दो इन्द्रिय अपर्याप्तक जीवों में योग उनसे कई गुना ज्यादा है।

(४) तीनइन्द्रिय जीवों में भी योग कई गुना ज्यादा है।

(५) चारइन्द्रिय में भी असंख्य गुना जानना।

(६) उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक असंख्य गुना जानना।

(७) संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक का उससे असंख्यात् गुना जानना।

(८) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य योग असंख्य की मात्रा में हैं।

(९) बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय का उनसे असंख्य की मात्रा में है।

(१०) सूक्ष्म अपर्याप्तक एकेन्द्रियका उत्कृष्ट योग असंख्य की मात्रा में जानना।

(११) उससे बादर अपर्याप्तक एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट से असंख्य की मात्रा में जानना।

(१२) सूक्ष्म पर्याप्तक एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्य मात्रा में हैं।

(१३) बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट योग से असंख्य मात्रा में है।

(१४) दोइन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य योग उनसे असंख्य मात्रा में है।

(१५) त्रीन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य योग उनसे असंख्य मात्रा में है।

(१६) चारइन्द्रिय पर्याप्तक जघन्ययोग असंख्य मात्रा में हैं।

(१७) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जघन्य से असंख्य मात्रा में हैं।

(१८) संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य योग उससे असंख्य मात्रा में है।

(१९) दोइन्द्रिय अपर्याप्तक उत्कृष्ट से असंख्य मात्रा में है।

(२०) तीनइन्द्रिय अपर्याप्तक उत्कृष्ट से असंख्य मात्रा में है।

(२१) चारइन्द्रिय अपर्याप्तक उत्कृष्ट से असंख्य मात्रा में है।

(२२) असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक उत्कृष्ट से असंख्य की मात्रा में है।

(२३) संज्ञी पंचेन्द्रिय उत्कृष्ट अपर्याप्तक उत्कृष्ट से असंख्य की मात्रा में है।

(२४) दोइन्द्रिय पर्याप्तक उत्कृष्ट से असख्य मात्रा में है।

(२५) तीनइन्द्रिय पर्याप्तक उत्कृष्ट से असंख्य की मात्रा में है।

(२६) चारइन्द्रिय पर्याप्तक उत्कृष्ट से असंख्य मात्रा में है।

(२७) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक उत्कृष्ट से असंख्य मात्रा में है!

(२८) संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक उत्कृष्ट से असंख्य मात्रा में है।

उपरोक्त क्रमशः एक एक से असंख्य मात्रा में ज्यादा जानना। जघन्य से सर्वथा अल्प योग सूक्ष्म अपर्याप्तक ऐकेन्द्रियका है। और उत्कृष्ट में उत्कृष्ट योग संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त को में जानना।

जैन शासन में जीवों के लक्षण :

प्रस्तुत प्रश्न वीर्य के निर्णय के लिए होने से और वीर्य (पराक्रम) जीव का लक्षण होने से जीवात्मा को छोड़कर वीर्य दूसरी किसी भी जगह पर नहीं रहता है।

"यत्र यत्र जीवः तत्र तत्र वीर्यम्" जहां जहां जीव है, वहां वहां वीर्य होता ही है। और वीर्य की चेष्टा जहां नजर आती है वहां जीव होता है। क्योंकि लक्षण अपने लक्ष्य को छोड़कर दूसरी जगह नहीं रहता है। इसलिए वीर्य उसका लक्षण है जीव का निर्णय वीर्य के लक्षण से होता है। जिसमें जीव नहीं है ऐसे मुर्दे में वीर्य देखने को नहीं मिलता है। और प्रयत्न करने के बाबजूद भी मुर्दे जैसे जड पदार्थ में वीर्य दाखिल नहीं किया जा सकता।

आत्मा में चलने का, फिरने का, खाने का, पीने का, उठने का, बैठने का और सोने का आदि जो (पराक्रम) परिस्पंद दिखता है वह वीर्य यानि वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम के आभारी हैं। जो आत्मा का स्वतत्व-स्वभाव है। फिरभी यह वीर्य कोई भी जीवमें एक समान नहीं होने से विशेष या अल्परुपसे असमानता स्पष्ट हो जाती है। जो पूर्व में उपार्जित वीर्यान्तराय कर्म के आभारी है। वीर्य आत्मा की शक्ति विशेष है तो उसका अवरोध वीर्यांतराय कर्म है। जिससे हजारो इच्छाएँ रखनेवाले जीव को एक भी कार्य में सफलता हासिल नहीं होती है। कर्म के बादल मंडराते हैं बढ़ते हैं और खिसक जाते

हैं। जिससे किसी जीव में वीर्य (पराक्रम) एक पैसे जितना हो तो वीर्यांतराय कर्म ९९ पैसे जितना दिखाई देता है जबकि दूसरे जीव में ९९ पैसे जितना वीर्य है तो वीर्यांतराय कर्म एक पैसे जितना दिखता है। समय समय ये दोनों तत्वों की वृद्धि या हानि होती रहती है। आजका निराशावादी आलसी और मुंह पे हाथ रख के बैठनेवाला कल पुरुषार्थी, चालाक और शक्तिशाली बनके किसी से भी कम नहीं रहता है।

इन सब कार्यों में वीर्यांतराय कर्म और उसका क्षयोपशम् ही मुख्य कारण होता है। सूक्ष्म अपर्याप्त अेकेन्द्रिय जीव को महापाप का उदय होने से पापजन्य सूक्ष्म नामकर्म, अपर्याप्तक नामकर्म और अेकेन्द्रिय जाति नामकर्म का उदय ज्यादा होने से उनमें वीर्यांतराय कर्म का तीव्रोदय भी मालूम पड़ता है। जबकि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक भाग्यशाली जीव यदि सद्गुरु सेवी है, इन्द्रिय और मन को स्वाधीन करनेवाला है, तो उनको वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम ९९ पैसे जितना उदय में दिखता है और संभव है कि, वीर्यांतराय कर्म का सर्वथा क्षय करने के लिए भी समर्थ हो सकता है।

उस कर्म का सर्वथा क्षय होने के बाद सिद्ध के जीव वीर्य विहीन हो जाते हैं! उसकी शंका किसी को भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि अनंतवीर्य (अनंत शक्ति) का अवरोध कर्म जो वीर्यांतराय था उसका संपूर्ण नाश जब होता है तब वह आत्मा अनंतवीर्य का मालिक बनता है।

एक समयोत्पन्न नारक क्या समयोगी है ?

हे प्रभो ! ऋजुगति से या विग्रहगति से एक काल में उत्पन्न हुए दो नारक (दो नारक जीव) क्या समान योग वाले या विषमयोग वाले होते हैं ?

जवाब में भगवंत ने फरमाया कि, हे गौतम ! नरक गति में उत्पन्न होने वाले नारक अहारक और अनाहारक दो जाति के होने से जो ऋजुगति वाले हैं वे आहारक है और वक्रगति वाले एक समय के लिए भी अनाहारक है। अनाहारक नारक से आहारक नारक अधिक योगवाला है और दोनों यदि ऋजुगति वाले या वक्रगति वाले हैं तो दोनो समान योगी हैं। यहां भी योग का मतलब वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिस्पंदन, कंपन आदि समझना। आहारक नारक के पुदगलों का उपचय होने से और अनाहारक का नहीं होने से दोनों की चेष्टा में हीनत्व या अधिकत्व का अहसास होता है। हर रोज की क्रिया में भी ऐसा अनुभव होता रहता है कि, अपने पेट में भी चाय, नास्ता, पूरी, पकोड़ी, मिष्ठान साथ में पापडी, पापड़, चटणी या गांटिया आदि पदार्थ पड़ते रहते हैं और उसके बाद चौपाटी पर या कांकरिया तालाब पर घूमने वालों को अनोखा आनंद मिलता है जो भूखे पेट से घूमने वालों के आनंद से कई गुना ज्यादा रहता है, क्योंकि सर्वत्र आहार और पानी को माया लगी हुई होती है।

दो चार घंटे यदि पेट में आहार नहीं जाता तो अपने हाथ पैर निष्क्रिय से होते जाते हैं। आंखों में

अंधेरा छाने लगता है, कान सुनने नहीं लगते हैं, तभी तो कहा गया है कि :

"भूख रांड भुंड़ी आंख जाय ऊंडी
पैर होवे पानी आंसू लाय तानी"

फिर भी जिन भाग्यशालीओं ने संयम की आराधना की है, आत्मा के विजेता बने हैं, उनको आहार संज्ञा जैसी यह जीती जागती पिशाचिनी कुछ भी कर नहीं सकती है। उनके पेट में आहार हो या न हो तो भी ज्ञानपूर्वक उपवास, एकासन आयंबील करने वाले संयमी जीव दो दो घंटे तक ध्यान में रह सकते हैं।

नारकों के लिए प्रश्न होने के बावजूद भी भगवती सूत्राकार खुद ही चौबीस दंडकों के जीवो में आहारक और अनारक की वजह से योगों में हीनता अधिकता या समानता समझने की सिफारिश करते हैं।

योग कितने प्रकार से है ?

हे प्रभो ! आपश्री के शासन में योग कितने कहे गये हैं ?

जवाब में भगवंत ने फरमाया कि, हे गौतम ! मुझसे पूर्व के तीर्थंकरों ने और मैंने भी योग पंद्रह प्रकार के कहे हैं। जो निम्नलिखित हैं :

मनोयोग :

(१) सत्य मनोयोग
(२) असत्य मनोयोग
(३) सत्य मृषा योग
(४) असत्या मृषायोग

वचन योग :

(५) सत्य वचन योग (७) सत्या मृषा वचन योग
(६) असत्य वचन योग (८) असत्य मृषा वचन योग

काय योग :

(९) औदारिक शरीर योग (१३) आहारक काय योग
(१०) औदारिक मिश्र शरीर योग (१४) आहारक मिश्र योग
(११) वैक्रिय काय योग (१५) कार्मण शरीर योग
(१२) वैक्रिय मिश्र काय योग

इस सूत्र में और इससे पहले के दोनों सूत्रों में योग का अर्थ मन-वचन-काया जैसा करने का नहीं हैं। लेकिन वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम को लेकर आत्मा में ही (जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती) या बाहर (जिसकी कल्पना की जा सकती है) परिस्पंद, स्फुरण, कंपन हलन चलन आदि जो विविध प्रकार की चेष्टायें होती हैं उस अर्थ में योग शब्द व्यवहृत हुआ है। संसारी आत्मा अपने मन के जरिये, वचन के जरिये या शरीर के जरिये ही व्यवहार करने के काबिल होता है। इसलिए मन के चार योग, वचन के चार और काया के सात योग कहे गये हैं।

संग्रह नय के अनुसार "एगे आया" होने के बावजूद भी व्यवहारानुसार आत्मा अनंतानंत हैं और प्रत्येक आत्मा अपने अपने कर्मों के कारण पराधीन होने से किसी की भी मानसिक, वाचिक या कायिक चेष्टाओं का दूसरे किसी से मेलजोल संभव नहीं होता है। क्योंकि, सब

जीवों की ज्ञानावरणीयादि कर्मों की अनंत वर्गणा अपेक्षाकृत दूसरे जीवों से संख्यात असंख्यात गुना ज्यादा या कम भी होती है, उस स्थिति में ज्ञानावरणीय कर्म का भारी आत्मा आंख पर बँधी पट्टी वाले मनुष्य की तरह खाने, पीने, उठने, बैठने या बोलने आदि की क्रियाओं में अज्ञानपूर्वक, मिथ्याज्ञानपूर्वक या संशयपूर्वक चलता होने से उसकी सब चेष्टाये असभ्य निंदनीय और अविश्वसनीय बनती है। जबकि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोदशम के मालिक की मानसिक, याचिक और कायिक चेष्टायें सत्यपूर्ण, दयामय, सभ्य, अहिंसात्मक और प्रतिशोध बिना की होती है। मोहकर्म के भारी आत्मा मदिरापान के नशे की तरह, मोहकर्म के नशे में बेहोश बेध्यान, बेरहम, बेईमान, बेआबरू और बेशरम बनकर क्रोधांध, गर्वान्ध, मायांध, लोभांध और कामांध बनते हैं और पूरे संसार को बिगाड़ने के चक्कर में पड़ जाते हैं जबकि संयम से प्राप्त मोक्ष पुरुषार्थ के स्वामी संसार को अमृतमय बनाने कोशिश करते हैं इस प्रकार कर्म की वजह से जीवों की चेष्टाये समान नहीं हैं।

प्रस्तुत प्रश्न का सरल अर्थ यह है कि पंद्रह योगों में से कौनसा योग किससे अल्प है और किससे ज्यादा है, तथा किससे समान है यह सब बातों का जिक्र मूल सूत्र में ही स्पष्ट होने से ये बाते निम्नलिखित है :

(१) सबसे जघन्य योग कार्मण शरीर काययोग का है।

(२) उससे औदारिक मिश्र काययोग बहुत ज्यादा है।

(३) उससे वैक्रिय मिश्र काययोग बहुत ज्यादा है।

(४) उससे औदारिक शरीर काययोग अधिक गुना ज्यादा है।
(५) उससे वैक्रिय काययोग जघन्य से अधिक गुना ज्यादा है।
(६) उससे कार्मण शरीर का उत्कृष्ट योग अनेक गुना ज्यादा है।
(७) उससे आहारक मिश्र जघन्य से अधिक गुना
(८) उससे आहारक मिश्र उत्कृष्ट से अधिक गुना ज्यादा है।
(९) औदारिक और वैक्रिय मिश्र उत्कृष्ट से अधिक गुना ज्यादा और तुल्य हैं।
(१०) उससे असत्यामृषा और मनोयोग जघन्य से अनेक गुना ज्यादा हैं।
(११) आहारक शरीर जघन्य से अधिक गुना ज्यादा हैं
(१२) शेष तीनों मनोग चारों वचनयोग जघन्य से गुना ज्यादा हैं और तुल्य हैं।
(१३) आहारक शरीर का उत्कृष्ट योग अनेक गुना ज्यादा है।
(१४) औदारिक, वैक्रिय, चारों मनोयोग चारों वचन योग, उत्कृष्ट से अनेक गुना ज्यादा और परस्पर समान हैं।

इन पंद्रह योगों की व्याख्या अगले भागों में दी गई है या तो दंडकों में से प्राप्त की जा सकती है।

॥ शतक २५ : उद्देशक १ समाप्त ॥

शतक २५ : उद्देशक-२

द्रव्य कितने हैं ? उनके भेद कितने हैं ?

हे प्रभो, जैन शासन में द्रव्य कितने प्रकार के कहे गये हैं ?

जबाव में भगवंत ने फरमाया कि हे गौतम ! मेरे शासन में द्रव्य दो जाति के हैं। (१) जीव द्रव्य और (२) अजीव द्रव्य । अजीव द्रव्य के रूपी और अरूपी दो भेद हैं । उसमें जो अरूपी अजीव द्रव्य है वह निम्नलिखित १० प्रकार से हैं : (१) धर्मास्तिकाय (२) उसका देश और (३) प्रदेश इस प्रकार अधर्मास्तिकाय और आकाशस्तिकाय के तीन तीन भेद जानना। सब मिलके नव भेद हुए और काल नामक दसवां भेद जानना। रूपी द्रव्य स्कंध, स्कंध देश, स्कंध प्रदेश, और परमाणु स्वरूप के चार प्रकार के हैं। वह द्रव्य संख्यात, असंख्यात नहीं है लेकिन अनंत है, और देश, प्रदेशिक, और अनंत प्रदेशिक स्कंध भी अनंत है इसलिए मेरे शासन में पुद्गल अनंत होने से अजीव द्रव्य भी अनंत कहे गये हैं। जीव द्रव्य भी अनंत है, क्योंकि संसार में रहने वाले पृथ्वीकायिक अप्कायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक असंख्यात मात्रा में है। जबकि वनस्पतिकायिक जीव अनंत है, इसलिए जीव द्रव्य भी अनंत कहे गये हैं।

नोंध : संसार में जोव और अजीव नामक द्रव्य दो ही है शेष पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और

मोक्ष आदि सातों तत्वों का समावेश हो जाता है, दो ही तत्व मुख्य हैं। अनादिकाल से दोनों का मिश्रण ही संसार है।

बौद्ध दर्शन के चार तत्व नैयायिकों के १६ द्रव्य, सांख्य के २५ तत्व, वैशषिक के ६ तत्व मीमांसको के दो तत्व और चार्वाक के पांच तत्वों का समावेश जीव और अजीव तत्व में हो जाता है। इसलिए जैन शासन मान्य जीव और अजीव द्रव्य ही द्रव्य रुप से कहे गये हैं।

द्रव्य का मतलब क्या है? उसका लक्षण क्या हैं? गुण पर्याय क्या है? आदि सब बातें प्रथम और दूसरे भाग में विस्तार से या संक्षिप्त से दी गई है।

जीव द्रव्य के परिभोग में, अजीव क्या शीघ्र आतें हैं?

हे प्रभो जीव मात्र के परिभोग में (उपयोग में) अजीव द्रव्य क्या शीघ्रता से आते हैं। और अजीव द्रव्यों के परिभोग में जीव द्रव्य क्या शीघ्र आते हैं?

जबाव में भगवान महावीर स्वामी ने कहा कि, हे गौतम जीव द्रव्यों के परिभोग मै अजीव द्रव्य तुरंत आते है लेकिन अजीव द्रव्यों के परिभोग में जीव द्रव्य तुरंत नहीं आते है। इसकी वजह यह है कि जीव द्रव्य सर्व जगह स्वतंत्र, कर्ता और भोक्ता होने से अपनी ही कर्तव्यशक्ति द्वारा अपने उपभोग में आने वाले अजीव द्रव्यों को शीघ्रता से स्वीकारते हैं ग्रहण करते हैं और तैजस नामक सूक्ष्म शरीर द्वारा उनका पाचन करते हैं।

उसके बाद सार सार पुद्गलों से औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर की रचना करते हैं। मतलब कि वे अजीव द्रव्यों को अपने शुभाशुभ कर्मों के भोग के योग्य शरीर की रचना के लिए ग्रहण करते हैं।

उसके बाद स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, मनोयोग, वचनयोग, काययोग, श्वासोश्वास आदि का निर्माण करते हैं। क्योंकि पूर्वभवीय कर्मों को भुगतने के लिए शरीर और इन्द्रियां ही मुख्य निमित कारण है। इसलिए मैं कहता हूँ कि, जीव, अजीव को ग्रहण करते हैं। गौतम! फिर भी, जीव के भोग में सहायक बने अजीव कभी भी जीव स्वरूप प्राप्त नहीं करते हैं। इस प्रकार जीवों का भोगत्व और अजीवों का भोगत्व कभी भी परिवर्तित होता नहीं हैं।

नरक में रहते नारक जीव भी अजीव द्रव्यों को ग्रहण कर के वैक्रिय, तैजस और कार्मण शरीर यावत पांचो इन्द्रियों की रचना करते हैं। इसी प्रकार वैमानिक देव से लेकर सब दंडकों के लिए जानना। केवल जिन जीवों को जितनी इन्द्रियां हो उतनी ही कहना।

असंख्यात लोकाकाशमें अनंत पर द्रव्य रह सकते हैं?

हे प्रभो! असंख्य प्रदेशात्मक लोकाकाश में अनेक जीव और पुद्गलों का अवस्थान (रहना) क्या उचित है?

जबाब में भगवंतने फरमाया कि, षट्द्रव्यात्मक लोकाकाश असंख्यात प्रदेशवाला होने के बावजूद भी एक कमरे में जिस तरह हजारो दीपक का प्रकाश समा जाता है उसी

तरह आकाश में अनंत जीव और पुद्गल समा जाते हैं। लोकाकाश के एक प्रदेश में अनेक द्रव्यों का चय और उपचय मान्य होने से रुकावट न हो तो छः दिशाओं में से द्रव्य आकर इकट्ठे होते हैं और रुकावट हो तो तीन, चार और पांच दिशाओं में से आते हैं और अलग हो जाते हैं।

औदारिक शरीर के रुप में स्थित या अस्थित पुद्गल क्या ग्रहण करते हैं?

हे प्रभो! अपना औदारिक शरीर ग्रहण करने के लिए जीव स्थित पुद्गलों को ग्रहण करता है या अस्थित को?

जबाब में भगवंतने फरमाया कि हे, गौतम! औदारिक शरीर के रुप में ग्रहण किये जाते पुद्गल स्थित भी होते हैं और अस्थित भी होते हैं। जीव जिस आकाश प्रदेश में रहता हो उतने क्षेत्र में रहते पुद्गल स्थित कहलाते हैं और बाहर के क्षेत्र में रहनेवाले अस्थित कहलाते हैं। आत्मा जो औदारिक शरीर के योग्य होते हैं ऐसे पुद्गलों को अपनी आत्मशक्ति के जरीये खींच के ग्रहण करता है। गति बिनाके द्रव्य स्थित और शेष अस्थित है।

द्रव्य से अनंत प्रदेशवाले क्षेत्र से लोक के असंख्यात प्रदेश में पुद्गलों को बाधा न आये तो छः दिशाओं में से आये और बाधा आये तो चार या पाँच दिशाओं में से आये पुद्गलों को ग्रहण करते हैं।

वैक्रिय शरीर के लिए विशेष में यह जानना कि, पंचेन्द्रिय मनुष्य उपयोगपूर्वक वैक्रिय शरीर की रचना करनेवाले हैं। वे त्रस नाड़ी के बीच में स्थित है अतः छः दिशाओं से आते पुद्गलों को ग्रहण करनेवाले हैं। शेष वर्णन मूलसूत्र से जानना।



(शतक २५ : उद्देशक २ समाप्त)

शतक २५ : उद्देशक-३

संस्थान कितने प्रकार के हैं ?

हे प्रभो ! पुद्गलों के आकार विशेष संस्थान कितने प्रकार के कहे गये हैं ?

जवाब में परमात्माने कहा कि, हे गौतम, पुद्गल मात्र आकार विशेष से विशेषित हैं, इसलिए मैंने वे संस्थान छः प्रकार के कहे हैं।

(१) परिमंडल संस्थान : चूडियों जैसा बीच में पोला हो ऐसा गोल आकार, जिसको परिमंडल कहते हैं।

(२) वृत्त : कुम्हार के चाक की तरह अंदर पोला न हो ऐसे आकार संस्थान को वृत्त कहते हैं।

(३) त्र्यस्र : शिंघाडे जैसे तीन कोनेवाले पुद्गल स्कंध को त्र्यस्र कहते हैं।

(४) चतुरस्र : पाट या पाटले की तरह चारों कोने बराबर होते हैं उसको चतुरस्र संस्थान कहते हैं।

(५) आयत : डंडे की तरह लंबे संस्थान को आयत कहते हैं।

(६) अनित्थं : उपरोक्त पांच आकार से रहित जो हो वह अनित्थ है।

छः संस्थानों का विचार द्रव्यरुप अर्थ का आश्रय करके करने का है। परमात्माने कहा कि, यह सब संस्थान अनंत हैं। इस प्रकार प्रदेशार्थ रुप में या उभयरुप में भी अनंत हैं।

अल्प-बहुत्व के जवाब में कहा गया है कि, परिमंडल संस्थान जघन्य से बीस प्रदेश में अवगाहनावाला होनेसे और दूसरे संस्थानों से कई गुना ज्यादा प्रदेशों में अवगाहनावाला होने से यह संस्थान सबसे अल्प है और वृत्त, चतुरस्र, त्र्यस्र, तथा आयात संस्थान क्रमशः पांच, चार, तीन और दो प्रदेशावगाही होने से ज्यादा है इसलिए संख्यात गुने है। इसप्रकार रत्नप्रभा से लेकर वैमानिक तथा सिद्धशीला तक की हकीकत पूर्ववत जाननी चाहिए।

छः द्रव्यों में पुदगलरुपी होने के कारण वे भिन्न-भिन्न आकार से विशेषित होते हैं। मतलब यह है कि, आकार बिना का पुदगल नहीं होता। वे आकार भी शुभ या अशुभ दो प्रकार के होते हैं। फिर चाहें वो आकाश के बादल हो दीवाल का चित्रकाम हो, या मूर्ति विशेष हो, उसे तुम अपनी आँख से देखोगे तो आकार अलग-अलग ही दिखाई देंगे। उसमें भी अच्छे आकार जैसे कि हाथी, घोड़ा, देव, मानव, शृंगारवाली महिला आदि दिखाई दे तो वे अच्छे फल देते हैं। जब कि वीभत्स, भयानक, घृणित, राक्षस, भूत पिशाच आदि आकार यदि दिखाई दे तो वे मनुष्य को खराब फल देते हैं। इसलिए आप जहाँ भी बैठे हो उसके सामने यदि खराब आकार दिखाई दे तो उसको बदल देना फलस्वरुप तुम अशुभ फल में से बचनेवाले भाग्यशाली बन जाओगे।

खराब स्वप्न जिस तरह अशुभ फल देता है, उसी तरह खराब पुद्गल का आकार भी अशुभ फल अवश्य देता है। इसलिए हम जहाँ भी बैठते हैं उसके सामने अच्छे चित्र रखने चाहिए जिससे शुभ फल मिलता रहे।

श्रेणियों के प्रकार कितने हैं ?

जवाब में भगवंतने कहा कि, हे गौतम ! चराचर संसार को जानने के लिए केवलज्ञानी को छोड़कर एक भी ज्ञानी समर्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रत्यक्ष दिखने-वाले पदार्थों में भी पंडितों के विचार एक नहीं हैं।

तभी तो संसारकी एक भी चर्चा का अंत नहीं आता है, कषाय और क्लेश टूटता नहीं हैं, द्वेष छुटता नहीं है, माया बन्धन का छेद नहीं होता है तो फिर परोक्ष पदार्थों का ज्ञान पाने के लिए किस तरह समर्थ हो सकते हैं ?

आज चाहे हमें दृष्टिगोचर संसार का क्षेत्रफल मालूम हो, चाहे मनुष्य की संख्या मालूम तो भी हमें संपूर्ण ज्ञानी होने का दावा नहीं करना चाहिए। क्योंकि केवलज्ञानीओं के केवलज्ञान में असंख्यात द्वीप, असंख्यात समुद्र, अनेक पुद्गल स्कंध और अनंत जीव तथा जीवराशीयाँ प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है। एक वक्त प्रत्यक्ष संसार के प्रत्येक लोग पंडितों की ओर श्रद्धान्वित थे। लेकिन शिवराज ऋषी को मर्यादित अवधिज्ञान हुआ और सात द्वीप और सात समुद्र का एहसास हुआ। तभी उनके ज्ञानसे मोहित हुई जनता उस बाबत में श्रद्धापूर्ण बनी, लेकिन भगवान महावीर स्वामी के शासन को पाने के बाद वही शिवराज ऋषी को प्राप्त केवलज्ञान में और केवलदर्शन में असंख्यात द्वीप और समुद्र दिखाई दिये और शिवराज ऋषीने अपने मुंह से जब कहा कि, मुझे सात द्वीप और समुद्र का जो ज्ञान प्राप्त हुआ था वह ज्ञान मिथ्या था, लेकिन अब मुझे

असंख्य द्वीप और समुद्र सर्वथा स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। सारांश यह है कि, असंख्यात समुद्र में से आज के वैज्ञानिक एक भी समुद्र को पार नहीं कर सके हैं। द्वीप में से दूसरे द्वीप में जा नहीं सके हैं। भारत क्षेत्र में ही जिसका अस्तित्व है ऐसे वैताढ्य पर्वत को भी नहीं ढूंढ सके हैं। तो कितने ही क्षेत्रों और पर्वतों के बाद आनेवाले मेरु पर्वत को कैसे ढूंढ सकेंगे ? मतलब यह है कि, छद्मस्थों की शक्ति के बाहर के पदार्थ भी असंख्यात हैं। ऐसी स्थिति में जीवों की गति, आगति जो छद्मस्थों के लिए सर्वथा अप्रत्यक्ष है, उसका ज्ञान प्राप्त करना कैसे संभव होगा ? इसलिए संसार के बहुत सारे पदार्थों का ज्ञान पाने के लिए केवलज्ञानीओ के केवलज्ञान पर ही श्रद्धा रखनी चाहिए।

छः द्रव्यों में जीव और पुद्गल ही गतिशील पदार्थ हैं। उनमें भी जीवों की गति स्वाभाविक होने के बावजुद भी गति कर्म प्रेरित है और पुद्गलों की गति परप्रेरित होती रहती हैं। क्योंकि वे जड़ होते है। यहाँ पर गति का अर्थ होता है एक स्थान से दूसरे स्थान में और एक भव से दूसरे भव में जाना। मरने के बाद वह जीव कहाँ गया ? कैसे गया ? कौनसे साधन से गया ? इन सब सवालों का जवाब देने में दूसरे दर्शन मौन रहे हैं लेकिन जैन शासनने सब प्रश्नों का जवाब देकर सवालों को शंकारहित किया है। इसलिए 'द्वादशांगी विशाला' सब शास्त्रों में द्वादशांगी शास्त्र ही विशाल, स्पष्ट और संग्राहय हैं।

उपरोक्त प्रश्नों के जवाब देते हुए भगवान महावीर स्वामी ने फरमाया है कि, हे गौतम ! वे जीव जब भवांतर

करते हैं तब उनको आकाश की श्रेणियों का अवलंबन सर्वथा अनिवार्य होने से उनके जरीये गति करते हैं। ये श्रेणियां सात की संख्या की हैं।

(१) ऋजवायाता : ऋजु यानि सरल और आयात यानि दीर्घ। इस श्रेणी का आशय पाकर जीव उर्ध्वलोक में से अधोलोक में और अधोलोक में से उर्ध्वलोक में सरलता से प्रयाण कर सकता है। नक्शे में जिस तरह पूर्व से पश्चिम या उत्तर से दक्षिण तक की रेखाएं होती है उसी तरह आकाश में भी रेखाएं होती है उसके आधार पर ही गति या आगति होती है।

(२) एक ओर वक्र - जीवमात्र प्रारंभ में सरल गति से गमन करता है, लेकिन गंतव्य स्थान उस श्रेणी में नहीं आता हो तो आगे जाकर वक्रगति लेना सर्वथा अनिवार्य है। और जीव कर्मसता के आधीन होने से उस प्रकार मुड़ जाता है।

(३) दोनों तरफ वक्र : इसकी वजह से जीवों को दो तरफ मोड़ लेना पड़ता है मतलब कि गंतव्य स्थान पर पहुँचने के लिए वह दो बार वक्रगति करता है। इस श्रेणी का मालिक ऊर्ध्वलोक की अग्नि दिशा से अधोलोक की वायवी दिशा में उत्पन्न होता है। पहली बार आग्नेयी दिशा से तिर्च्छा होकर नैऋति दिशा में जाता है, वहाँ से दूसरी बार तिर्च्छा होकर वायवी दिशा में जाता है। इन तीनों समय की गति त्रस नाड़ी में या उसके बाहर के हिस्से में होती है।

(४) अेकतःखा त्रस नाड़ी के वामपार्श्वादि भाग से नाड़ी में प्रवेश करके फिर से त्रस नाड़ी में से जाकर उसके वाम भाग में उत्पन्न हो उसे अेकतःखा श्रेणि कहते हैं। क्योंकि उसकी एक तरफ लोकनाड़ी सिवा आकाश आया हुआ है।

(५) दोनों बाजुखा जिस श्रेणिसे त्रस नाड़ी की बाहर उसके वाम पार्श्वादि भागसे प्रवेश कर के तथा उस त्रस-नाड़ी में से जाकर उसके ही दक्षिण पार्श्व आदि स्थान मे उत्पन्न होती है।

(६) चक्रवाल श्रेणी : जिससे परमाणु आदि गोल गोल घूम के उत्पन्न होते हैं।

(७) अर्ध चक्रवाल श्रेणि : आधी गोल हो वो।

यह सब बातें २४ दंडकों के लिए जाननी।

शेष मूलसूत्र और टीकाओं से जाननी।

यद्यपि कर्म से प्रेरित जीव अपनी शक्ति से ही गति-शील होता है। आकाश या उसकी श्रेणीयाँ जीव को गति में नहीं ला सकती है, लेकिन केवल सहायक सिद्ध होती है। पानी में मछली अपने आप गति करती है। पानी सिर्फ सहायक है। उसी प्रकार एक भव में से दूसरे भव में जाने के लिए आकाश की श्रेणियां सहायक होती है।

हे प्रभो! गणपिटक कितने प्रकार से कहा गया है?

जवाब में महावीर स्वामीने कहा कि, हे गौतम! मेरे

शासन में गणिपिटक बारह प्रकार का है और इसको ही द्वादशांगी कहते है। इसमें गणि का अर्थ आचार्य और पिटक का अर्थ पेटी (मंजुषा) होता है। जिसमें आचारांग सूत्रसे लेकर दृष्टिवाद तक के बारह की संख्या में सब आगम जाने जाते हैं। आचारांग सूत्र के बारे में कहा गया है कि, नये शिष्य को सबसे पहले मूलसूत्र और बाद में उसके अर्थ निर्युक्ति भाष्य और उसके बाद सूत्र का संपूर्ण रहस्य समझाना, जिससे शिष्य स्थिर होता है। क्योंकि अनुक्रम से कराय गय अभ्यास को वह ग्रहण कर सकता है।

नोंध : मनुष्य के शरीर में जिस प्रकार मस्तक, मुंह, भुजा, वक्षस्थल, साथल, उदर आदि बारह अंग होते है। उसी प्रकार द्वादशांगी में भी बारह अंग है। जो तीर्थंकरों की प्ररूपित है, और गणधर भगवंत ही उनकी रचना करते हैं और अंगुली रेखानख आदि उपांगो की रचना बहुश्रुत करते हैं।

घाती कर्मो का समुचा नाश होने से केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है और तीर्थंकर नामकर्म का उदय होते ही देवों द्वारा स्थापित समवसरण में वीराजमान होते है।

पुण्यकर्म की चरमसीमा वहां पूर्ण होती है और उसकी वजह से चार मूल अतिशय, उन्नीस देवों के किये गये और कर्मक्षय के बाद के ११ अतिशय यानि कुल मिला के ३४ अतिशय से आकृष्ट होकर अगणित मानव समुदाय समवसरण में आता है और सबसे पहले गणधरों की स्थापना, उसके बाद साधु, साध्वी, श्रावक-

श्राविका रुप चतुर्विध संघ की स्थापना होती है उसी समय उत्पाद और व्ययरुप पर्यायात्मक और ध्रौव्यरुप द्रव्यात्मक की देशना को गणधर भगवंत अपनी लब्धि विशेष से द्वादशांगी में रचना करते हैं।

अब तक सामान्य मनुष्य या पंडित विशेष के कानमें भी जो तत्त्व किसी काल में नहीं आया वो तत्व चर्चा, हेतु, तर्क उदाहरण आदि से परिपूर्ण द्वादशांगी उन्हे सुनने को मिली।

जीव ही शिव है, नर ही नारायण है, और आत्मा ही परमात्मा है, यह सब बाते छोटा बच्चा, १८ विद्या के ज्ञाता, अष्टांग निमित को जानने वाले, मंत्र तंत्र से आकाश के देवों को पृथ्वी पर उतारने वांले; पंडित-महापंडित सब तुरंत बोल जाते हैं, लेकिन जीव में शिव, नर में नारायण, आत्मा में परमात्मा यह सब बाते तब सच होती हैं जब हम अपने जीवन में द्वादशांगी का प्रथम अंग आचारांग सूत्र का क्रियात्मक ज्ञान उतारे अन्यथा शिव, नारायण या परमात्मा कैसे हो सकेंगे!

मंत्र, तंत्र या तिलक लगाने से या पीतांबर पहन लेने से शिव हो जाना सर्वथा अशक्य है। ऐसी परि-स्थिति में नये पापों का द्वार बंद कर के पुराने पापों को नष्ट करने के लिए क्या करना चाहिए यह जानने के लिए द्वादशांगी जैसा एक भी साधन नहीं हैं। ऐसी शुद्ध, निष्पक्ष और रामबाण जैसी आर्थिक प्ररुपणा अरि-हंत के बिना कोई नहीं कर सकता है क्योंकि झूठ, प्रपंच आदि का मूल कारण मोहकर्म है। उसको सर्वथा

निमूल किये गये बिना ज्ञानावरणीयादि कर्मो का क्षय नहीं होता है। अरिहंत शब्द का अर्थ ही यह बता देता है कि भावशत्रु रुप काम-क्रोधादि जिसका नाश हुआ हो वह अरिहंत है। ऐसे अरिहंत भगवान महावीर स्वामी हैं। उनके मुंह से निकली बातों की प्रशंसा देवो ने भी की है। वो इस प्रकार है :—

"अर्हद्वक्त्रप्रसूता गणधररचिता द्वादशांगी विशाला।
चित्रा बहुवर्थयुक्ता मुनिगणवृषभैर्धारिता बुद्धिमद्भि॥
मोक्षाग्रद्वारभूता व्रतचरणफला ज्ञेयभाव प्रदीपा।
सेव्या पूज्या च चिन्त्या नहि भवति या मोहमायासुबद्धै॥
(परिवर्तितोऽयमूमया)

जोवों का अल्पबहुत्व :

सब जीवों में मनुष्य जीव कम है। उनसे कई गुने नारक, देव, सिद्ध के जीव और तीर्यच हैं।

(शतक २५ : उद्दशक ३ समाप्त)



शतक २५ : उद्देशक-४

युग्म कितने हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! अठारहवे शतक के चतुर्थ उद्देशक के मुताबिक कृतयुग्म, त्र्योजयुग्म, द्वापरयुग्म और कल्योजयुग्म नाम के चार युग्म है। यहां युग्म संख्यावाचक नाम है। जिस संख्या में से चार का भाग देने के बाद शेष चार रहते है वह कृत युग्म कहलाता है। आठ और सोलह को चार से भाग देने के बाद शेष चार रहते है। चार से भागने के बाद शेष तीन रहते हैं। उसी प्रकार चारसे भागने के बाद शेष दो बचे तो उसे द्वापर युग्म कहते हैं। चारसे भागने के बाद यदि एक बचे तो उसे कल्योज युग्म कहते हैं। पांच को चारसे भागने के बाद एक बचता है।

इन चार युग्म में से नारक कौन से युग्म में हैं ?

जवाब में कहा गया है कि, नरक गति के नारक जीव चार युग्मवाले होते हैं। यावत् पृथ्वीकायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक ऐकेन्द्रिय जीव भी चार युग्मवाले हैं। वनस्पति में दूसरी गति में से आकर एक, दो या तीन जीवों का उत्पात माना गया है इसलिए कभी कभी वनस्पतिकायिक कृतयुग्म हैं। यावत् कल्योज युग्मवाले भी हैं। दो इन्द्रिय जीवों से वैमानिक देव तक चार युग्म जानना।

सिद्ध के जीव वनस्पतिकायिक की तरह किसी वक्त कृत-युग्म यात् कल्योज युग्मवाले भी जाने जाते हैं।

द्रव्य छः प्रकार के हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल आदि के तीन द्रव्य संख्या में एक होने से वे कल्योज युग्म हैं। जीवस्तिकाय अनंत होने से कृतयुग्म है।

जबकि पुद्गलास्तिकाय समय समय पर संघात और भेद होने की वजह से वे चार युग्मवाले हैं। कालद्रव्य अनंत होने से कृतयुग्म हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय द्रव्यरूप में एक समान होने के बावजूद भी जीव द्रव्य की अपेक्षा से अल्प है। इन तीनों से जीवास्तिकाय अनंत गुने ज्यादा है पुदगलास्तिकाय और कालद्रव्य उत्तरोत्तर अनेक गुना ज्यादा हैं। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय असंख्यात प्रदेशवाले होने से आकाश के असंख्यात प्रदेश में अवगाढ हैं। लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी हैं। सात नरक भूमि भी असंख्यात प्रदेशावगाढ जाननी। यावत् सिद्धशीला भी असंख्यात प्रदेशावगाढ है इस पद्धति के प्रश्नों और सवालों की चर्चा की गई हैं, जो मूलसूत्र और टीका से जाननी।

(शतक २५ : उद्देशक ४ समाप्त)



शतक २५ : उद्देशक–५

जीव और अजीव के पर्याय कितने हैं ?

हे प्रभो पर्यायों की संख्या कितनी है ?

जवाब में भगवंतने कहा कि, हे गौतम ! जीव पर्याय और अजीव पर्याय के रूप में पर्याय, गुण पर्यव धर्म दो प्रकार के हैं। जीव के जो धर्म हैं वे उनके पर्याय है । क्योंकि, पर्यव-पर्याय गुण धर्म आदि एक ही अर्थ को बतानेवाले हैं । शेष प्रज्ञापना सूत्र के पांचवे पद से जान लेनी की सिफारीश हैं। वहां इस प्रकार कहा गया है कि, वनस्पति और सिद्ध के जीव अनंत होने से जीव पर्याय अनंत हैं। और शेष सब जीव राशी असंख्यात प्रमाण में हैं। नारक जीवों के प्रश्न में यद्यपि नारक असंख्याता ही है । फिर भी उनके पर्याय अनंत है ।

पर्यायों के स्वामी नारक जहां असंख्यातही हो तो उनके पर्याय अनंत किस तरह होते है ? जवाब में कहा गया है कि, द्रव्यार्थ और प्रदेशार्थ रूप में नारक जीव तुल्य हैं। क्योंकि एक नारक दूसरे नारक के साथ द्रव्य से तुल्य है। और प्रदेश सबके असंख्यात होने से उस रूप में भी तुल्य हैं। जबकि, अवगाहना की (शरीर की होनाधिकता) अपेक्षासे ही नारक पर्याय इस प्रकार अनंत रहेंगे । जिस प्रकार

एक नारक दूसरे नारक की अपेक्षा से क्वचित (स्यात) हीन हो, क्वचित अधिक हो और क्वचित तुल्य हो।

रत्नप्रभा के नारकों की भवधारणीय (स्वाभाविक) शरीर की अवगाहना जघन्य से अंगुल के असंख्यात भाग की है और उत्कृष्ट से सात धनुष्य, तीन गथ और छः अंगुल की है। अब आगे आगे दो गुनी करने से सातवीं नरक के नारकों की अवगाहना जघन्य से अंगुली का असंख्यातवां भाग है और उत्कृष्ट से पाँचसौ धनुष्य की कही है। ऐसी स्थिति में एक नारक दूसरे नारक से शरीर में ही न हो तो वह असंख्यात या संख्यात भाग में तथा असंख्यात या संख्यात गुण में हीन होता है और यदि अधिक हो तो यह असंख्यात या संख्यात भाग में तथा असंख्यात या संख्यात गुण में अधिक होता है। नमूने के तौरपर देखें तो एक नारक की ऊँचाई पांच सौ धनुष्य की है, जबकि दूसरे नारक की अंगुली के असंख्यातवें भाग ही न ऐसे पांच सौ धनुष्यों की हैं। अंगुली का असंख्यातवाँ भाग पाँच सौ धनुष्य के असंख्यात भाग के प्रमाण में हैं। इसलिए एक नारक दूसरे नारक से असंख्यात भाग से हीन हुआ और दूसरा असंख्यात भाग से अधिक हुआ। ५०० धनुष्य की ऊँचाई वाले नारक से दूसरा नारक दो, तीन, चार या पाँच धनुष्य जितनी कम ऊँचाई वाला हो तो, वह नारक दूसरे से असंख्यात भाग ही न और दूसरा असंख्यात भाग से अधिक होगा।

एक नारक १२५ धनुष्य की ऊँचाई वाला है और दूसरा ५०० तो प्रथम से दूसरा ४ गुना अधिक और दूसरे से पहला चार गुना ही न होगा।

अपर्याप्त अवस्था में अंगुली के असंख्यात भाग की अवगहना वाला नारक पांच सौ धनुष्य की अवगहनावाले से असंख्यात गुना हीन है। इस पद्धती से आयुष्य मर्यादा, वर्णादि की मर्यादा आदि में अनुमान लगा के निर्णय किया जाता है।

हे प्रभो! आवलिका में समय की मर्यादा कितनी कही गई है?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, 'हे गौतम एक आवलिका में असंख्यात समय जानना नहीं कि संख्यात या अनंत समय! तथा ४४४६, २४५८, ३९९३ आवलिकावालीं एक सांस में भी समय की संख्या असंख्यात जाननी। सात प्राण के स्तोक में भी असंख्यात समय और लव, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष मास, ऋतु अयन, वर्ष, युग, सौ, हजार लाख तथा पूर्वांग, पूर्व, त्रुटितांग, उत्पल, पहमांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अच्छ, निपूरांग, अच्छ निपूर, अपूतांग, अपूत, नयुतांग, नयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्ष, प्रहेकिलांग, शीर्ष प्रहेलिका आदि उत्तरोत्तर ज्यादा है। पूर्व तक का कोष्ठक प्रथम और दूसरे भाग में से जानना। आगे का कोष्ठक निम्नानुसार हैं:

८४ लाख वर्ष प्रमाण का = १ पूर्वाङ्ग जानना। आगे भी इसी प्रकार ही जानना।

८४ लाख पूर्वाङ्ग प्रमाण का = १ पूर्व (वर्ष संख्या ७०,५६०००००००००, इतनी संख्या प्रमाण का १ पूर्व होता है) ऋषभदेव भगवंत को ऐसे ८४ लाख पूर्व का आयुष्य था।

८४ लाख पूर्व = १ त्रुटितांग, ८४ लाख त्रुटितांग = १ त्रुटित ।
८४ लाख त्रुटित = १ अटटांग, ८४ लाख अटटांग = १ अटट ।
८४ लाख अटट = १ अववांग, ८४ लाख अववांग = १ अवव ।
८४ लाख अवव = १ इइकांग, ८४ लाख इइकांग = १ हूहूक ।
८४ लाख हूहूक = १ उत्पलांग, ८४ लाख उत्पलांग = १ उत्पल :
८४ लाख उत्पल = १ पद्मांग, ८४ लाख पद्मांग = १ पद्म
८४ लाख पद्म = १ नलिनतांग, ८४ लाख नलिनतांग = १ नलिन
८४ लाख नलिन = १ अर्थनिपुरांग, ८४ लाख अर्थनिपुरांग = १ अर्थनिपुर
८४ लाख अर्थनिपुर = १ अयुतांग, ८४ लाख अयुतांग = १ अयुत
८४ लाख अयुत = १ नयुतांग = ८४ लाख नयुतांग = १ नयुत
८४ लाख नयुत = १ प्रयुतांग = ८४ लाख प्रयुतांग = १ प्रयुत
८४ लाख प्रयुत = १ चूलितांग = ८४ लाख चूलितांग = १ चूलिता
८४ लाख चूलिता = १ शीर्ष प्रहेलिकांग ।
८४ शीर्ष प्रहेलिकांग = १ शीर्ष प्रहेलिका ।

यहां तक गिनती संभव है उसके बाद अनगिनित संख्या है ।

जैन शासन कहता है कि, इस संख्यात काल में समय का प्रमाण असंख्यात ही समझना । अनंत का नहीं समझना । सारांश यह है कि, एक आवलिका में असंख्यात समय जाना जाता है । अब हमें यह सवाल होगा कि असंख्यात समय कैसा होता है ? यह जानने के लिए लोकप्रकाश और कर्मग्रंथों का अभ्यास जरूरी है । पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी और

अवसर्पिणी जैसे लंबे और उपमेय काल के लिए भी अनंत नहीं लेकिन असंख्यात समय जाना जाता है।

जबकि पुद्गल परावर्तन में अनंत समय की भावना जाननी चाहिए।

अपने जीवात्मा ने इस प्रकार कितने पुद्गल परावर्तन को भूतकाल में पूर्ण किया है। मतलब कि अनगिनीत पुद्गल परावर्तन के लंबे काल तक हम भटक चुके हैं। लेकिन जैन शासन को पा नहीं सके हैं और यदि पाया है तो उसकी आराधना नहीं कर सके हैं, और वर्तमान में भी उसे नहीं पहचान सके हैं तो भविष्य में कब तक भटकेंगे वह तो प्रभु ही जाने। क्योंकि, स्थावर योनि में से त्रसयोनि को प्राप्त करने के बाद उसकी मर्यादा (२०००) सागरोपम की है। इस काल में यदि यह जीव मुक्त न बन सके तो फिर से स्थावर योनि में पाना पड़ता है, जहाँ बहुत से कालचक्र समाप्त करने के बाद भी बाहर नहीं निकला जा सकता।

बहुवचन का आश्रय करके सब आवलिकाओं में किसी वक्त असंख्यात समय और किसी वक्त अनंत समय की भावना जाननी चाहिए।

निगोद कितने प्रकार से है?

हे प्रभो निगोद के कितने प्रकार कहे हैं?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम निगोद और निगोद जीव इस प्रकार निगोद के दो प्रकार हैं। वे सूक्ष्म और

वादर भी होते हैं। प्रथम भाग में उसका वर्णन किया गया है तथा खुद सूत्रकार ने भी जीवाभिगम की प्रथम प्रतिपति के दूसरे उद्देशक से जानने की शिफारिश की हैं। इस प्रकार भावों का वर्णन भी प्रथम और दूसरे भाग से जानना।



(शतक २५ : उद्देशक ५ समाप्त)

शतक २५ : उद्देशक-६

निर्ग्रन्थ कौन है और उसके कितने प्रकार है ?

हे प्रभो। जैन शासन में निर्ग्रंथों के कितने भेद हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, निर्ग्रंथ पांच प्रकार के हैं। (१) पुलाक (२) बकुश (३) कुशील (४) निर्ग्रंथ (५) स्नातक। इस प्रकार मेरे मुनि पाँच प्रकार के हैं।

चारित्र मोहनीय कर्म की भयानकता।

अनादिकाल से प्रवाह रूप में ७० कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाला मोहकर्म-मदिरापान जैसा होने से आत्मा के अस्तित्व का तथा शुद्धिकरण का सम्यग्ज्ञान नहीं होने देता है। उसके दो भेद हैं। (१) मिथ्यात्व मोहकर्म, (२) चरित्र मोहकर्म। इसमें से प्रथम कर्म की वजह से अपने आत्मा के अस्तित्व का ही भान होता नहीं है और "अंधी आटा पीसे और कुत्ता आ के खा जाय" ऐसी स्थिति जीवात्मा की होती है सम्यग्दर्शन न होने देने में अनंतानुबंधी चार कषाय और मिथ्यात्व की तीनों प्रकृतियाँ मुख्य वजह है। संसार में भटकती आत्मा में जब अनिवृत पुरुषार्थबल की प्राप्ति होती है, तब सातों कर्मप्रकृतिओं के बादल हट जाने लगते हैं और ये बादल जब हटते जाते हैं तब जिस प्रकार भूखे को अन्न की, नंगे को कपड़े की, प्यासे को पानी की प्राप्ति में खुशी होती है उस प्रकार जीवात्मा को सम्यग्दर्शन की

प्राप्ति होने पर होती है और मेरी आत्मा है, अनंतशक्ति का मालिक है, परमात्मा है, पुण्य-पाप है, आश्रव बंध है, संवर निर्जरा है और संपूर्ण कर्मों का क्षय होने के बाद मोक्ष मिलता है। कर्मों के बंधन से आत्मा खुद बंधता है और कर्म के पिंजरे से खुद ही मुक्त हो जाता है, ऐसा सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है।

सिर्फ ज्ञान होना एक बात है और उस ज्ञान को जीवन में उतारना तथा आत्मा को लगे मोहकर्म को दूर हटाना या उसे शक्तिहीन कर देना दूसरी बात है।

इसलिए सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के बाद भी चरित्र मोहनीय कर्म की वजह से अपनी आत्मा को शुद्ध, शुद्धतर और शुद्धतम बनाना कठिन बात है। लेकिन क्वचित् किसी समय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के समय जीवात्मा फिर से मिथ्यात्व की ओर न जाय और आगे बढ़ने की उसकी भावना बढ़े तो शेष अंतः कोडाकोडी कर्मों में से कितने ही पल्योपम जितने कर्मों के बादलों को शिथील करता हुआ और मोक्षाभिलाषिनी पुरुषार्थ शक्ति द्वारा उनको दूर करता हुआ वह जीवात्मा संपूर्ण जीवहिंसा, मृषावाद, चौर्य मैथुन और परिग्रह के त्याग में भाग्यशाली बना हुआ चारित्र, दीक्षा, संयम और सर्वविरति धर्म को स्वीकार करता है। उस समय गुरुदेव के चरणों में मन, वचन तथा काया का समर्पण करता हुआ वह जीवात्मा, त्याग, तप और स्वाध्याय की तरफ आगे बढ़ने में आनंदित होता है।

लेकिन यह भूलना नहीं चाहिए कि, चरित्र के उदयकाल में या उसकी आराधना के वक्त वह साधक चाहे कितना भी तपस्वी, महातपस्वी, ज्ञानी, महाज्ञानी क्यों नहीं हो ? सता-

स्थान में स्थित चारित्र मोहनीय कर्मरूपी नाग की फूंफकार उस साधक को ऐकाग्र होने नहीं देता है, स्थिरता लाने नहीं देता है, और अपने पुराने मित्र ज्ञानावरणीय (मति ज्ञानावरणीय) के साथ होकर चारित्रधारी को चलायमान कर देता है। इस प्रकार आत्मा में चारित्रोदय और चारित्र मोहनीय कर्म का मुकाबला होता रहता है और आत्मा की इस रणभूमि में कभी चारित्रोदय की जीत होती है तो साधक तपस्वी, मौनी तथा जीतेन्द्रिय होता है। लेकिन दूसरे ही क्षण में चारित्र मोहनीय का हमला जोरदार होने से तपस्वी मौन तोड़ने के, पारणे के, और इन्द्रियों को पोषने के ख्याल में फंस जाता है और बड़ी भूल कर बैठता है।

इन सब बातों का ख्याल रखके ही परमात्मा ने मुनिराजाओं के पांच भेद किये हैं। क्योंकि, "मामेकं शरणं व्रजा" यह सिद्धांत जैन शासन को स्वीकार्य नहीं है। क्योंकि आत्मा अपने आप कर्मों से बंधता है और अपने आप ही मुक्त होता है। दूसरे किसी की भी शक्ति, चक्रवर्ती का सैन्य या इन्द्र महाराज की मंत्रशक्ति जरा भी काम में नहीं आती है।

लेकिन साधक खुद मासखमण, नवकारशी के प्रत्याख्यान में, गुरुवैयावच्च में, या स्वाध्याय में चारित्रोदयी बनेगा तो जरूर कल्याण के मार्ग को पायेगा अन्यथा आन्तरजीवन में चारित्रमोहनीय कर्म गिल्ली डंडे का खेल खेलते होंगे तो, साधक को पतनाभिमुखी होना ही पड़ेगा।

चारित्तमोह की नाटक लीला।

सम्यग्ज्ञान को ग्रहण करके शिक्षित होने के बाद केवल-

ज्ञान के मालिक बनने की भावना से दीक्षित होने वाले सब मुनिराज एक समान होने के बावजूद भी प्रमादवश विचित्र विविध प्रकार की स्खलना की वजह से ही चारित्र पालन में फरक पड़ जाता है।

मुसाफिरी करनेवाले हम सब जानते हैं कि सब की चाल एक जैसी नहीं होती है। कभी-कभी दुबले पतले आदमी पीछे रह जाते हैं और मोटे लोग चलने में अच्छी स्फूर्ति रखते हैं। कभी-कभी इससे विपरीत हो जाता है। मोटीले लोगों की चाल देखने लायक होती है। इस प्रकार चरित्र मोहनीयकर्म का उदयकाल भी विचित्र होने से बहुत से लोगों की स्खलना प्रत्यक्ष दिखती है। दूसरों की हजार प्रयत्नों के बावजूद भी नहीं दिखती है। बहुत से उत्तर गुण के पक्के हिमायती लेकिन मूलगुण के विराधक, जबकि दूसरे मूलगुण की श्रद्धा वाले लेकिन उत्तर गुण को नहीं पालने वाले होते हैं तो कोई बाहर के रिवाज तक पक्के लेकिन अंदरूनी ज्ञान और चारित्र और दर्शन के कच्चे होते हैं। इन सब की बातों में चारित्र मोहनीय नामक छद्मवेषी नटराज का ही प्रत्यक्ष चमत्कार दिखाई देता है। जब नटराज का यह नाटक साधक के अंतरंग जीवन में खेला जाता है, तब तक एक तरफ ज्ञानावरणीय, दूसरी तरफ दर्शनावरणीय, तीसरी तरफ असातावेडनीय, चौथी तरफ वीर्यांतराय और पाँचवी तरफ उस नटराज के शिष्य जैसे पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसंकवेद, हास्य रति, भय शक्ति आदि नाटक में भाग लेकर साधक को परेशान करने में कोई कसर बाकी नहीं रखते हैं। यह नाटक मंडली भावसंयम, भावलिंग भावसाधुता की कट्टर दुश्मन है। ऐसी स्थिति में साधक के पास वैराग्य राजा का एक भी सैनिक न हो तो संयमधारी की

दशा दयनीय हो जाती है ? और भयानक से भयानक पाप-कर्मों की उपार्जना तथा असातावेदनीय कर्म के खजाने भरने के सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं रहता है।

जब साधक गुरुकुलवासी हो तपस्वी हो, स्वाध्यायी हो, और गुरुदेव के सामने ही रहने वाला हो तब इस मंडली की असर नहीं हो पाती है और साधक बीज के चंद्रमा की माफिक अपनी ज्ञानशक्ति की शुद्ध आराधना में आगे बढ़ता जाता है इसलिए मुनिधर्म से साधक के पांच भेद आराधना और विराधना की अपेक्षा से बनाय गये हैं।

इस प्रस्तुत प्रश्न में पाँच प्रकार के मुनिओं की ३६ प्रकार से विचारणा विस्तृत भाव से की गई है। जो इस प्रकार है :

(१) प्रज्ञापना द्वार (२) वेदद्वार (३) राग (४) कल्प (५) चारित्र (६) प्रतिसेवना (७) ज्ञानद्वार (८) तीर्थद्वार (९) लिंगद्वार (१२) शरीरद्वार (११) क्षेत्रद्वार (१२) कालद्वार (१३) गतिद्वार (१४) संयमद्वार (१५) संनिकर्षद्वार (१६) योगद्वार (१७) उपयोग (१८) कषाय (१९) लेश्या (२०) परिणाम (२१) बंध (२२) वेदनकर्म का वेदन (२३) उदीरणा (२४) उपसंपदा (२५) संज्ञा (२६) आहार (२७) भव (२८) आकर्षक (२९) कालमान (३०) अंतर (३१) समुद्घात (३२): क्षेत्रद्वार (३३) स्पर्शनाद्वार (३४) भावद्वार (३५) परिणाम द्वार (३६) अल्प-बहुत्वद्वार।

इन ३६ द्वारों के जरिये पांच प्रकार के निर्ग्रथों का निर्णय करने का है। जो खास जानने जैसा होने से उसका विचार सूत्र के अनुसार होगा।

(१) प्रज्ञापना द्वार और उसकी वक्तव्यता हे प्रभो ! पुलाक मुनि के कितने भेद हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, 'हे गौतम, उनके पाँच भेद हैं : (१) ज्ञान पुलाक (२) दर्शन पुलाक, (३) चारित्र पुलाक (४) लिंगपुलाक (५) यथासूक्ष्म पुलाक।

पुलाक यानि निस्सार धान्य या अन्न के कण । धान्य के दाने ऊपर ऊपर से अच्छे दिखते हैं, लेकिन अंदर से उसमें सार नहीं होता है । उसी प्रकार पुलाक मुनि को भी जानना। चारित्रधारी होने के बावजूद भी संयम के दूषणों से भावसंयम को असार बना देते हैं।

पुलाक संयमी के दो भेद हैं : (१) लब्धि पुलाक (२) प्रतिसेवना पुलाक, चतुर्विध संघ की सेवा के लिए या उस पर छाई आपत्ति को दूर करने के लिए चक्रवर्ती के सैन्य या चक्रवर्ती का नाश करने की शक्ति लब्धिपुलाक मुनि के पास रहती है। जबकि प्रतिसेवना मुनि के पाँच भेद इस प्रकार हैं : (१) ज्ञान-पुलाक :—अच्छा ज्ञानवान मुनि भी चारित्र मोहनीय कर्म से उत्पन्न हुए मोह और दर्शनावरणीय कर्म की वजह से प्राप्त निद्रा आदि को लेकर प्रमादवश होता है और अपने पूर्वभव के पुण्योदय से प्राप्त क्षयोपशम् को मलिन, दूषित और स्खलित करता है।

(२) दर्शन पुलाक : स्वाध्याय का प्रमादी साधक आहिस्ता-आहिस्ता मिथ्यात्व मोहनी की ओर प्रस्थान करके सम्यग्-दर्शन को, भक्ति को, उपासना को और श्रद्धा को भी दूषित करता है।

(३) चरित्र पुलाक :—दर्शन तथा ज्ञान की ओर स्खलित होने के बाद अपनी आराधना को और क्रियाकांड को भी दूषित करता है।

(४) लिंग पुलाक :—यानि कारण बिना दूसरे लिंग [वेष] को परिधान करता है।

[५] यथा सूक्ष्म पुलाक :—आहिस्ता-आहिस्ता मन से अकल्पित अर्थात् जिसका सेवन चरित्र के लिए अयोग्य है, उसके प्रति आकर्षित होकर उसका सेवन करता है।

बकुश निर्ग्रन्थ :

अशुद्ध और अशुभ अध्यवसायों के कारण अपने चरित्र को जो चित्र, विचित्र करता है उसे बकुश कहते हैं। जो उपकरण बकुश और शरीर बकुश भेद से दो प्रकार का है :

[१] नये पापों को रोकने के लिए और निर्जरा तत्वों की आराधना के लिए जिन उपकरणों का स्वीकार किया था, चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से साधक अपनी संयमशुद्धि का ख्याल न करते हुए उन्हीं उपकरणों को ही सुन्दर और चक-चकित रखने में तन्मय होता है वह उपकरण बकुश है।

[२] शरीर को तथा हाथ, पैर, मुंह, नाखून आदि अंग को स्वच्छ रखने वाला शरीर बकुश कहलाता है।

यद्यपि आत्मकल्याण की उत्कृष्ट भावना है, मोक्ष का रटण है, सीमंधरस्वामी का ध्यान है, फिर भी साधक की ज्ञानोपासना कमजोर होने से चारित्र मोहनीय को उपशमित करने का प्रयत्न नहीं किया जा सका है। इसलिए बकुशमुनि के भी पांच भेद हैं :

[१] आभोग बकुश :—इस भेद में रहा साधक मुनि समझता है कि, "उपक्रियते संयमः येन स उपकरणम्" इस

परिभाषा के मुताबिक संयम को शुद्ध करने के लिए ही उपकरण हैं।

फिर भी वह मोह के वश में आकर उपकरणों को सुशोभित करने में व्यस्त रहता है।

(२) अनाभोग बकुश :—मुनि दीक्षा के बाद भी यह नहीं समझता है कि, ओघा, डंडासन आदि का उपयोग कैसे करने का है ? इसलिए वह दोष का सेवन करता है, वर्धन करता है, उसे अनाभोग बकुश कहते हैं।

(३) संवृत बकुश :—मुनि अपने चरित्र पालन के लिए दस प्रकार के प्रत्याख्यान स्वरुप उत्तर गुणों से युक्त होने के बावजूद किसी को भी नालूम न हो इस प्रकार गुप्तता से दोषों का सेवन करता रहता है।

(४) तीसरे नंबर से विपरित जानना।

(५) यथा सूक्ष्म बकुश मुनि शरीर के अंगों को बिना कारण स्वच्छ रखने में मस्त रहता है।

कुशील ग्रंथ

"कुत्सितं शीलं चारित्रं यस्य स कुशीलः" जिसका चारित्र या उसकी आराधना कुत्सित यानी सम्यक् प्रकार से न हो उसे कुशील कहते हैं। इसके दो भेद हैं : (१) प्रतिसेवन कुशील (२) कषाय कुशील।

प्रतिसेवना कुशील में उत्तर गुणों की आराधना समझनी चाहिए यानि की मूल गुणों की रक्षा के लिए उत्तर गुणों की आराधना अनिवार्य होने के बावजूद जो साधक उन गुणों

की विराधना करता है वह प्रतिसेवना कुशील है और कषाय कुशील में संज्वलन कषायों की उदीर्णा करने से दोष लगता है उसे कषाय कुशील कहते हैं। प्रतिसेवना कुशील पाँच प्रकार से है। (१) ज्ञान प्रतिसेवना कुशील (२) दर्शन प्रतिसेवना कुशील (३) चारित्र प्रतिसेवना कुशील (४) लिंग प्रतिसेवना कुशील (५) यथा सूक्ष्म प्रतिसेवना कुशील।

[१] जो प्रमादी मोही हैं, संसार और संसारीओं की झंझट में पड़कर नया पढ़ने का छोड़ देते हैं और पुराने को याद नहीं करते हैं तथा अपने स्वार्थ और अहं को पोषण के लिये तथा जीविका की लालसा के लिए सम्यग्ज्ञान को वाक्चातुर्य से दूषित करते हैं वे प्रतिसेवना कुशील है।

[२] सम्यग्दर्शन की शुद्धि की ओर से बेखबर रहकर आत्मा को मलिन करने में जो प्रयत्नशील हैं वे दर्शन प्रतिसेवना कुशील हैं।

[३] जिससे चारित्र की आराधना शिथिल हो उसे चारित्र प्रतिसेवना कुशील जानना।

[४] जैनत्व साधु मुनि लिंग से अतिरिक्त लिंगों की और राग रखे उसे लिंग प्रतिसेवना कुशील कहते हैं।

[५] अन्य लोगों द्वारा की जाती अपनी प्रसंशा जो खुद सुने और सुनकर उसके अनुसार उदीर्णा करें उसे यथा सूक्ष्म प्रतिसेवना कुशील कहते हैं।

कषाय कुशील भी ऊपर दिये गये पांच भेद से संपन्न हैं। उसमें विशेषता इतनी ही है कि, जो साधक उसे प्राप्त ज्ञानदर्शन तथा लिंग (वेष) का कषाय प्रवृति में उपयोग

करता है उसे दर्शनज्ञान और लिंग कषाय जानना। कषायाधीन होकर दूसरों को शाप देता है वह चारित्र कषाय कुशील है। मानसिक जीवन में कषायों की वृत्ति तथा प्रवृत्ति को मर्यादित न करने को यथासूक्ष्म कषाय कुशील कहते हैं।

निर्ग्रन्थ मुनि

जो साधक मोहनीय कर्म से रहित हो, कर्म की ग्रंथि को जिसने शिथिल कर दी हो, कर्म के पिंजड़े से मुक्त होने की चरम सीमा जिसने प्राप्त की हो, या बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह की ग्रंथी जिसने तोड़ी हो वह निर्ग्रन्थ मुनि कहलाता है, जिसके पाँच भेद हैं :

(१) प्रथम समयवर्ती (२) अप्रथम समयवर्ती (३) चरम समयवर्ती (४) अचरम समयवर्ती (५) यथा सूक्ष्य निर्ग्रन्थ।

उपशांत नामक ग्यारहवें गुणस्थानक में तथा क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानक में वर्तमान मुनि निर्ग्रन्थ बनता है। इसमें ग्यारहवें गुणस्थान में कषायो का उपशम होने से वह मुनि निर्ग्रन्थ है। कषायों को उपशांत करने की विधि तथा क्रम इस प्रकार है, साधक सबसे पहले अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ को उपशांत करे, उसके बाद क्रमशः तीन मिथ्यात्व प्रकृति, नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, हास्यादिषट्क, पुरुष वेद, अप्रत्याख्यानी तथा प्रत्याख्यानी क्रोध, संज्वलन क्रोध, अप्रत्याख्यान तथा प्रत्याख्यान माया, संज्वलन माया, अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान लोभ आदि का उपशांत करता है। इस प्रकार मोह कर्म का संपूर्ण उपशम किया जाता है।

उसके बाद चरम शरीरी हो तो आगे बढ़ के १२ वें गुणस्थान में मोहकर्म का समुचा नाश होने के बाद इस स्थानक में अंतिम वक्त ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतरायकर्मों का शमन होते वक्त (१३) तेरहवां गुणस्थानक प्राप्त होता है, जो केवली का है।

ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानक में रहते साधक वीतराग होते हैं लेकिन छद्मस्थ वीतराग कहलाते हैं। जो अन्तर्मुहूर्त काल के अनुसार है। उसके प्रथम समय में वर्तमान प्रथम समय निर्ग्रन्थ कहलाता है। दूसरे समय में वर्तमान हो वह अप्रथम समय निर्ग्रन्थ है। इस प्रकार उपशांत और चरमक्षीणमोह के चरम समय में वर्तमान हो वह चरम-समय निर्ग्रन्थ और शेष समय में वर्तमान हो वह अचरम समय निर्ग्रन्थ तथा समय की विवक्षा बिना का यथासूक्ष्म निर्ग्रन्थ जानना।

स्नातक मुनि

जिन पुण्यशालीओं ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है वे स्नातक हैं उनके पाँच भेद हैं :

[१] अच्छवी—जो काययोगरहित हो।
[२] अशबल—दोषरहित विशुद्ध चारित्रवान हो।
[३] अकर्मांश—घातीकर्मरहित हो।
[४] संशुद्ध—केवली हो।
[५] अपरिस्रावी—कर्म बंधन तूट गये हों।

सबका अर्थ लगभग समान है। इसलिए शक्र-पुरंदर शब्दों की तरह केवल शैब्द नयसे किये भेद जानने।

[२] वेद द्वार :—पुलाक मुनि क्या सवेदक होते हैं ? या अवेदक होते हैं ? जवाब में कहा गया है कि, 'पुलाक मुनि सवेदक ही होते हैं, वेद कर्म के उदय बिना के होते नहीं हैं। इस प्रकार बकुश मुनि और प्रतिसेवना कुशील मुनियों के लिए भी जानना। क्योंकि यह तीन मुनि उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी शुरु करने की योग्यता वाले नहीं होते हैं। पुलाक मुनि को पुरुषवेद या नपुसंकवेद का ही उदय रहता है। क्योंकि स्त्री को पुलाक लब्धि नहीं होने से उसे स्त्रीवेद नही है।

नपुसंक वेद में भी कृत्रिम यानि कि शस्त्रादि के घात से या किसी के शाप से लिंग कट गया हो उन नपुसंकों का यहां ग्रहण हैं। लेकिन पूर्वभव के महापापी जीवन को लेकर बने हुए नपुसंकों को ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि ऐसे नपुसंकों को दीक्षा भी नहीं ही जा सकती है, मतलब कि संयम पालन की उनके पास योग्यता न होने से वे दीक्षा के योग्य भी नहीं है, तो पुलाक लब्धि की तो बात ही क्या करनी ?

बकुशमुनि और प्रतिसेवना कुशील मुनि तीन वेद कर्मों के उदयवाले हो सकते हैं। यानि कि यह दोनों मुनि पुरुष होंगे तो पुरुष वेद वाले स्त्री होंगे तो स्त्रीवेद वाले और कृत्रिम नपुसंक होंगे तो नपुसंक वेदकर्म उदय वाले होगे।

कषाय कुशील मुनि सवेदक और अवेदक भी होता है। सवेदक होता है तभी छट्ठे प्रमत गुणस्थानक में, सातवें अप्रतम गुणस्थाक में और आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानक में वेदोदय जानना। उसके बाद नववें अनिवृतिबादर गुणस्थानक में, दसवें सूक्ष्म संपराय गुणस्थानक में वेद मोहनीय कर्म उपशांत या क्षीण हो तब वे मुनि वेदकर्म के उदयवाले न होने से

उनको अवेदक कहा गया है। सवेदक हो तो तीनों वेद जानना और निर्ग्रन्थ तथा स्नातक मुनि अवेदक ही होते हैं।

कृत्रिम-अकृत्रिम नपुसंकों का वर्णन प्रथम भाग से ही जानना और तीनों वेदों का वर्णन दूसरे भाग से जानना।

सत्ता में रहने वाला वेद मोहनीय कर्म जब उदय में आने वाला होता है तब पुरुष को स्त्री तथा स्त्री को पुरुष के साथ नपुसंक को पुरुष या स्त्री के साथ शरीर की प्राप्ति, सहवास, हास्य, उसके बाद वार्तालाप, आदान-प्रदान, संकेत आदि की सुलभता प्राप्त होते ही मुनि चलाययान हो जाता है। क्योंकि उस उस कर्म को दबा देनेवाला स्वाध्यायबल, तपश्चर्या बल या गुरुसान्निध्यका बल आंतरिक जीवन में से नष्ट हो चुका होता है।

वेदना की तीव्रता से या उदीर्णा से उदय में आया वह कर्म प्रच्छन्न होकर मुनि को सताये बिना नहीं रह सकता है। इसलिए जो उत्तम निमित होता है वह भी मुनि के लिए तो मात्र रीतीरिवाज जैसा बनकर रह जाता है। इसी वजह से दोनों श्रेणी प्राप्त करने के लिए या उसके जरीय केवलज्ञान के द्वार तक पहुँचने की योग्यता उनके भाग्य में नहीं रहती है।

(२) राग द्वार :—पुलाक, बकुश और कुशील मुनि रागवाले होते हैं। लेकिन बिना राग के (विशेषण इतः—गतः रागः यस्मात् स वीतरागः) वीतराग नहीं होते हैं। जबकि निर्ग्रंथ और स्नातक मुनि वीतराग होते हैं। ११-१२ गुण स्थानक में रहनेवाले छद्मस्थ वीतराग होते है। जबकि केवलज्ञान के बाद क्षीण कषाय वीतराग अवस्था के मालिक होते हैं।

संसारवर्ती जीवमात्र को अपनी कैद में लेनेवाला यह राग मोहराजा का बड़ा सैनिक है। तभी तो १० गुणस्थानक पर पहुँचनेवाला महातपस्वी, ज्ञानी, ध्यानी मुनि को भी राग के अधीन होने में समय नहीं लगता है। ग्यारहवें गुणस्थानक वाले मुनि वीतराग कहलाते हैं। लेकिन, एक समय की प्रमाद की वजह से निचे गिरने से बच नहीं सकते हैं। इसलिए उपशम श्रेणी की सता में पड़ी प्रकृति का भरोसा नहीं करना चाहिए।

जबकि क्षपक श्रेणी में स्थित मुनि को राग का जरा भी भय नहीं रहता है। ११-१२ गुणठाणे में रहते मुनि यद्यपि वीतराग हैं, फिर भी उनमें छद्मस्थापन होने से वे छद्मस्थ वीतराग कहे गये हैं। कर्मों की कुटिलता के कारण ११ वें गुणठाणे के मालिक का प्रस्थान भी क्वचित् संसार की ओर हो सकता है। जबकि १२ वें गुणठाणे के मालिक का प्रस्थान केवलज्ञान की ओर होता है।

(४) कल्पद्वार :—कल्पसूत्र में आते आचलेक्यादि दस जाति के कल्प (आचार) में प्रथम और चरम तीर्थंकर के मुनिओं को कल्प की मर्यादा निश्चित होने से वे कल्पस्थित कहे गये हैं। मध्य के बाईस तीर्थंकर के मुनि क्वचित् कल्प में हो, न भी हो। इसमें पुलाक मुनि होते हैं। यावत् स्नातक भी होते हैं।

पुलाक मुनि स्थविर कल्पी है :

बकुश और प्रतिसेवना कुशील जीतकल्पी और स्थविर-कल्पी हैं, लेकिन कल्पातीत नहीं हैं।

कषाय कुशील मुनि, जीत कल्पी स्थविर कल्पी और कल्पातीत भी जानना। क्योंकि, छद्मस्थ तीर्थंकर सकषायी होने के बावजूद कल्पातीत भी है।

निर्ग्रंथ और स्नातक कल्पातीत होते है :

(५) चारित्रद्वार :—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि केवल सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र में होते हैं। लेकिन परिहार विशुद्ध, सूक्ष्म संपराय या यथाख्यान चारित्र उनके भाग्य में नहीं होता है।

कषाय कुशील मुनि यथाख्यान चारित्र में नहीं होते हैं, इसलिए प्रथम चार चारित्रों के वे मालिक होते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक मुनि यथाख्यात चारित्र के ही होते हैं।

(६) प्रतिसेवना द्वार :—संज्वलन कषाय के उदय से संयम की विराधना करनेवाले को प्रतिसेवक कहा जाता है। पुलाकमुनि प्रतिसेवक होते हैं और मूलगुण उत्तरगुण की विराधना करते हैं। मूलगुण में एकाद आश्रव का और उतरगुण-दशविध प्रत्याख्यान में से एकाद का विराधक जानना। प्रतिसेवना कुशील को भी इस प्रकार जानना। बकुशमुनि उतरगुण का विराधक होता है, जबकि कषाय-कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक मुनि विराधक नहीं बल्कि आराधक होते हैं।

(७) ज्ञान द्वार :—पुलाक बकुश और प्रतिसेवना कुशील दो या तीन ज्ञान के मालिक होते हैं। दो हो तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। तीन ज्ञान में अवधिज्ञान ज्यादा जानना।

कषायकुशील मुनि को, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, मतिश्रुत और अवधिज्ञान, मतिश्रुत और मनःपर्यव तथा चार ज्ञान हो तो मति, श्रुत अवधि, मनःपर्यव जानना। निर्ग्रंथ को भी इस प्रकार से जानना। जबकि स्नातक को चार ज्ञान नहीं होते हैं लेकिन केवलज्ञान होता है।

(८) श्रुतद्वार :—पुलाकमुनि जघन्य से नववें पूर्व की तीसरी आचार वस्तू तक पढ़ते हैं और उत्कृष्ट से नवपूर्व संपूर्ण।

बकुश जघन्य अष्टप्रवचन माता तक और उत्कृष्ट से दस पूर्व तक अभ्यास करते हैं। प्रतिसेवना कुशील भी इस प्रकार जानना। चारित्र पालन में ५ समिति, ३ गुप्ति मुख्य होने से अष्टप्रवचन माता का ज्ञान होना जरूरी है)।

कषायकुशील और निर्ग्रन्थ जघन्य से अष्टप्रवचन माता तक तथा उत्कृष्ट से चौदह पूर्व का ज्ञान होता है। जबकि स्नातक अरिहंत परमात्मा श्रुतिरहित हैं, क्योंकि केवलज्ञान की विद्यमानता में अगले क्षायोपशमिक ज्ञान की समाप्ति होती है। मतलब कि उनकी आवश्यकता नहीं रहती हैं।

[९] तीर्थ द्वार :—पुलाक-बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि तीर्थ की विद्यमानता में ही होते हैं। जबकि कषायकुशील मुनि तीर्थ में और अतीर्थ में भी होते हैं। यहाँ पर अतीर्थ के दो अर्थ जानना :

[१] कषाय कुशील तीर्थंकर छद्मस्थ अवस्था में रहें तभी उस अपेक्षा से अतीर्थ।

[२] तीर्थ का विच्छेद होने के बाद अन्य चरित्रवान जो कषाय कुशील होता है। इस प्रकार निर्ग्रन्थ और स्नातक को

भी जानना। जिस प्रकार मरु देवी माता अतीर्थ स्नातक थे। ऋषभदेव की तीर्थ स्थापना से पहले अतीर्थ काल था। और मरूदेवी माता ने केवलज्ञान की प्राप्ति की थी। जबकि जम्बूस्वामी तीर्थकाल में केवलज्ञानी बने थे। क्योंकि उनके केवलज्ञान के वक्त स्वामी यहावीर का शासन था। आज भी है और पाँचवें ओर के अंत तक रहेगा।

[१०] लिंगदार :—पुलाक से लेकर स्नातक तक के मुनि द्रव्यलिंग से, स्वलिंग, अन्य लिंग या गृहस्थ लिंग में भी है और भावलिंग की अपेक्षा से स्वलिंग में भी होते हैं। गृहस्थ या अन्य लिंग में नहीं होते हैं। यहाँ लिंग यानि वेष जानना। जो द्रव्य और भाव के आश्रय से दो प्रकार का है। इनमें ज्ञानादि भावलिंग है जो, अरिहंतों को होने से स्वलिंग है।

द्रव्यलिंग स्व और पर के दो भेद का है। जिसमें रजोहरणादि का द्रव्य से स्वलिंग जानना। जबकि पर लिंग के दो भेद हैं। कुतीर्थिक लिंग और गृहस्थलिंग। पुलाक मुनि को तीनों प्रकार का द्रव्य लिंग होता है क्योंकि चारित्र के परिणाम को द्रव्यलिंग की अपेक्षा नहीं होती है।

[११] शरीरद्वार :—पुलाकमुनि औदारिक-कार्मण और तैजस् शरीर में होते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक भी इसी प्रकार जानना। बकुश और प्रतिसेवना कुशील तीन तथा आहारक शरीर को छोड़कर चार शरीर में भी जानना। कषाय कुशील तीन, चार और पांच शरीर में भी होता है।

[१२] क्षेत्रद्वार :—पुलाक मुनि जन्म और सद्भावना की अपेक्षा से कर्मभूमि में होते हैं। अकर्म भूमि में नहीं होते

हैं। क्योंकि जन्म यानि उत्पत्ति और सद्भाव यानि चारित्र जो कर्मभूमि में ही होता है। अकर्मभूमि यानि भोग भूमि और उसमें जन्म लेनेवालों के भाग्य में चारित्र नहीं होता है। इसी प्रकार पुलाक लब्धि सम्पन्न मुनि का संहरण नहीं होता है।

शेष मुनि जन्म और सद्भाव की अपेक्षा से कर्मभूमि या अकर्मभूमि में भी हो सकते हैं।

[१३] कालद्वार :—पुलाक मुनि उत्सर्पिणी, अपसर्पिणी तथा नोउत्सर्पिणी अ र नोअवसर्पिणी के तीनों काल में होते हैं। भरत और ऐरावत में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल है, जबकि महाविदेह क्षेत्र और हैमवतादि क्षेत्रों में नोअपसर्पिणी और नोउत्सर्पिणी काल हैं। वह पुलाक मुनि अवसर्पिणी काल में सुषमा, शुषमा काल में (प्रथम आरा में) तथा सुषमा नाम से दूसरे आरे में जन्म नहीं लेता है लेकिन तीसरे और चौथे आरे में जन्म लेता है। लेकिन पांचवें आरे में जन्म नहीं लेता है। जबकि चारित्र की अपेक्षा से तीसरे, चौथे और पाँचवें आरे में होता है। चौथे आरे में जन्म लिया हो तो पाँचवें आरे में चारित्र होता है।

उत्सर्पिणी काल में दूसरे, तीसरे और चौथे आरे में जन्म लिया हो तो, दूसरे के अंत में जन्म लिया हो, और तीसरे में चारित्र का स्वीकार किया होता है। तीसरे और चौथे आरे में जन्म और चारित्र दोनों होते हैं। महाविदेह क्षेत्र में जन्म और चारित्र की अपेक्षा से दोनों का सद्भाव जानना। यहाँ सुषमा सुषमा [प्रथम आरा] जैसा काल महाविदेह क्षेत्र में आये देवकुरु तथा उतरकुरु में होता है। दूसरे

आरे जैसा काल [सुषमा] हरिवर्ष और रम्यक्षेत्र में होता है। तीसरे आरे जैसा काल हिमवत और हैरण्यवत क्षेत्र में और दुषम सुषमा यानि चौथे आरे जैसा समय महाविदेह क्षेत्र में होता है।

बकुश मुनि अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में होते हैं। अवसर्पिणी में हो तो तीसरा, चौथा, पांचवा आरा में जानना और उत्सर्पिणी में हों तो जन्म की अपेक्षा स पुलाकवत् और चारित्र की अपेक्षा से पाँचवें, छठे आरे मे नहीं होता हैं। शष पुलाकवत सहरण की अपेक्षा से किसी भी काल म होता है।

[१४] गतिद्वार :—मृत्यु के बाद पुलाक मुनि जघन्य स सौधर्म देवलोक और उत्कृष्ट से सहस्रार देवलोक में जन्म लेते हैं। बकुश उत्कृष्ट स अच्युत कल्प में जन्म लेता है, प्रतिसेवना कुशील के लिए भी यही जानना। कषाय कुशील की गति पुलाक की तरह जाननी, लेकिग भवनपति, व्यंतर और ज्योतिष में उनका उत्पाद नहीं है। कषायकुशील उत्कृष्ट स अनुतर विमान में जन्म लेता है, जबकि स्नातक सिद्धशीला में बीराजमान होता है।

पुलाकमुनि यदि संयम की विराधना न करें तो इन्द्र, सामानिक देव या त्रायस्त्रिश देव होते हैं : लोकपालरुप में भी जन्म लेते है।

लेकिन अहमिन्द्ररूप में जन्म नहीं लेते हैं और संयम की विराधना की हो तो वैमानिक देव नहीं बनता है, लेकिन भवनपति, व्यंतर या ज्योतिष बनता है। इस तरह बकुश और प्रतिसेवना कुशील के लिए भी जानना। कषाय कुशील मुनि विराधक हो तो पूर्ववत् जानना। निर्ग्रन्थ लोकपाल के रुप में

जन्म नहीं लेते हैं। देवलोक को प्राप्त करनेवाला पुलाक जघन्य से दो या नव पल्योपम और उत्कृष्ट से १८ सागरोपम की तथा बकुश की उत्कृष्ट स्थिति २२ सागरोपम की कषाय कशील की ३३ सागरोपम की जबकि निर्ग्रन्थ की जघन्य और उत्कृष्ट से ३३ सागरोपम की जाननी।

(१५) संयम द्वार :—पुलाक-बकुश-प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील के संयमस्थान असंख्यात हैं। निर्ग्रंथ और स्नातक को केवल एक ही संयम स्थान है। इसलिए सबसे कम संयम स्थान निर्ग्रंथ और स्नातक के हैं। स्नातक केवली होने के कारण मोहकर्म सर्वथा निर्मूल हो गया है इसलिए वे संयम में सर्वथा और सर्वदा स्थिर रहते हैं। निर्ग्रन्थ यद्यपि उपशमित हैं फिर भी मोह के काले नाग को उन्होंने निर्विष कर दिया है इसलिए उनका संयम शुद्ध स्फटिक जैसा रहता है। यही वजह है कि उनको चढ़ना-उतरना नहीं पड़ता है। जबकि शेष मुनिओं का मोहकर्म-क्षयोपशम विशेषण से विशेषित होता है अथवा क्षायिक सम्यक्त्वी हो तो भी चारित्र की क्षायिक अवस्था उन्होंने प्राप्त नहीं की है इसलिए एक बार संयम की साधक प्रकृति का उदय होता है और दूसरी बार उनकी बाधक प्रकृति का उदय भी हो सकता है। आत्मा के प्रदेश पर जब चारित्रोदय और चारित्र मोहनीय के बीच जंग होती है तो उसमें से किसी एक की अल्पांश जीत और दूसरे की हार होती है। इस प्रकार ज्ञानोदय और ज्ञानावरणीयोदय आदि कर्मों की साधक व बाधक प्रकृति जान लेनी चाहिए। इस परिस्थिति को ख्याल में रखने के बाद संयम के उपकरण और बाह्यानुष्ठान सब मुनिओं के एक समान होने के बावजूद भी आन्तरिक अध्यवसाय कर्म

के कारण किसी का भी समान नहीं होता है। इसलिए शुद्ध और अशुद्ध कम या ज्यादा हो सकती है। इसका ही नाम संयमस्थान है, जो असंख्यात है, जैसे कि, एक साधक में संयम की अशुद्धि एक पैसे जितनी होती है, दूसरे में दो पैसे जितनी तीसरी में तीन पैसे जितनी जबकि किसी में ज्ञानावरणीयादि कर्मों के तीव्र उदय से ९९ पैसे जितनी भी हो सकती है। आज एक साधक में ९९ जितनी अशुद्धि है तो कल ९९ जितनी शुद्धि भी संभवित है और कभी ऐसा भी समय आता है कि आज चार वक्त खानेवाला आलसी-प्रमादी आदमी कल निर्ग्रन्थ भी होता है और केवलज्ञान प्राप्त करके स्नातक भी बन जाता है। जबकि दूसरा साधक ग्यारहवें गुणस्थानक पर चढता जाता है, चौद पूर्व का ज्ञाता भी बन जाता है, लेकिन चारित्रमोहनीय कर्म की वजह से एक-एक पैसे जितना नीचे गिरता हुआ एकदम तलभूमि में आ गिरता है। इन सब बातों में साधक और बाधक प्रकृति के चमत्कार सबको प्रत्यक्ष देखने को मिलते हैं।

इसलिए किसी भी मुनि, या किसी भी संघाडे की भर्त्सना, अवहेलना या अपमान तिरस्कार करना निंदनीय कर्म है। रोजिंदे जीवन में अच्छे दिखनेवाले साधक भी कभी-कभी आन्तरजीवन में कषाय क्लेष के गिल्ली-डंडे खेलते रहते हैं और ज्ञान साधना की जगह पर द्रव्य साधना और संयम के बहाने अपने मान स्वमान की आराधना करते रहते हैं। तब जानना चाहिए कि संयम स्थानों को केवल आत्मा के साथ ही सम्बन्ध होता है। निर्ग्रन्थ और स्नातकों के संयम स्थान सबसे कम हैं पुलाक के और बकुश के असंख्यात गुने, उससे ज्यादा प्रतिसेवना के और सबसे

ज्यादा संयमस्थान कषाय कुशील के होते हैं।

(१६) संनिकर्ष द्वार :—पुलाक मुनि को स्वस्थान संनिकर्ष अपने जातीय चारित्र पर्याय यानि कि एक पुलाक, दूसरे पुलाक की चारित्र पर्याय की अपेक्षा से क्वचित् हीन हो, क्वचित् तुल्य हो या क्वचित् अधिक भी हो सकता है। हीन हो तो अनंत भाग से हीन, असंख्यात भाग से हीन, संख्यात भाग से हीन, संख्यातगुना हीन, असंख्यातगुना हीन होता है। यदि अधिक हो तो अनंत भाग से अधिक, असंख्यात भाग से अधिक, संख्यात भाग से अधिक, असंख्यातगुना अधिक और संख्यातगुना अधिक होता है। स्व यानि अपने, सजातीय स्थान यानि पर्यायों के आश्रय। सारांश यह है कि, पुलाकादि को पुलाकादि का संनिकर्ष-संयोजन हो उसे स्वस्थान संनिकर्ष कहते हैं। जिस पुलाकमुनि के आत्मिक अध्यवसाय के कारण संयमस्थान विशुद्ध नहीं होते हैं, वह मुनि शुद्ध पर्यायवाले दूसरे मुनि से हीन होता है। तथा पर्याय हीन होने के कारण मुनि भी हीन कहलायेगा। जिनके पर्याय समान होते हैं वह परस्पर तुल्य होते हैं और हीन से शुद्ध पर्यायवाला मुनि अधिक कहलाता है।

बाह्य वेष और क्रियाकांड सबके एक समान हो फिर भी आन्तरिक जीवन की शुद्धता, शुद्धतरता या हीनता तथा हीनतरता दूसरों के लिए चाहे अलभ्य रहती हो तो भी चारित्रमोहनीय कर्म का उदय सब जीवों को अलग-अलग होने से समय-समय पर बदलते अध्यवसायों की वजह से भावलींगी मुनि भी शुद्ध या अशुद्ध बनता है। वह अशुद्धता किसी मुनि की दूसरे मुनि अपेक्षा से अनंत भाग जितनी,

किसकी असंख्यात भाग जितनी, किसी की संख्यात भाग जितनी हीन हो, जबकि किसी की दूसरे मुनि की अपेक्षा से अनंत गुनी, असंख्यातगुनी या संख्यात गुनी हों तब वह मुनि षट्स्थानक पतित कहलाता है। मतलब की अनंत भाग, असंख्यात भाग, संख्यात भाग अनंत गुना, असंख्यातगुना और संख्यात गुना हीन जानना।

पुलाकमुनि अपने चारित्र पर्यायों द्वारा बकुश मुनि के परस्थान संनिकर्ष यानि विजातीय चारित्र पर्यायों की अपेक्षा से अनंतगुणहीन होता है। इस प्रकार प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील के लिए भी जानना। इसी प्रकार सजातीय पर्याय की अपेक्षा से षट्स्थानक पतित ही जानना। पुलाक दूसरे पुलाक का सजातीय है और बकुश का विजातीय है। यह बात सर्वत्र जाननी।

पुलाक और कषाय कुशील मुनि का सर्व जघन्य संयम स्थान सबसे कम है। वहाँ से ये दोनों साथ मिलकर असंख्य संयम स्थान तक जाते हैं। क्योंकि दोनों के अध्यवसाय वहाँ तक तुल्य होते हैं। किन्तु इन दोनों में से पुलाक मुनि हीन परिणामी होने से अग्रिम संयम स्थानों में नहीं जा सकता है। इसलिए वह वहीं रुक जाता है। उसके बाद अकेला कषाय-कुशील असंख्यात संयमस्थान तक जाता है और प्रतिसेवना कुशील तथात बकुश मुनि का साथ मिलते ही यह तीनों असंख्य संयम स्थान तक जाते हैं। लेकिन बकुश मुनि आगे जाने के लिए समर्थ हो नहीं पाता इसलिए रुक जाता है और प्रति-सेवना कुशिल तथा चारित्र कुशिल मुनि साथ मिल के आगे बढ़ते हैं और असंख्य स्थान तक जाने के बाद दीपक में से

जैसे तेल समाप्त हो जाने के बाद जब वह विश्राम लेता है उसी तरह प्रति सेवना कुशील उस स्थान पर रुक जाता है। फिर भी कषाय कुशील थोड़ी हिम्मत जुटाके अकेला आगे बढ़ता है और असंख्यात संयम-स्थान तक जाने के बाद उसकी हिम्मत भी खत्म हो जाती है। मतलब यह कि पुलाक बकुश और प्रतिसेवना कुशिल को हटाने के बाद जिस स्थान पर आये थे वहाँ से आगे जाने के लिए उस भाई को उसने ही उत्पन्न किये हुए, बढ़ाए हुए, पोषे हुए कषाय ही उसके दुश्मन होते हैं और उसे आगे बढ़ने नहीं देते। तब यह सब खेल-तमाशा देखकर निर्ग्रन्थ और स्नातक हिम्मत जुटाके तैयार होते हैं, 'और अष्भुट्ठिओमि आराहणाए' इस मंत्र का जाप करके निर्भयता से आगे बढ़ते हैं और दोनों एक ही संयम-स्थानों को प्राप्त करके अनादि काल से जो परिभ्रमण होता है उसकी थकान उतार देते हैं और वह थकान हमेशा के लिए चली जाती है।

इस वजह से निर्ग्रन्थ मुनि के संयम स्थान से पुलाक अनेकगुणा हीन है। बकुश मुनि पुलाक के चारित्र पर्यायों से अनंतगुने अधिक है। जबकि पुलाक, बकुश से हीन-तुल्य और अधिक है। प्रतिसेवना और कषाय कुशील से बकुश हीन है। बकुश दूसरे बकुश के सजातीय पर्यायों से हीन-तुल्य और अधिक भी होता है। हीन में षट्स्थानक पतित जानना चाहिए।

निर्ग्रन्थ और स्नातक से बकुश अनंतगुने हीन हैं।

निर्ग्रन्थ दूसरे निर्ग्रन्थ के सजातीय पर्यायों से तुल्य है।

पुलाक और कषाय कुशील के जघन्य चारित्रपर्याय अनंत-

गुना हैं। उससे बकुश और प्रतिसेवना कुशील के जघन्य पर्याय तुल्य और अनंतगुने हैं। उससे बकुश के उत्कृष्ट पर्याय अनंत-गुने, प्रतिसेवना कुशील के अनंतगुने, कषाय कुशील चारित्र पर्याय अनंतगुने और निर्ग्रन्थ तथा स्नातक पर्याय भी अनंत-गुने होते हैं।

(१७) सब मुनि मनयोगी, वचनयोगी और काययोगी होते हैं। स्नातक यदि सयोगी अवस्था में है, तो तीन योग जानना, इसी प्रकार उपयोग भी दोनों जानना।

(१८) कषाय द्वार :—कषाय कर्म का उपशम और क्षयो-पशम नहीं किया होने से, पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील को क्रोध मान, माया, और लोभ के रुप में चार कषाय होते हैं। कषायकुशील को संज्वलनकषाय भी चार होते हैं। क्वचित तीन हो तो मान-माया और लोभ, दो हो तो माया और लोभ और एक हो तो लोभ जानना। उपशम या क्षपक श्रेणी में संज्वलन क्रोध का उपशम या क्षय हो तो तभी तीन कषाय मान कषाय का उपशय या क्षय होने पर माया और लोभ शेष रहते हैं और सूक्ष्म संपराय गुणस्थापक में केवल लोभ ही शेष रहता है। निर्ग्रन्थ उपशांतकषायी भी होता है और क्षीण कषायी ही होता है। जबकि स्नातक क्षीणकषायी ही होता है। इसपर से हम जान सकते हैं कि, कषाय कितने भयंकर और केवलज्ञान के बाधक होते हैं। जिसका विवरण तीसरे भाग से जानना।

(१९) लेश्या द्वार :—पुलाक बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनिओं को तेजोलेश्या पद्मलेश्या, और शुक्ल लेश्या होती है। कषाय कुशील को छः लेश्या होती है। निर्ग्रन्थ को शुक्ल लेश्या और स्नातक को परमशुद्ध लेश्या जाननी।

(२०) परिणाम द्वार :—चारित्र पर्यायों के परिणाम घटते हैं, बढ़ते हैं या स्थिर रहते हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम, पुलाक, बकुश, प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील-मुनिओं के परिणाम बढ़ते हैं, घटते है और स्थिर भी रहते हैं। क्योंकि चारित्रमोहनीय कर्म के उदयकाल की बहुत ही विचित्रता होने के कारण साधक को निमित्त सहवास और सहवासीयों के कारण कषाय जन्य अशुभ परिस्थिति का सर्जन होने से साधक के चारित्र पर्याय घटते जाते हैं। इसी प्रकार अच्छे निमित्त और सहवास की वजह से पर्याय बढ़ते रहते हैं। लेकिन कभी-कभी पर्याय बढ़ते भी नहीं घटते भी नहीं लेकिन स्थिर रहते हैं। क्योंकि उन पुण्यशालीओं ने अपने पुरुषार्थ द्वारा मोह को, कषाय को तथा उसके निमित्तों का उपशमन या क्षय किया होता है। जिसकी वजह से उनके परिणाम नहीं पड़ते हैं। क्वचित् मोहकर्म के प्रबल उदय से उनके परिणामों की हानि होती हो यानि कि परिणामों से गिरा हुआ मुनि निर्ग्रन्थपद से पतित होकर कषायकुशील कहलायेगा। स्नातक मुनि को हीयमान परिणामों की निमित्तता सर्वथा क्षीण होने से उनके परिणाम हीन नहीं होते हैं।

पुलाक-बकुश और कुशील मुनि यदि परिणामों में बढ़ें तो जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त तक बढ़ते परिणामवाला होता है। क्योंकि चारित्र की आराधना में जब मस्ती आती है, तब परिणामों की धारा भी बढ़ती है। लेकिन चारित्रमोहनी कर्म और उसके बाहोश सैनिक प्रति समय शस्त्र तैयार करके ही बैठे रहते हैं। साधक को प्रमाद

होते ही कषाय जोरदार हुमला करते हैं और साधक को उसके शिविर में वापिस आना पड़ता है। सारांश यह है कि, कषाय का बाध होने पर एक समय कहा गया है, और बाध न हो तो उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त तक के चढ़ते परिणामों का अनुभव होता है। तथा स्थिर परिणाम जघन्य से एक समय का कहा गया है और उत्कृष्ट से सात समय जानना। निर्ग्रन्थ को जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से भी उतने ही समय का बढ़ता परिणाम जानना। तथा स्थिर परिणाम का जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अंतर्मुहूर्त तक का कहा गया है। केवली स्नातक का जघन्य से और उत्कृष्ट से बढ़ता परिणाम अन्तमुहुर्त का कहा है, क्योंकि, शैलेशी अवस्था में वर्धमान परिणाम अन्तमुहुर्त के प्रमाण में ही होता है। केवलज्ञान की उत्पति के बाद अन्तमुहुर्त तक अवस्थित परिणामवाला होकर शैलेशी स्वीकार करे ऐसी अपेक्षा से उनका अवस्थितकाल जघन्य से अन्तमुहुर्त प्रमाण का कहा गया है। जबकि उत्कृष्ट से कोई न्यून पूर्वकोटि काल होता है। क्योंकि पूर्वकोटिवाले पुरुष को जन्म के नव वर्ष बाद केवलज्ञान होता है। नव वर्ष न्यून पूर्वकोटि वर्ष पर्यंत अवस्थित परिणामवाला होकर वह शैलेशी अवस्था तक विहार करता है शैलेशी में वर्धमान परिणामवाला होता है।

(२१) बंधद्वार :—पुलाक मुनि को केवल आयुष्यकर्म के बंधन की योग्यता नहीं होने से शेष सात कर्मों की प्रकृतिओं का बंधन करता है। बकुश मुनि यदि आयुष्य का बंधन करे तो वे आठकर्म का अन्यथा सात कर्म का बंधन करते हैं। प्रतिसेवना कुशील के लिए भी बकुश मुनि की तरह जानना। कषायकुशील मुनि सात, आठ या छः कर्म का बंधन करते

हैं। सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानक में आयुष्य बंधन नहीं होता है। क्योंकि उसका बन्धन अप्रमत गुणस्थान तक का होता है। इसलिए आयुष्य बिना सात कर्मों को बांधता है। सुक्ष्यसंपराय में बादर कषाय का बन्धन नहीं है, इसलिए आयुष्य और मोह के सिवा छः कर्म बांधता है। निर्ग्रन्थ मुनि योग के कारण ही केवल वेदनीय कर्म बांधते हैं। जबकि स्नातक आयोगी गुणस्थानक में बंधहेतुओं का अभाव होने से अबंधक हैं, और सयोगी हो तो केवल साता वेदनीय कर्म को बांधते हैं।

(२२) वेद द्वार :—पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील ये चार जाति के मुनिओं को आठ कर्म का उदय होता है इसलिए इन कर्मों के रसानुभव के रूप में वे कर्मविपाक के उदय को भुगतते हैं। निर्ग्रंथ मुनि को मोह का उपशम होने से सात कर्मों को वेदनेवाले हैं।

जबकि स्नातक को चार आघाती कर्म ही वेदने वाले हैं।

(२३) उदीरणाद्वार :—पुलाक मुनि आयुष्य और वेदनीय बिना की छः कर्मों की प्रकृतियों की उदीरणा करते हैं।

बकुश तथा प्रतिसेवना कुशील सात-आठ तथा आयुष्य और वेदनीय बिना की छः प्रकृतियों की उदीरणा करते हैं।

कषायकुशील मुनि सात-आठ छः तथा आयुष्य, वेदनीय और मोह बिना की पाँच कर्मों की उदीरणा करते हैं।

निर्ग्रन्थ आयुष्य वेदनीय और मोह बिना की पाँच तथा नाम और गोत्र की उदीरणा करते हैं।

स्नातक भी यदि उदीरक हो तो उसे नाम और गोत्र का उदीरक जानना।

(२४) उपसंपतहानद्वार :—जो प्राप्त हुआ हो उसका त्याग करना उसे उपसंपतहान कहते हैं। गृहस्थाश्रम में से निकलकर मुनिवेष प्राप्त करना यह भाग्य की बात है, और उसको टिकाये रखना महाभाग्य की बात है। अन्यथा प्राप्त होने वाला खो भी जाता है। पुलाकमुनि यदि पुलाकत्व का त्याग करें तो उन्हे कषाय कुशीलता और असंयतत्व की प्राप्ति होती है। बकुश यदि बकुशत्व को छोड दें तो प्रतिसेवना कुशीलत्व, कषाय कुशीलतत्व, असंयमत्व अथवा देश-विरतित्व की प्राप्ति होती है, वह इस प्रकार है। यदि अध्यवसाय में आगे बढ़े तो कुशीलत्व की प्राप्ति होती है, मृत्यु हो तो देव होते है, और जहाँ असंयम है वहाँ गिरें तो देश विरति श्रावक होते हैं। तात्पर्य यह है कि वह द्रव्यलिंग से साधु है और चर्मवस्तु के मालिकों के लिए छठे गुणठाणा का मालिक है। जबकि भावलिंग से वह श्रावकत्व की प्राप्ति करता है इसलिए पाँचवें गुणठाणे का मालिक बनता है। कषायकुशील अपने स्थान को छोड़े और अध्यवसाय के नीचे जाये तो बकुशत्व या पुलाकत्व की प्राप्ति करता है। मृत्यु हो जाये तो देवतत्व अथवा या श्रावकत्व और ऊपर जाये तो निर्ग्रन्थ अवस्था को प्राप्त करता है। निर्ग्रन्थ के लिए यह जानना कि, उपशम श्रेणी से नीचे जाये तो कषाय कुशीलता, मृत्यु हो जाये तो देवत्व (जहाँ देवविरति नहीं हैं) की प्राप्ति होती है और श्रेणी से पड़ने के बाद तत्काल देशविरति की प्राप्ति न हो तो भी कषायकुशील बनने के बाद देशविरति प्राप्त करता है।

जबकि स्नातक सिद्धगति को पाता है।

(२५) संज्ञा द्वार :—आहार, मैथुन, भय और परिग्रहादि में जिनको आसक्ति होती है उन्हें संज्ञोपयुक्त कहते हैं और जो अनासक्त हैं उन्हें नोसंज्ञोपयुक्त कहते हैं। असातावेदनीय की शांति के लिए आहार लेना जरूरी है फिर भी उसमें रही आसक्ति का मालिक संज्ञोपयुक्त है और आहार करते हुए भी जिसको आसक्ति नहीं है वह नोसंज्ञोययुक्त कहलायेगा। पुलाक, स्नातक और निर्ग्रन्थ मुनि नोसंज्ञोपयुक्त हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक वीतरागी होने से आहारादि में आसक्ति नहीं रखते हैं यह बात ठीक है लेकिन, पुलाक मुनि सराग होने से आसक्ति बिना कैसे रह सकता है? इस शंका का निवारण करने के लिए कहा गया है कि, सराग अवस्था में भी अनासक्ति हो सकती है, इसलिए पुलाक मुनि भी ज्ञान प्रधान उपयोग वाले होने से नोसंज्ञोपयुक्त है। आहारादि संज्ञा के उपयोग में रहित से उसे अनासक्त कहते हैं।

बकुश-प्रतिसेवना कुशील और कषायकुशील मुनि आहारादि में आसक्तिवाले और अनासक्तिवाले भी होते हैं।

(२६) आहारद्वार :—विग्रहगति के कारण अनाहारकत्व समझने का है : इसलिए पुलाक और निर्ग्रन्थ मुनि को विग्रह गति के कारण का अभाव होने से वे आहारक यानि आहार करने वाले होते है लेकिन अनाहारक नहीं होते हैं।

जबकि स्नातक केवली को समुद्घात का तीसरे, चौथे और पांचवें समय में अयोगी अवस्था में अनाहारकत्व होता है, शेष समय में केवली भी आहारक होते हैं। क्योंकि केवल ज्ञान होने के बाद भी शेष बचे चार आघाती कर्म में वेदनीय

कर्म शेष रहता है। माना कि ताकत नहीं है, फिर भी कर्म तो कर्म ही होता है, इसलिए उस कर्म के उदयकाल में केवलीओं को भी आहार लेना अनिवार्य है, आहार केवलज्ञान का बाधक नहीं हो सकता क्योंकि हमने अनुभव किया है कि, आहार लेने के बाद ही, पढ़ने का, आवृत्ति करने का, बोलने का, लिखने का, सोचने का और कोई भी प्रवृति करने का उत्साह बढ़ता है, घटता कभी नहीं है। आहार के अभाव में शरीर और उसका समग्र तंत्र शिथिल और निष्क्रिय हो जाता है।

माना कि, केवलज्ञानी को शरीर और इन्द्रियाँ अकिंचित्-कर है, फिर भी जहाँ तक वह शरीरधारी है, तब तक शरीर का काम शरीर ही करेगा। जो अघाती कर्म के आधीन है। केवलज्ञानी को भी यह कर्म विद्यमान हो तो वेदनीय कर्म को शांत करने के लिए आहार ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं है। केवलज्ञानी का शरीर केवलज्ञान से नहीं बल्कि लहु या रक्त से टीका हुआ है और रक्त आहार पर आधारित है। तभी तो महावीर स्वामी के अव्वल नम्बर के शिष्याभास गोशाला की तेजोलेश्या की वजह से उष्णता बढ़ने से छः छः महीने तक संडास में रक्त पड़ने से शरीर कमजोर हो गया था लेकिन रेवती श्राविका के पास से बीजोरापाक लेकर खाने से यानि कि आहार से शरीर फिर से तेजस्वी हो गया था। इसलिये कहा गया है कि, आहार और केवलज्ञान को कोई मनमुटाव नहीं यह सच है कि उनका आहार नाममात्र का रहता है। क्योंकि ऊंचीगति और अधोगति में जानेवालों के आहार में जमीन आसमान का फरक होता है।

केवलज्ञानी को आहार संज्ञा सर्वथा नामशेष हो जाने

से आहार लेने में उनको मोहकर्म के उदय की या उदीर्णा करने की कल्पना सर्वथा हास्यपद है, शास्त्रविरुद्ध है, और संप्रदाय के प्रति वैर होने के कारण है। छद्मस्थावस्था में भी महावीरस्वामी ने छः महिने तक निर्जल उपवास नहीं किया था ? तो फिर केवलज्ञान होने के बाद आहार बिना एक भी दिन क्यों नहीं निकालते ? यह शंका भी निरर्थक है, क्योंकि आहार की अभिषा मोहकर्म के आधीन है ही नहीं, लेकिन वेदनीय कर्म के आधीन है और यह कर्म केवलज्ञानी को भी होता है। जो हम सबको मान्य है। प्रत्येक प्रवृति मोहजन्य ही होती है ऐसा सोच लेने में अज्ञानता मालूम पड़ जाती है, क्योंकि आज भी बहुत से पुण्यशालीयों की प्रवृत्ति में वैराग्य-मयता दिखाई पड़ती है और वे सफलता या निस्फलता में उदासीन है।

श्वेतांबर मुनि के वस्त्र परिधान में मोह या तज्जन्य मूर्च्छा की कल्पना करनी भी समुचित नहीं है। क्योंकि दिगंबर मुनि नग्न रहने के बावजूद भी अपने संप्रदाय का कदाग्रही हो या दिगंबर धर्म का ही पक्षपाती हो तो कदाग्रह या पक्षपात क्या आभ्यंतर परिग्रह नहीं हैं ? और नग्नवासी होने के बावजूद आभ्यंतर परिग्रह का मालिक क्या केवलज्ञान पा सकेगा ?

अरिहंतो के शासनरंग में रंगे भाग्यशाली गृहस्थ भी अपने घर में घी, तेल, गुड़, शक्कर आदि पदार्थ अखूट भरे होते हैं फिर भी महीनों तक आयंबील करते हैं, और आयंबील में भी चार-पाँच या सात द्रव्यों से चला सकते हैं। पति पत्नी, मेवा मिष्ठान घर में होने के बावजूद भी अखंड शिथल का पालन करते हैं। या तो महीने में दो-तीन रात्री छोड़कर २७-२८ दिन ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। घर में लाखों की संपति

है फिर भी मुनिधर्म के अनुकरण में अपने पैर में बूट चप्पल कुछ भी नहीं पहनते हैं, इस तरह यदि गृहस्थ भी इतने बैरागी हो तो मुनिओं के तप या वैराग्य-त्याग की तो बात ही क्या करनी ? और केवलज्ञानी तो सर्वथा निर्मोही होने से आहार करने के बावजूद भी उनका केवललान सर्वथा सुरक्षित ही होता है। इत्यलं विस्तरेण।

(२७) भवद्वार :—पुलाक मुनि जघन्य से एक भव में पुलाक होकर कषायकुशीलतादि और अन्य किसी संयतत्व को एक या अनेकबार उस भवमें या दूसरे भव में पाकर सिद्ध होता है और उत्कृष्ट से देवादिभव द्वारा अस्तरित तीन भव तक पुलात्व को पाता है।

बकुश-प्रतिसेवना कुशील और कषायकुशील जघन्य से एक और उत्कृष्ट से आठ भव ग्रहण होते हैं। निर्ग्रन्थ मुनि को पुलाकवत जानना। खास देखने का यह है कि, एक भव में बकुशत्व पाये बिना सिद्ध होता है। इस कारणवश बकुश को जघन्य से एक भव और उत्कृष्ट से आठ भव कहे गये हैं। क्योंकि उत्कृष्ट से आठ भव तक चारित्र की प्राप्ति होती है। उसमें कोई भव बकुशत्व से और अंतिम भव सकषायादि बकुशत्व से समाप्त होता है। जबकि दूसरा मुनि प्रतिसेवना कुशीलत्वादि युक्त बकुशत्व से पूर्ण करते हैं।

स्नातक को एक भव ग्रहण होता है।

(२८) आकर्षद्वार :—आकर्ष का अर्थ चारित्र का परिणाम जानना।

पुलाक को जघन्य से एक और उत्कृष्ट से तीन आकर्ष जानना। बकुश को जघन्य से एक और उत्कृष्ट से २०० से

९०० तक निर्ग्रन्थ को जघन्य से एक और उत्कृष्ट से बार उपशमश्रेणी करे तो दो आकर्ष तथा स्नातक को एक आकर्ष जानना।

(२९) कालद्वार :—पुलाक जघन्य से और उत्कृष्ट से अन्तमुहूर्त तक रहता है। क्योंकि वह मुनि अन्तमुहूर्त समाप्त होने से पहले मरता नहीं है और गिरता नहीं है।

बकुश प्रतिसेवना कुशील और कषायकुशील मुनि जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से कई न्युन पूर्वकोटी वर्ष तक रहते हैं, क्योंकि बकुश को चारित्रान्तर मृत्यु का तुरंत् सम्भव है, इसलिए एक समय और उत्कृष्ट से पूर्वकोटी वर्ष का आयुष्यवाला आठ वर्ष बाद चारित्र लेना है, इसलिए आठ वर्ष कम पूर्वकोटी वर्ष कहलाते हैं।

(३०) अन्तरद्वार :—पुलाक मुनि को जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से अनंतकाल का अन्तर जानना। काल से अनंत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी, तथा क्षेत्र से कई न्यून अपधि पुद्गल परावर्त का अन्तर जानना। यावत् निर्ग्रन्थ तक।

(३१) समुद्घातद्वार :—पुलाक को वेदना, कषाय और मारणान्तिक समुद्घात कहे हैं। संजवलन-कषाय का उदय होने से कषाय समुद्घात हो सकता है और मरण समुद्घात में निवृत होने के बाद पुलाक को कषायकुशीलत्वादिरुप से परिणाम होने से मृत्यु होती है।

बकुश और प्रतिसेवना कुशील को वेदना से तैजस तक के पांच समुद्घात होते हैं।

कषायकुशील को छः समुद्घात होते हैं। निर्ग्रन्थ को

समुद्घात नहीं हैं। केवली स्नातक को एक ही केवली समुद्घात है।

(३२) क्षेत्रद्वार :—पुलाक से निर्ग्रन्थ तक के मुनि लोक के असंख्यात भाग में रहते हैं। स्नातक भी शरीर से लोक के असंख्यात भाग में रहते हैं और वे समुद्घात के वक्त संपूर्ण लोक में रहते हैं।

(३३) स्पर्शन द्वार को अवगाहना की तरह जानना।

(३४) भावद्वार :—पुलाक से कषायकुशील तक क्षायोपशयिक भाग कहा गया है।

निर्ग्रंथ औपशमिक या क्षायिक भाव मे जानना। स्नातक केवल क्षायिक भाव में ही होते हैं।

(३५) परिणाम द्वार :—प्रतिपद्यमान (तत्काल जो पुलाक होता है) जघन्य से एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्ट से २०० से ९०० तक जानना।

पूर्व प्रतिपन्नत्व जघन्य से एक, दो या तीन और उत्कृष्ट से २००० से ९००० तक जानना।

(३६) अल्प बहुत्व द्वार :—निर्ग्रन्थ सबसे कम। पुलाक उससे संख्यात गुने और स्नातक उससे संख्यात गुने।

बकुश को भी स्नातक से संख्यात गुना जानना।

प्रतिसेवना कुशील उससे संख्यात गुने। कषाय कुशील उससे भी संख्यातगुने कहे हैं।

इस प्रकार सबके हृदय को पवित्र करनेवाले, चारित्र में शुद्धि देनेवाले, और मंगल प्रभात में मांगलिक करनेवाले इस पच्चीसवें शतक का और उद्देशक ६ का अन्त होता है।



शतक २५ : उद्देशक-७

उपक्रम :

२५ वें शतक का ७ वाँ प्रस्तुत उद्देशक संयतों के लिए है। जो 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'यम' धातु को भूतकृदंत का 'क्त' प्रत्यय लगाने से संयत शब्द बना है। जिसका अर्थ सम्यग्-ज्ञान द्वारा जिन्होंने पाप-व्यापार छोड़ दिये हैं। मन तथा इन्द्रियों के वेग को ठंडे किये हैं, कषायवृति और प्रवृति पर काबू पा लिया है, संसारमार्ग से निवृत्ति ले ली है, और पाँच समिति तथा गुप्ति में लयलीन होकर अहिंसा संयम और तपोधर्ममय जैनत्व की सुन्दर आराधना की है वे संयत-मुनि-साधु और निर्ग्रन्थ आदि शब्दों से सम्बोधित होते हैं।

यद्यपि संसार के सब समाजों पर धार्मिक नियंत्रण करनेवाली साधुसंस्था विद्यमान होती है। लेकिन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अनुसार आज भी जैन मुनि द्रव्य और भाव से संयमित हैं, त्यागी हैं, निर्मोही हैं, और मर्यादित हैं और गृहस्थों की मायाजाल से हमेशा परे है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के अलावा दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीवों की हत्या से मन-वचन और काया, करण-करावण तथा अनुमोदन से भी सर्वथा दूर है, चार प्रकार के कषायों से और पाँच इन्द्रियों के तेईस विषयों से मुक्त है। जो मानसिक अशुभ अध्य-वसायात्मक प्रवृति से दंडा जाता है वह मनदंड, वचन की

मायामृषावादात्मक प्रवृति से दंडा जाता है, वह वचनदंड और हिंसात्मक प्रवृति से दंडा जाये वह शरीरदंड कहलाता है।

इस प्रकार के तीनों दंड से जो विमुक्त है, वह जैन मुनि है, श्रमण है, संयत हैं। ऐसे मुनि मन से पवित्र होने के कारण उनको नदी या तालाब या नल के निचे बैठकर स्नान नहीं करना पड़ता है। मुंह या हाथ पैर धोने नहीं पडते हैं। संपूर्ण भिक्षावृति से निर्वाह होता है इसलिए भोजन अपने हाथ से बनाना नहीं पड़ता है। भिक्षा लेते वक्त भी किसी को परेशान न करने का उनका मुद्रा लेख रहता है। माँ बहन या गृहस्थाश्रम की भूतपूर्व गृहिणी (स्त्री) का स्पर्श भी जैन मुनि को त्याज्य है। आत्मध्यानी होने से पंखे या प्रकाश का उपयोग भी नहीं करते हैं।

ऐस परिस्थिति में भी अगले भवों के प्रारब्ध कर्म उनके आत्मप्रदेश में अड्डा जमाया होने से जब-जब उनका उदय होता है तब आत्मशुद्धि जिस प्रमाण में करनी चाहिए उस प्रमाण में होती नहीं है, इसी वजह से संयत अवस्था समान होने के बावजूद भी उसके पालन में भिन्नता होने से उनके भेद पड़ते हैं।

यह प्रस्तुत उद्देशक केवल संयतों की विचारणा के लिए है। इससे पहले उद्देशक में जिस प्रकार पुलाकादि मुनिओं की ३६ प्रकार से विचारखा की गई है, इस प्रकार सामायिकादि पांच प्रकार के संयम में रहनेवाले संयम-धारीओं की भी ३६ प्रकार से विचारणा की जायेगी वह निम्नानुसार है।

(१) प्रज्ञापना द्वार :—हे प्रभो ! संयम की आराधना करनेवाले संयत कितने प्रकार के हैं, जवाब में भगवंत ने फरमाया कि, हे गौतम (१ सामायिक संयत, (२) छेदोपस्थापनीय संयत, (३) परिहार विशुद्ध संयत, (४) सूक्ष्मसंपराय संयत, (५) यथाख्यात संयत । इन संयतरूप में संयमधारी, मुनि, समिति गुप्ति धर्म पालक के पांच भेद आराधना विशेष के कारण से कहे गये हैं सबसे पहले संयत का भावार्थ जान लिया जाये तो अच्छा रहेगा।

सामायिक संयत :

सामायिक की आराधना करनेवाले मुनि को सामायिक संयत कहा जाता है, यद्यपि अणुव्रतधारी श्रावक के बार व्रतों में नववाँ व्रत सामायिक का है। वह यहाँ चर्चित नहीं है। लेकिन सर्वविरति रूप सामायिक चारित्र जो मुनिओं का खास आदरणीय और जावज्जीव का है वह लेने का है।

आत्मा का धर्म कौनसा है ?

उत्तराध्यन सूत्र में 'वत्युसहावो धम्मो' यानि कि वस्तु के स्वभाव को ही धर्म कहा गया है, तो आत्मा का धर्म कौन सा ?

जवाब में कहा गया है कि, जिसकी सेवना यानि कि क्रिया करते वक्त आत्मा की स्वाभाविकता में वक्रता, लुच्चाई मायामृषावादिता आदि दुर्गुण का प्रवेश न होने पाये वही आत्मा का धर्म के अनुकूल तत्व समता, सम, शम, तितिक्षा आदि है । क्योंकि उनकी आराधना (सेवना) के लिए आत्मा को कोई भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता है और उसके पीछे

आत्मा को हानि, दुःख, शोक, संताप, आधि, व्याधि या उपाधि आदि मोहराजा के सैनिकों का जरा भी भय नहीं रहता है। जबकि हिंसा, झूठ, चौर्यकर्म, मैथुन और परिग्रहादि आत्मा के धर्म हैं ही नहीं तभी तो पापों के सेवन के लिए प्रयत्न, परिश्रम, व्यूहरचना, क्रूरता, निर्दयता और कषाय क्लेश आदि शारीरिक, वाचिक या मानसिक व्यापार करने ही पड़ते है और अंत में आत्मा का अधःपतन होता है और वह चौरासी के चक्र में या निन्यानवें के फेरे में गिरता है। इसलिए हिंसा की, झूठ, दुराचार की या परिग्रह की प्रवृत्तियाँ आत्मा का धर्म हो नहीं सकती जबकि समता की आराधना में आत्मा बिल्कुल स्वस्थ ही रहता है और उर्ध्वगतिका मालिक बनता है।

इसी वजह से, 'सम' आत्मा का धर्म है। उसका 'आय' यानि लाभ कराये वैसे प्रयत्न विशेष द्वारा आत्मा समता प्रधान हो वह 'समाय' और स्वार्थिक 'इकण' प्रत्यय लगाने से 'सामायिक' होता है। अनादिकाल से या अनादिकाल के संसार में जीदात्मा को अपने मौलिक समता की सेवना करनी थी, लेकिन मोहमाया के जोरदार कुसंस्कारों के कारण समता से विरुद्ध 'तामस' की उपासना में अनेक मनुष्य अवतार बरबाद किये हैं। इसी प्रकार 'गॉड' यानि परमात्मा की आराधना करनी थी लेकिन उसके विपरीत 'डोग' यानि पाशविक जीवन जीकर जीवनधर्म का सर्वथा दिवाला निकाला। अनादिकाल के संसार में अनेकबार मानव अवतार प्राप्त किया है लेकिन ये सब अवतार में "दिया होते हुये भी खड्डे में गिरा" इस न्याय से बेकार साबित हुये हैं।

चालूभव में इस प्रकार न हो इसलिए वह जीवात्मा प्रबल पुरुषार्थ द्वारा सद्बुद्धि और सद्विवेक का साथ लेकर सद्गुरुओं की उपासना करेगा। हजारों काम छोड़कर भी मुनिओं के व्याख्यान सुनेगा। घरमें भी जैन वाचन से आचार विचार, और उच्चार शुद्ध हो इसलिए ऐसे पुस्तकों का वाचन करेगा और उसके द्वारा प्राप्त ज्ञान से और अनुमोदना से अनेक पापमार्ग छोड़ देगा। बस, इसका ही नाम सामायिकव्रत है जो उत्कृष्ट धर्म है। क्योंकि अनंत भवों की माया से मुक्ति पाने के लिए दो मार्ग है उसका एक मार्ग है नये पापकर्मों का मार्ग बंद कर देना और पुराने पापों को तपश्चर्या से धो डालना। कपड़े गंदे होने में देर नहीं लगती लेकिन उसे धोने में, साफ करने में वक्त लग जाता है और परिश्रम भी अच्छा लग जाता है। इसी प्रकार हिंसा झूठ-चोरी बदमाशी का सेवन करने में वक्त नहीं लगता लेकिन उसे नेस्तनाबूद करने में आत्मिक जीवन में भारी पुरुषार्थ करना पड़ता है। उसमें से एक पुरुषार्थी वह जो सब पाप द्वार एक साथ या थोड़े बरस की साधना से बंदकर देता है, जिसको सामयिक संयत कहते हैं, जिसके दो भेद हैं :

(१) इत्वरिक (थोड़े समय के लिए) (२) यावत्कथिक (जीवन पर्यन्त)।

चारित्र ग्रहण करने के बाद भविष्य में जिनको छेदोपस्थानीय ग्रहण करने का है वे इत्वरिक संयत हैं और सामायिक चारित्र लेने के बाद जिनको छेदोपस्थानीय लेने की जरूरत नहीं हैं वे यावत्कथित हैं जो बीच के बाईस तीर्थंकरों के शासन में होते हैं।

छेदोपस्थानीय चारित्र :

सातिचार और निरतिचार के रुप में दो भेद होते हैं :

अंतिम और प्रथम तीर्थंकर मुनिओं का संयम सातिचार होने से कच्ची दीक्षा के लगे अतिचारों की शुद्धि करके पांच महाव्रत स्वीकार करने के लिए छेदोपस्थानीय यानि बड़ी दीक्षा ली जाती है। जबकि बाईस मुनिओं का संयम निरतिचार होता है, अथवा तो पार्श्वनाथ परमात्मा के मुनिओं को निरतिचार होने से महावीर शासन में सम्मिलित होते समय केवल पांच महाव्रत ही दिये जाते हैं। बड़ी दीक्षा लेने के बाद भी यदि मूलव्रत अतिचरित हो और ख्याल आने पर वह पुण्यशाली साधक अपने दीक्षा पर्यायों का छेद कराके गुरु के रास से व्रतों की आलोचना करके शुद्ध होता है।

परिहार विशुद्ध चारित्र :

निर्विशमानक और निर्विष्टकायिक रुप से दो प्रकार का है।

जो मुनि पाँच महाव्रत रुप उत्तमोत्तम धर्म को मन, वचन और काया से पालते हुए अमुक प्रकार का तप विशेष करे वह इस प्रकार का संयत हैं उसकी विधि निम्नलिखित है :

अपने गुरु की आज्ञा लेकर स्थविर कल्पी गच्छ में से नवकी संख्या में मुनि गच्छ से बाहर निकल के केवली के पास, या प्रथम जिन्होंने तप लिया है उनके पास जाकर यह कल्प अंगीकार करते हैं। इनमें से नव साधु में से चार साधु छः महीने तक तप करें, दूसरे चार मुनि उनकी सेवा करें और एक मुनि वाचनाचार्य हो, छः महीने के बाद तप

पूर्ण होने पर वैयावच्च करने वाले मुनि तप करें, और तप पूर्ण करके बैठनेवाले मुनि उनकी वैयावच्च करें, उसके बाद वाचनाचार्य तप करें और दूसरे वैयावच्च करें, इस प्रकार १८ महीने परिहार कल्प का तप पूर्ण करके वापस गुरु के पास आयें। ऐसे तप करनेवाले निर्विशमानक कहलाते हैं और तपस्या पूर्ण होने के बाद वे निर्विष्टकायिक कहे जाते है। (नवतत्व मेहसाणा ३२ वीं गाथा)

सूक्ष्म संपराय चारित्र :

इसके भी दो भेद हैं;

(१) संकिलश्यमानक-यानि की उपशम श्रेणी से गिरता मुनि।

(२) विशुद्धयमानक :—यानि की उपशम या क्षपक श्रेणी पर आगे बढ़ता मुनि।

यथाख्यात चारित्र :

यह चारित्र छद्मस्थ और केवली के रूप में दो प्रकार का है। मोहकर्म को उपशांत या क्षीण करता हुआ मुनि छद्मस्थ या जिन हो उसको यथाख्यात संयत कहते हैं। प्ररूपनाद्वार पूर्ण।

(२) वेद द्वार :—सामायिक और छेदोपस्थापनीय कषायकुशील की तरह वेदवाले और वेदरहित भी होते हैं। परिहार विशुद्धक मुनि को पुलाक की तरह जानना।

सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात संयत को निर्ग्रन्थ की तुल्य जानना।

सामायिक संयत नव में गुणस्थानक तक होता है और वेद मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय भी नवमें गुणस्थानक में होता है। इस कारण सामायिक संयत नवमें गुणठाणे सवेदक जानना। सवेद हो तो तीन वेद की संभावना रहती है। और अवेद हो तो उपशांत या क्षीण वेद का स्वामी जानना। परिहार विशुद्धक संयत पुरुष या नपुंसक वेदवाला जानना क्योंकि स्त्री (साध्वी परिहार विशुद्ध नहीं होती है।)

(३) राग द्वार :—यथाख्यात संयत वीतरागी जानना, शेष सरागी।

(४) कल्पद्वार :—सामायिकस्थ मुनि स्थित और अस्थित कल्प में होता है। छेदोपस्थापनीय और परिहार विशुद्धक के लिए स्थित कल्प है, शेष प्रथमवत्। सामायिक संयत कषाय कुशील की तरह तथा छेदोपस्थापनीय और परिहार की तरह जानना। सामायिक तथा छेदोपस्थापनीय संयत, पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील भी होते हैं। लेकिन निर्ग्रन्थ और स्नातक नहीं होते हैं।

परिहार विशुद्धक तथा सूक्ष्मसंपरायसंयत कषायकुशील होते हैं। लेकिन पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना निर्ग्रन्थ या स्नातक नहीं होते हैं।

यथाख्यातसंयत निर्ग्रन्थ या स्नातके तुल्य है।

(५) प्रतिसेवनाहार :—सामायिक और छेदोपस्थायनीय, प्रतिसेवक (विराधक) और अप्रतिसेवक भी होते हैं, शेष पुलाकवत होते हैं।

परिहार संयत यावत् यथाख्यातसंयत अप्रतिसेवक जानना।

(६) ज्ञानद्वार :—यथाख्यात संयत की भजनाको पाँच ज्ञान, संयतको दो, तीन या चार ज्ञान जानना।

(७) श्रुतद्वार :—सामायिक और छेदोपस्थापनीय जघन्य से अष्ट प्रवचन माता तक पढ़ते हैं, शेष कषायकुशील की तरह जानना।

परिहार विशुद्धक, जघन्य से नवमें पूर्व की तीसरी आचारवस्तु और उत्कृष्ट से अपूर्व यश पूर्व तक, सूक्ष्म संपराय मुनि को सामायिक मुनि की तरह जानना।

यथाख्यातसंयत जघन्य से अष्ट प्रवचनमाता तक और उत्कृष्ट से चौदह पूर्व तक पढ़ते हैं या केवली भी होते हैं।

(८) तीर्थद्वार : —सामायिकसंयत कषायकुशीलवत्, छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धक पुलाकवत्।

(९) लिंगद्वार :—सामायिक और छेदोपस्थापनीयसंयत पुलाक की तरह जानना। परिहारविशुद्धक, द्रव्य और भाव-लिंग को आश्रयी स्वलिंग में होते हैं, अन्य लिंग में नहीं होते हैं।

(१०) शरीरद्वार :—सामायिक तथा छेदोपस्थापनीय संयत को तीन, चार या पांच शरीर होते हैं, शेष पुलाकवत् जानना।

(११) क्षेत्रद्वार :—सामायिक और छेदोपस्थापनीय जन्म और सद्भाव की अपेक्षा से बकुश की तरह अकर्मभूमि में नहीं होते हैं।

परिहारविशुद्धक पुलाकवत् शेष सामायिकवत्।

(१२) कालद्वार:—प्रथम और दूसरे संयत बकुशवत्।

(१३) गतिद्वार :—प्रथम और दूसरे संयत कषायकुशील की तरह वैमानिक देव होते हैं, परिहारविशुद्धक पुलाकवत् और सूक्ष्मसंपराय संयत निर्ग्रन्थ की तरह जानना।

(१४) संयमस्थानद्वार :—यथाख्यात संयत को छोड़कर शेष संयत के संयम स्थान असंख्य है।

सूक्ष्म संपराय के संयमस्थान असंख्य और स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।

यथाख्यातसंयमी का संयमस्थान एक ही जानना, इसलिए सबसे अल्प है। उससे सूक्ष्म संपराय अन्तर्मुहूर्त पर्यंत रहनेवाले होने से असंख्यातगुने हैं। उससे परिहार विशुद्धक असंख्यातगुने और इससे प्रथम और दूसरे संयत के संयमस्थान असंख्यगुने हैं और परस्पर तुल्य हैं।

(१५) संनिकर्षद्वार :—पाँच प्रकार के संयतों के चरित्र पर्याय अनंत हैं।

सामायिक संयत दूसरे सामायिक संयत के सजातीय पर्याय की अपेक्षा से क्वचित् हीन हो, तुल्य हो या अधिक हो, तो हीनाधिकमें षट्स्थानक पतित जानना। सामायिक संयत छेदोपस्थापनीय संयत के विजातीय चारित्र पर्याय के संबंध की अपेक्षा से छः स्थान पतित हीनाधिक जानना।

सामायिक संयत, सूक्ष्म संपराय के चारित्र पर्यायों से अनंतगुने हीन होते हैं। यथाख्यात के लिए स्नातकवसा भी जानना।

(१६) योगद्वार :—सूक्ष्म संपराय तक के संयम पुलाक की की तरह संयमी होते हैं, यथाख्यात को स्नातकवत् जानना।

(१७) उपयोगद्वार :—सब संयत साकार और निराकार

उपयोगवाले होते हैं, केवल सूक्ष्म संपराय संयत स्वभाव के कारण उपयोगवाले नहीं होते हैं।

(१८) कषाय द्वार :—सामायिक संयत सकषायी होता है। परिहार विशुद्धक पुलाक की तरह चार कषाय का मालिक जानना। सूक्ष्म संपराय संयत को केवल लोभ ही शेष रहता है।

(१९) लेश्याद्वार :- संयत लेश्यावाले ही होते हैं।

(२०) परिणाम द्वार :—परिहार विशुद्धक तक के संयत परिणाम की अपेक्षा से पुलाक की तरह जानना सूक्ष्म संपरायी श्रेणी पर जब चढ़ता है तब वर्धमान परिणामवाला जानना और श्रेणि से उतरे तब हीन परिणाम होता है, स्थिर परिणामी नहीं होता है।

(२१) बंधद्वार :—आदि के तीनों संयत बकुश की तरह सात या आठ कर्म प्रकृतिओं को बांधते हैं। सूक्ष्म संपराय संयत आयुष्य और मोह बिना की छः प्रकृतिओं को और यथाख्यात को स्नातक तुल्य जानना।

(२२) वेदनद्वार :—आदि के चार संयत आठ कर्मों के विपाक को वेदनेवाले होते हैं। यथाख्यात संयत छद्मस्थ हो तो मोह बिना की सात प्रकृतिओं को वेदता है और वीतराग हो तो चार अघाती कर्मों को वेदता है।

(२३) उदीरणाद्वार :—आदि के चार संयत सात प्रकृतिओं की उदीरणा करते हैं। यथाख्यात संयत पाँच या दो का उदीरक या अनुदीरक होता है।

पाँच की उदीरणा करे तो आयुष्य वेदनीय और मोह बिना की जाननी, शेष निर्ग्रन्थ की तरह जाननी।

सूक्ष्मसंपरायक आयुष्य और वेदनीय बिना की छः प्रकृतिओं तथा आयुष्य, वेदनीय और मोहनीय बिना की पाँच प्रकृतिओं की तरह पाँच या छः का उदीरक है।

(२४) उपसंपद्धहान द्वार :—सामायिक संयत यदि सामायिकत्व का त्याग कर दें और आगे बढ़ें तो छेदोपस्थापनीय या सूक्ष्म संपराय को प्राप्त करते हैं, और निचे गिरे तो असंयम या देशविरति को प्राप्त करते हैं। सामायिक-चारित्र में मृत्यु पर देवलोक जहाँ असंयम ही होता है। इसलिए कहा गया है कि एक दिन का चारित्र का उदय भी देवगति को प्राप्त कराता है।

तथा अस्वाध्याय, तपरहितता गुरुकुल का त्याग यदि निचे के स्थान की ओर जाये तो छठे गुणठाणे से गिरकर असंयम यानि की चौथे या प्रथम स्थान में भी जाता है।

परिहार विशुद्धक जो अपने संयम को त्याग दे और गच्छ में प्रवेश करे तो छेदोपस्थापनीय संयतत्व को प्राप्त करता है और देवगति में जाये तो असंयमत्व ही उसके भाग्य में रहता है।

सूक्ष्म संपराय संयत श्रेणी से गिरने पर अपने संयम का त्याग करे तो वह सामायिक संयत होगा तो उसको या छेदोपस्थापनीय होगा तो उसको प्राप्त करेगा। ऊपर चढ़ेगा तो यथाख्यात संयत भी बनेगा।

यथाख्यात संयत अपने संयम का त्याग करे तो, सूक्ष्म संपराय, असंयम या सिद्ध गति को पा सकता है।

(२५) संज्ञाद्वार :—आहारादि में आसक्त हो तो वह संज्ञोपयुक्त और अनासक्त हो तो नोसंज्ञोपयुक्त जानना।

आदि के तीन संयतों को बकुश की तरह और शेष दोनों को पुलाकवत् जानना।

(२६) आहारक द्वार :—आदि के चार को पुलाक की तरह और यथाख्यात को स्नातक की तरह जानना।

(२७) भवद्वार :—प्रथम और दूसरे चारित्रवाले जघन्य से एक भव और उत्कृष्ट से आठ भव ग्रहण करते हैं।

परिहार विशुद्धक जघन्य से एक और उत्कृष्ट से तीन भव करता है, और यह यथाख्यात तक जानना।

(२८) आकर्षद्वार :—सामायिक संयत एक भव में जघन्य से एकबार और उत्कृष्ट से २०० या ९०० तक सामायिक संयत तत्व को प्राप्त करता है। शेष बकुशवत् छेदोपस्थापनीय संयत जघन्य से एक और उत्कृष्ट से दो से नौ तक जानना।

परिहार विशुद्धक जघन्य से एक बार और उत्कृष्ट से तीनबार जानना।

सूक्ष्म संपराय संयत जघन्य से एक तथा उत्कृष्ट से एक भव में उपशम श्रेणि का दो बार संभव होने से और प्रत्येक में संकलिश्यमान तथा विशुध्यमान की तरह दो-दो भेद में चार आकर्ष जानना।

यथाख्यात संयम जघन्य से एक और उत्कृष्ट से उपशम् श्रेणी दो बार हो सकती है इस वजह से दो आकर्ष समझना।

(२९) कालद्वार :—सामायिक संयत का जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से कई न्यून (नौ साल कम) पूर्व कोटि तक का काल समझना। छेदोपस्थापनीय के लिए भी यही जानना।

परिहार विशुद्धक को जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से कई न्यून उन्नतीस (२९) वर्ष कम का पूर्वकोटि काल होता है।

यथाख्यात को सामायिक संयत की तरह जानना।

नोंध :—सामायिक संयम स्वीकारने के बाद तुरंतही मृत्यु हो इस अपेक्षा से जघन्य से एक समय की स्थिति कही है और उत्कृष्ट से जो नौ साल न्यून कहे हैं, वह गर्भ में आने के वक्त से गिनना। और जन्मदिन से गिनती हो तो आठ साल कम गिनना।

परिहार विशुद्धक को मरण की अपेक्षा से एक समय और उत्कृष्ट से २९ साल कम कहे हैं। पूर्वकोटि आयुष्यवाले नौ साल में दीक्षा लेते हैं और दीक्षा पर्याय के बीस साल पूरे होने के बाद दृष्टिवाद के अध्ययन की अनुज्ञा प्राप्त होते ही परिहार विशुद्ध चारित्र का स्वीकार करते हैं। जिसका प्रमाण १८ महीने का है, और उसी परिणाम से आजीवन पर्यंत उसका पालन करता है, उस अपेक्षा से २९ वर्ष न्युनकोटि वर्ष तक का परिहार विशुद्धक संयम जानना।

यथाख्यात को संयम की उपशम् अवस्था में मृत्यु की अपेक्षा से एक समय जानना।

(३०) अन्तरद्वार :—(३१-३५) सामायिक संयत को अंतर संबंधी पुलाक की तरह जानना।

समुद्घात कषाय कुशीलवत्, क्षेत्रद्वार पूर्ववत स्पर्शना-द्वार को अवगाहना की तरह, यथाख्यात को औपशमिक या क्षायिक भाव जानना। शेष को केवल क्षायोपशमिक भाव जानना परिणामद्वार मूलसूत्र से जानना चाहिए।

(३६) अल्प बहुत्व :—सूक्ष्म सपराय संयत सबसे कम हैं, क्योंकि, उनका समय कम है। परिहार विशुद्धक संख्यातगुने हैं। यथाख्यात संयतो उनसे भी संख्यातगुने जानने। छेदोपस्थापनीय उनसे संख्यातगुने और सामायिक उनसे संख्यातगुने जानने।

संयता की प्रतिसेवनादि :

[१] संयमधारीओं की प्रतिसेवना [२] आलोचना दोष [३] दोष की आलोचना [४] आलोचना देने लायक गुरु [५] समाचारी [६] प्रायश्चित [७] तप।

इस प्रकार प्रस्तुत शतक के सातवें उद्देशक में उपरोक्त सात विषयों की विशेष जानकारी दी गई है।

छट्ठे उद्देशक में पुलकादि मुनीओं का वर्णन करने के बाद और सातवें उद्देशक में सामायिकादि भेद से उनका विस्तृत वर्णन करने के बाद अब यह जानना रहता है कि, मुनि वेष को स्वीकार करने के बाद वे क्या मोक्षगमन कर सकेंगे ?

जवाब में ना की गई है, और कहा गया है कि, मुनिधर्म को आत्मा के साथ संबंध होने से जब तक द्रव्य वेष में किये जाते अनुष्ठान आत्मा को शुद्धि के ख्याल बिना के होते हैं, तब तक नये पापों के द्वार बंद नहीं होते हैं. और पुराने पाप नष्ट नहीं होते हैं। व्यवहारनय में बहुत मस्तान और कदाग्रही रहे ओर निश्चयनय की जानकारी की आराधना की ओर आँख बन्द की या उदासीन रहे। फलस्वरुप आत्मा की परिणति में जरा भी फरक नहीं पड़ा और जब तक आत्मा के अनादिकाल के हिंसक स्वभाव में, पुरानी आदतों में, पाप

चेष्टाओं में दखलअंदाजी न करने में आये तब तक गुणठाणे भाग्य में नहीं रहते हैं। इसी वजह से संयमस्थान यानि संयमधारी के अध्यवसाय असंख्यात कहे होने से किसी वक्त शुद्ध और शुभ परिणाम आते हैं, लेकिन टिक नहीं सकते, टिके तो भी स्थिर नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार आत्मिक स्थान से पतित होनेवाला मुनि द्रव्य वेष में रहने के बावजूद अपनी पुरानी आदतें, पाप चेष्टाओं नहीं बदलता है तब तक गुणठाणा में आगे नहीं बढ़ता है। ऐसी परिस्थिति में द्रव्यवेष किस तरह कल्याण करेगा ?

इतनी भूमिका के बाद हम अभी मूलसूत्रानुसार तथा टीकानुसार प्रतिसेवना अर्थात् संयम की विराधना किस प्रकार हो है वह देखेंगे।

प्रतिसेवना के कितने प्रकार कहे है ?

हे प्रभो ग्रहण किये गये संयम की विराधना (प्रतिसेवना) कितने प्रकार की होती है ?

जवाब में भगवंत ने उसके दस प्रकार कहे हैं, वह निम्न-लिखित है :

[१] दर्प प्रतिसेवा [२] प्रमाद प्रतिसेवा [३] अनाभोग प्रतिसेवा [४] आतुर प्रतिसेवा [५] आपत्प्रतिसेवा [६] संकीर्णता प्रतिसेवा [७] आकस्मिक प्रतिसेवा [८] भय प्रतिसेवा [९] क्रोध प्रतिसेवा [१०] विमर्श प्रतिसेवा।

जरा विस्तार से देखें—

[१] दर्प प्रतिसेवा :—दर्प यानि अभिमान, गर्व, मद, मान, अहंकार आदि के कारण संयम की विराधना होती

है। आत्मा के साथ अनादिकाल से संबंधित दर्प आत्मा का दोष है, और संयम गुण है, जो दोनों एक दूसरे के दुश्मन होने से दर्प का उपासक संयम की आराधना नहीं कर सकता है, और संयमवाले जीव को अभिमान या अहंकार नहीं होता है। क्वचित् संजवलमान उदित हों तो सम्यग्ज्ञान से उसको परास्त कर दिया जाता है। अन्यथा अनादिकाल का सहचारी दर्प जिसको शास्त्रकारों ने आठ फनवाला नाग कहा है, उसको स्वाधीन करने में अच्छेअच्छों की मात हुई है।

दर्प की व्याख्या :

मनस्विनीमानदलनोत्थो गर्वः (उतरा-४२८)

प्रशस्त मन के स्वामीओं के मन को खंडित करने के कारण मानव के मन में अहंकार गर्व का जन्म होता है, जिससे उसका आन्तरमन बार बार यही पुकारता है कि, "देखा, मैंने दूसरों को कैसा हरा दिया, उनको उखाड़ के फेंक देने की ताकत मेरे सिवा दूसरे किसी में है ? दो चार साल में २० से २५ लाख की माया इकट्ठी करनेवाला मुझ जैसा कोई हैं ? मेरा रूप, विज्ञान, तेज, ओज, यश ऐसे हैं कि अच्छे अच्छों की छुट्टी कर दे। ऐसे असंख्य प्रसंगों में फुला नहीं समाता अभिमानी संयम की आराधना कैसे कर सकेगा ?

देहदृप्तता, सौभाग्याद्यभिमानः अब्रह्मणोऽष्टमंनाम (प्रश्न ६६)

पूर्व भव की आराधना से प्राप्त किया शुभ शरीरनामकर्म, वर्ण नामकर्म, शुभ अंगापाग नामकर्म, तथा वीर्यांतराय कर्म

के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई स्फूर्ति की वजह से प्राप्त किये गये मदमाते, रंगीले शरीर, चक्षुदर्शन के कारण प्राप्त आंखों की सुन्दरता और उन आंखों से दिखाई देते अपने शरीर को सहलाने में, उसको सुन्दर बनाने में इन्द्रियों को पुष्ट करने में, उजले वस्त्रादि से शरीर का शाणगारने में अपना 'अहम्' काम करता रहता है।

लाभांतराय, भोगांतराय और उपभोगांतराय क्षयोपशम से प्राप्त हुये सौभाग्यादि में अभिमान प्रत्यक्ष दिखता है।

अब्रह्म (मैथुन) के जो भेद कहे हैं उसके आठवें भेद में अभिमान की भी गिनती की गई है। क्योंकि मैथुन के कुसंस्कार को यदि मर्यादा में न लिया जाये तो उसके कारण अपनी मैथुन शक्ति पर मानव को अभिमान बना रहता है। इसलिए अभिमान मैथुन का जनक है। क्योंकि अभिमानी मानव को मैथुन के संस्कार उत्पन्न होने में देर नहीं लगती है। अथवा मैथुन में मस्त आदमी को अभिमानी होने में देर नहीं लगती है। इसलिए मैथुन कर्म के संस्कार नाश नहीं हो पाते हैं। इन तीन कारणों से पनपनेवाला अभिमान संयम की विराधना कराये बिना नहीं रहता है।

दर्पिका या कारणमंतरेण प्रतिसेवा क्रियते सा (व्यवहार सूत्र ४७)

शरीर अच्छा हो, ज्ञानबल अच्छा हो, फिर भी आन्तरिक खराबिओं के कारण या जीवन की कमजोरी के कारण विराधना का कारण न होने पर भी ऐसे साधक की गति विराधना की तरफ होती है।

(२) प्रमाद प्रतिसेवना :—जिनसे आत्मा अपना कर्तव्य चुके वह प्रमाद है, जो आत्मा का पक्का दुश्मन है। इसीसे व्रतधारी, नियमधारी, प्रतिज्ञाबद्ध, और सत्यनिष्ठ भी अपने व्रत, नियम-प्रतिज्ञा और सत्य को छोड़ता है। उसमें प्रछन्नरुप से प्रमाद का ही चमत्कार होता है। इसी कारण देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामीने गौतम को कहा कि, हे गौतम, एक क्षण के लिए भी प्रमादी नहीं बनना।

शराबपान, अफीम, गांजा आदि का ज्यादा सेवन करने से नशा होता है, जो प्रमाद है।

पाँच इन्द्रियों के २३ विषयों में और उसकी चर्चा में मस्त आत्मा को विषयी कहते हैं कषायों के वश आत्मा जब किंकर्तव्यमूढ बनती है, तब गुरुदेव, तपस्वी या बहुमाननीय पूज्यों की हाजिरी में भी क्रोध किये बिना नहीं रह सकता है, जो प्रमाद हैं।

जिससे आत्मा की बहुत सारी शक्तियाँ प्रभावहीन होती है ऐसी निद्रा को भी प्रमाद कहा गया है। मतलब कि उसकी वजह से आत्मा अपनी साधना से, स्वाध्याय से या गुरुदेव की उपासना से विमुख रह जाता है। आहार करने से या आहार विहार और निहार की मर्यादातीत अवस्था से उपार्जित दर्शनावरणीय कर्म के कारण निद्रा आती है और दर्शनावरणीयकर्म की उदीरणा भी होती है। जो निद्राः, निद्रा निद्रा, प्रचला, प्रचला प्रचला में रूपांतर होती है जो आत्मा की कट्टर दुश्मन बनती है, जो प्रमाद है।

विकथा यानि अपने आत्मा की चर्चा करें बिना परद्रव्य की विभावदशा की, या परधर्म की चर्चा में, राजकथा में,

देशकथा में, भिन्न भिन्न भोजन कथा में, अलग अलग देश की युवान नारिओं की कथा में आत्मा मस्त बन जाती है तब दूसरी बातें उसके लिए गौण हो जाती है।

उपर्युक्त पाँच प्रमाद के कारण आत्मा अपने संयम की विराधना करे बिना नहीं रह सकता है।

(३) अनाभोग प्रतिसेवना :—यानि कि, आत्मा में स्थान ग्रहण करके बैठे कुसंस्कार, गंदा साहित्य चित्रकथा, या कविता आदि से बढ़े ज्ञान को ही अज्ञान कहा गया है अज्ञान यानि—

"कुत्सितं दुराचारपूर्णं मोहमायावर्धकम् ज्ञानम् अज्ञानम्" स्वभाव में से परभाव में,स्वयम में से परधर्म में और स्वदशा में से विजातीय दशा में ले जानेवाला ज्ञान अज्ञान ही है। सम्यग्ज्ञान में यदि अनंतशक्ति है, तो मिथ्याज्ञान में भी अनंतशक्ति रहती है। अपने पूर्वजन्म के उपार्जित ज्ञानावरणीय कर्म का उदय जब तीव्ररुप से होता है तब आत्मा में अज्ञान-विपरीत मिथ्याज्ञान और संशय ज्ञान की हाजरी नकारी नहीं जा सकती। उसमें भी जवानी की मदमाती अवस्था, विषयभोग की लालसा, कषायों की अनुरागिता, शरीर की माया आदि मोहकर्म का सहवास ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है त्यों त्यों ज्ञानावरणीय कर्म की उदीरणा होने से उस कर्म का उदय तीव्रतम हो जाता है। फलस्वरूप २०-२० गाथाओं का पठन करनेवाला एक गाथा का भी पठन नहीं कर सकता और क्षयोपशम के कारण कंठस्थ की गई गाथा भी वह भूल जाता है। इसलिए अनाभोग यानि अज्ञानवश उपयोग बिना की आत्मा संयम की विराधना करने लगती है।

आतुर प्रतिसेवना :

यानि कि ग्लानी, बिमारी या अशक्त अवस्था के परिणामस्वरुप संयम की जो विराधना होती है उसको आतुर प्रतिसेवना कहते हैं।

पूर्वभव में संयम, व्रत-नियम, प्रत्याख्यान आदि की की गई विराधना की वजह से उपार्जन किया गया असाता-वेदनीय कर्म जब उदय में आता है तब मानव (साधक) बीमार और ग्लान बनता है। उसमें भी यदि ज्ञान संज्ञा मजबूत न हो तो मोहनीय कर्म के तूफान को लेकर आहारादि संज्ञा मर्यादा से बाहर होने पर खानपान रहनसहन आदि का विवेकदीप बुझने से या मंद होने से असातावेदनीय कर्म की उदीरणा होने पर उस कर्म का उदय भी तीव्रतम बनता है।

फलस्वरुप आदमी किसी वक्त शरीर से अशक्त, दूसरे वक्त मानसिक बिमारी, तीसरे वक्त व्याधि और चौथे वक्त उपाधि के कारण उस साधक का शरीरतंत्र सदंतर अशक्त हो जाता है और संयम की विराधना की ओर वह आगे ही बढ़ता जाता है। इसलिए आतुर आदमी संयम का विराधक है।

(५) आपत्प्रतिसेवना :—आपत्तिग्रस्त-मुनि भी संयम का विराधक बनता है। उसके चार प्रकार निम्नलिखित हैं :

(१) द्रव्यापति—इस मुनि को कल्पना के मुताबिक प्रासुक अन्नपानी नहीं मिलने पर उसका मन चलित हो जाता है और चलायमान स्थिति की संयम के साथ दोस्ती नहीं होती।

(२) क्षेत्रापति—यह मुनि जंगल में भयग्रस्त हो जाने से या रास्ता भूल जाने से चलित हो तब उसे क्षेत्रापति कहते हैं।

(३) कालापति—अकाल आदि के समय जो आपत्ति सहन करनी होती है उसे कालापति मुनि कहते हैं।

(४) भावापति—जब आधि-व्याधि-उपाधि का दौर चलता हो और उसमें घिरा मुनि भावापति कहलाता है।

(६) संकीर्णता प्रतिसेवना :—स्वपक्ष या परपक्ष के मुनिओं का कभी एक स्थान में इकटठे होने का हो तभी व्याकुलता को लेकर मानसिक जीवन में आर्तध्यान का प्रभाव बनता है, जो संयम विराधना है।

(७) आकस्मिक प्रतिसेवा :—इच्छा न होने पर भी अकस्मात् क्रिया हो जाती है। जैसे की गुरुजी की गैर-मौजूदगी में शिष्य ने पैर पसारे और गुरु के आने पर भी वह पैर संकुचित नहीं कर पाता तो उसे आकस्मिक प्रतिसेवा कहते हैं।

(८) भय प्रतिसेवा :—हिंसा आदि का सेवन हो चुका और शिष्य भयग्रस्त बना यह अवस्था ही संयम की विराधक है।

(९) क्रोध प्रतिसेवना :—एक मियान में जिस तरह दो तलवारें नहीं रह सकती उस तरह क्रोध और संयम भी एक साथ नहीं रह सकते।

(१०) विमर्श प्रतिसेवना :—शिष्य की परीक्षा करते वक्त गुरुद्वारा जो विराधना हो उसे विमर्श प्रतिसेवना कहते हैं।

आलोचना के समय दस दोषों की सेवना :

सम्यग्ज्ञान से परिपुष्ट न होनेवाले अध्यवसायों में

बाह्य निमित्त भी दखलअंदाजी कर सकने को समर्थ होते हैं। इसलिए कहा गया है कि, "योग्य सामग्री के अभाव से हीयमान परिणाम, अध-अध पूरव योग से ऐहवो मन को काम"। तभी तो एक समय के शुद्ध अध्यवसाय भी दूसरे पल हीन, हीनतर, और हीनतम हो जाते हैं और अभी के हीन अध्यवसाय भी अच्छे निमित्त मिलने पर शुद्ध, शुद्धतर और शुद्धतम बन जाते हैं।

जब अध्यवसाय अशुद्ध बनते हैं, तभी शुभानुष्ठानों में आत्मा की परिणति लक्ष्य को सिद्ध कराने के लायक नहीं रहती है। पापों के अतिचारों की आलोचना करनी यह शुद्धतम क्रिया है, लेकिन किसी वक्त स्वाध्याय बल कमजोर होने से आलोचना के वक्त आत्मा की परिणति भी कमजोर हो जाती है।

मतलब की आलोचना करनी ही चाहिए ऐसी ज्ञानसंज्ञा अच्छी होने के बावजूद भी सम्यक्चारित्र की आराधना कमजोर होने से आलोचना के वक्त मनजीभाई हरामखोरी किये बिना नहीं रह सकते और आत्मा की शुद्धि के लिए की जाती आलोचना भी कमजोर होने से वंध्य रहती है। भगवती-सूत्रकार ने आलोचना के दस दोष निम्नलिखित कहे हैं :

(१) अकंप्य दोष :—'गुरुदेव की सेवा इस प्रकार करूँ कि वे प्रसन्न होकर मुझे थोड़ा प्रायश्चित देंगे' ऐसा सोचना अकंप्य नाम की आलोचना का दोष है।

(२) अनुमान दोष :—'मेरे अपराध बहुत हो सकते है, लेकिन सब यदि गुरुजी को कह दूँगा तो प्रायश्चित ज्यादा देंगे' ऐसा सोचकर थोड़े अपराध ही जाहिर करे जिससे

कम प्रायश्चित मिले इस प्रकार का अनुमान करके वह अपने अपराधों की आलोचना कर लेता है और गुरुजी के पास से थोड़ा प्रायश्चित लेकर उनको भी खुश कर देता है।

(३) दृष्टदोष :—जिन अपराधों को गुरुजी ने देख लिया हो उनकी आलोचना करके कम प्रायश्चित स्वीकार करे वह दृष्टदोष है। जिन अपराधों का गुरुजी को ख्याल नहीं है उसका प्रकाशन ज्यादा दंड के भय से नहीं करता है।

(४) बादर दोष :—बड़े अतिचार लगे हो और जिनका प्रायश्चित कम हो उसकी आलोचना करे और शेष गुप्त रखे।

(५) सूक्ष्म दोष :—छोटी बातें अतिचार या मूल के बारे में गुरु से बार-बार कहे तब गुरु को ऐसा लगता है कि छोटी भी बातें करता है, तो भला बड़ी को क्यों छुपायेगा। ऐसा सोचकर गुरु की आँखों में धूल झोंककर छोटे अपराधों की आलोचना करके प्रायश्चित का स्वीकार कर खुश होता है।

(६) गुप्त दोष :—आलोचना करनी है लेकिन पास में बैठा कोई सुन न ले इस तरह गुरू के पास जाकर शर्म से आहिस्ता आहिस्ता बोले और प्रायश्चित स्वीकार कर ले।

(७) बड़े शब्द :—सब सुने इस तरह अपने अतिचार कहे और प्रायश्चित का स्वीकार कर ले।

(८) बहुजन :—आदत से मजबूर शिष्य एक ही अतिचार की आलोचना भिन्न भिन्न आचार्यों के पास करता है।

(९) अव्रत :—दंड देने की जिनके पास योग्यता नहीं है उनके पास अतिचारों की आलोचना करें।

(१०) तत्सेवी :—जिन अतिचारों का प्रायश्चित लेने

शिष्य जिस गुरु के पास जाता है वह गुरु भी वैसे अतिचार करता हो ।

नोट :—उपरोक्त प्रकार की आलोचना लेनेवाले का मन प्रायश्चितमय नहीं है यह स्पष्ट दिखाई देता है । इसलिए इन्हें आलोचना के दोष कहे गये हैं ।

सच्ची आलोचना कौन कर सकता है ?

हे प्रभो ! उपरोक्त सूत्र में आलोचना के दोष दिखाये हैं तो फिर सच्ची आलोचना कौन कर सकता है । उसमें कौन से गुण होने जरूरी है ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम, निम्नलिखित दस प्रकार के भाग्यशाली ही सम्यक प्रकार से आलोचना-प्रायश्चित करने के लिए समर्थ होते हैं । क्योंकि, आलोचना आभ्यंतर तप होने से जो पुण्यशाली गुरुकुलवासी हो, स्वाध्याय प्रेमी हो, पापी भीरुतावाला हो वही सच्चे अर्थ में आलोचना करते हैं जो इस प्रकार है :—

(१) उत्तम जाति :—जन्म लेने वाली संतान के पिता की परंपरा में सत्य, सदाचार ब्रह्मचर्य, न्यायपरायणता और सात्विकता आदि गुण सर्वांश या अल्पांश भी रहे हो ऐसे शुद्ध पिता से उत्पन्न होनेवाला बालक ही उत्तम जाति का कहलाता है । जो गृहस्थवेश में रहते वक्त भी असत्यकार्य, दुराचार आदि करता नहीं है इसलिए उसके संयमी जीवन मे अपकृत्यों की संभावना नहीं रहती है । फिर भी चारित्र मोहनीय कर्म की वजह से अतिचारों की संभावना क्वचित् दिखाई दे तो उत्तमजाति सम्पन्नमुनि अपने गुरु को शुद्ध भाव से वह अपराध अतिचार कहेंगे और गुरु ने दिया प्रायश्चित स्वीकार लेंगे ।

(२) कुल सम्पन्न :—अपनी माता और उसकी परंपरा में एक पतिव्रत, ब्रह्मचर्य संस्कार सत्यवादिता, हितमिताहार और मितमिष्ट भाषिता आदि खानदानीजनक संस्कार रहते तो ऐसी माता की कुक्षि से जन्मलेनेवाला जातक कुलसम्पन्न कहलाता है। पिता की परंपरा को जाति और माता की परंपरा को कुल कहा जाता है। ऐसे भाग्यशाली स्वभाव से ही लज्जाशील, विनयी, विवेकी और बड़ों की आज्ञा माननेवाले होते हैं। शिक्षित संयमधारी होने के बाद गुरु चरण के पूर्ण रूप से दास बनकर अतिचारों का प्रकाशन-प्रायश्चित और फिर से उन दोषों को न करने का स्वीकार करके अपने संयम जीवन को प्रतिसमय शुद्ध करनेवाले होते हैं।

(३) विनय समन्न :—जो साधक विनय धर्म से सम्पन्न हो वह सम्यक् रीत से आलोचना करने के बावजूद अपने संयम स्थानों को पवित्र करनेवाला होता है।

"विशेषण-विशिष्ट मोक्ष पुरुषार्थबलेन दूरीकरोति-अपनयति-अष्टविधकर्म जन्य कुसंस्कारान् इति विनयः" यानि कि अपने पुरुषार्थ विशेष से आठ कर्मों से उत्पन्न हुए कुसंस्कारों को अपने आत्मप्रदेश से दूर करें उसे विनय कहते हैं, जो सर्वश्रेष्ठधर्म है। ऐसा विनयधर्म "विनयो गुरुशुश्रुषा" (आव ४१५) अर्थात् पंचमहाव्रतधारी अष्टप्रवचन माता के पालक और षड्जीवनिकाय के रक्षक गुरुदेव की बहुमानपूर्वक सेवा करनेवाला साधक ही प्राप्त कर सकता है। और उसकी आराधना कर सकता है। धर्म की माता "धम्मस्स जणणी दया" दया है तो "धम्मस्स जणओ विनयो"

धर्म का पिता विनय है। दया और विनय की आराधना से से साधक अपनी साधना को सफल करता है। ऐसे शिष्य को नंदीसूत्र की शास्त्रीय परिभाषा में 'विनेय' कहा है।

"गुरोर्निवेदितात्मा यो गुरुभावानुवर्तकः मुक्त्यर्थं चेष्टते सो विनयः" (प्रज्ञा १६३) समय समय पर लगनेवाले अतिचारों को सम्यग्बुद्धि से अपने गुरु को कहे वह विनेय हैं। अपने गुरु की आज्ञा को ही परमात्मा की आज्ञा मानकर अपना जीवन अरिहंत परमात्मा के शासन के प्रति योग्य बनावे वह विनेय है, शिष्य है क्योंकि अरिहंत का शासन ही कर्मों की निर्जरा के लिए श्रेष्ठ शासन है।

(४) ज्ञान सम्पन्न :–सम्यग्ज्ञानयुक्त साधक चाहे अष्टमाता का ज्ञानी हो तो भी अपने अतिचारों की आलोचना शुद्ध भाव से करके अपने आत्मा को मुक्त बनाता है। ठाणांग सूत्र में सम्यग्ज्ञान को ही ज्ञान कहा गया है। जिससे अपनी आत्मा को यथार्थरुप से जाना जाय वह ज्ञान है। जिस ज्ञान में सम्यक्त्व, यथार्थत्व, स्वपर प्रकाशित न हो तो नवपूर्व के ज्ञाता या लाखों करोड़ों श्लोकों के रचयिता को भी अज्ञानी कहा गया है। क्योंकि अज्ञान अवस्था में रहनेवाला मानव अपनी बुद्धि को, मन को, इन्द्रियों को या शरीर को आत्मसात् या आत्मा आधीन करने में समर्थ नहीं हो पाता है। इसलिए जैनागम में ज्ञान को शक्ति कही है। जिसकी वजह से आत्मा ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी, यशस्वी और तपस्वी बनता है। इसलिए कहा गया है कि :—

अज्ञानरुपी अंधकार का नाश करने वाला,
सत्य और सदाचार की मर्यादामें रहनेवाला,

मोहमायादि कर्मों की जाल को छेदनेवाला,
इन्द्रों से और सुरासुर देवों से सेवित,
जन्म, जरा, मृत्यु, शोक, संताप, आधि,
व्याधि, और उपाधि से मानव मात्र को मुक्त करानेवाला,
तथा आत्मा को सुख, शांति और समाधि देनेवाला
सम्यग्ज्ञान ही है।

आत्मा के कई गुणों में सम्यगज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ है और प्रधान गुण है क्योंकि, सब सदनुष्ठानों के मूल में सम्यकश्रद्धा हो तो ही अनुष्ठान फलदायक बनता है और उस श्रद्धा के मूल में सम्यकत्व या सम्यग्ज्ञान ही विराजमान होने से सम्यग्दर्शन प्रतिसमय पर शुद्ध होता है, इसी प्रकार सम्यक्-चारित्र के मूल में भी ज्ञान प्रकाशित होकर रहता है।

वैसे तो अक्षर के अनंत भाग का उद्घाटन तो निगोदवर्ती जीव को भी होता है- लेकिन ज्यों ज्यों वह आत्मा अकाम-निर्जरा के बल से हल्का होता जाता है त्यों त्यों ज्ञान की वृद्धि भी होती जाती है और अस्पष्टरुप में भी अभक्ष्य अपेयादि दुराचारों को हेय समझता है और भक्ष्यादि पदार्थों का विवेक होते ही बहुत सारे कर्म तूटने की संभावना होती है तब जीवात्मा को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। जो अरिहंत परमात्मा के प्ररूपित जीव-अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष की श्रद्धामय है। लेकिन यह भूलना नहीं चाहिये की, जिनको अष्टप्रवचन माता जितना भी सम्यग्ज्ञान न हो तो सम्यग्दर्शन के दीपक को बुझने में देर नहीं लगती। फिर सम्यकचारित्र कैसे टिकेगा ? क्योंकि चारित्र की माता ही अष्टप्रवचन है। माता की गैरमौजूदगी में पुत्रकी उत्पति होती नहीं है।

मरीचि के जीवन में सम्यग्ज्ञान का दीपक ज्यों ज्यों बुझता गया त्यों त्यों चारित्रमोहनीय कर्म का जोर बढ़ता गया और भाग्य में पतन अवस्था शेष रही। ऐसी स्थिति में मिथ्यादर्शन मोह ने भी जोरदार हमला किया और भगवान महावीर स्वामी के तीसरे भव का आत्मा मरीचि सम्यक्दर्शन से भ्रष्ट हुआ। उसके बाद १२ भव तक वह उस सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सका।

इसलिए सम्यक्दर्शन और चारित्र के बीच में ज्ञान बसा है जो आत्मा की अभूतपूर्व शक्ति है। इसलिए ज्ञान संम्पन्न मुनि अपने गुरुचरणों में मन-वचन तथा काया का समर्पण करते हुये अतिचारों की आलोचना सम्यक् प्रकार से करने में समर्थ होता है।

(५) दर्शन संपन्न :—दर्शन का मतलब है, सम्यक्दर्शन से परिशुद्ध बना साधक अपने एक भी अपराध को छुपाये बिना गुरु को निवेदन करेगा और उनसे प्राप्त प्रायश्चित को प्रसन्नचित्त से स्वीकार करेगा।

मोहनीय कर्म की महाभयंकर सात प्रकृतिओं का उपशम, क्षयोपशम् या क्षय होने के बाद ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ये प्रकृतियाँ आत्मा की दुश्मन होने से, जहाँ तक उनका जोर होता है, तब तक साधक भद्र, सरल, उदार और दूसरों को काम आनेवाला नहीं बन सकताहै। क्योंकि—इसमें अनंतानुबंधी यानि अनंतभवों को बिगाड़नेवाले कषाय और आत्मा का परिचय न करने दे ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म अत्यंत मस्ती में होने से उसके मालिक के हाथ, पैर, आँख कान, जीभ, मन बुद्धि और ज्ञान भी हिंसक, महाहिंसक असत्यवादपूर्ण चौर्यकर्म प्रधान, मर्यादादित मैथुनकर्मी और

परिग्रह नाम के महाग्रह से ग्रसित होते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप संख्यात, असंख्यात और अनंत जीवों के साथ वैर-विरोध-कषाय और स्वार्थ साधना के चक्र में वह साधक संसार का भी दुश्मन बन जाता है।

जबकि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होते ही महाभयंकर चिकने कर्म और वैरविरोधमय जीवन नष्ट होता है और आत्मा में अभूतपूर्व नया प्रकाश छा जाता है। जिससे आत्मा का यथार्थस्वरुप तथा ज्ञानावरणीयादि कर्मों में छुपी भयंकरता नष्ट होने से या दब जाने से आत्मा में बसा हुआ अनादि-काल का अज्ञान अदृश्य होता है तब सम्यग्ज्ञान का दीपक प्रकटते ही काषायिक और वैषयिकजीवन जो मर्यादातीत था वह मर्यादित होता है, तथा परपदार्थों की, परधर्मों की या विभाव दशा की समाप्ती होती है।

सड़क पर खड़े रहे हुए आदमी को हर एक इमारत या या पेड ऊँचा-नीचा दिखता है लेकिन जब वही आदमी इमारत के नववें या दसवें मंजले पर चढ़कर गाँव की ओर देखता है तब उसे गाँव और पेड़ समान नजर आते हैं। इसी प्रकार जीवन में अनंतानुबंधीकषायों का जोर होता है तब संसार-सृष्टि में विषमता का एहसास होता है और सम्यक्त्व का प्रकाश मिलते ही प्रत्येक मानव में किसी न किसी गुण का अवलोकन होता है। अनंतानुबंधी कषायों का कातिलविष नष्ट होते ही आदमी के जीवन में समत्व, उदारत्व, धीरत्व, दानरुचित्व, मैत्रीभाव और कारुण्यभाव का प्रादुर्भाव होता है तथा कर्मों के कारण पापी, निर्धन कषायी, विषयी मानव की ओर अपेक्षाभाव जन्म लेता है। सम्यक्त्व का तेज यदि जीवन में हो तो मानव अपने उदित काम क्रोधादि का शमन

करता है। संसार के भोगविलास को भुगतने के बावजूद उदासीन रहता है। वैराग्यपूर्ण जीवन बसर करता है तथा दीनदुखी तथा अनाथों की ओर द्रव्य तथा भावदयालु बनता है। जीवादि तत्वों की ओर पूर्णरुप से श्रद्धालु बनकर आश्रव तथा पाप बंधन के मार्गों को छोड़कर संवर तथा निर्जरा के मार्ग का स्वीकार करता है या तो उसकी तालिम लेता है। इस प्रकार दर्शनसंपन्नमुनि को एक भी पाप, अतिचार, अपराध आदि गुरु से छुपाने का नहीं होता है।

(६) चारित्र संपन्न :—सम्यक्चारित्रमय मुनिराज किये गये और अनुमोदित पापों का आलोचन शुद्ध तरीके से करके अपने को भार से मुक्त बनाते है। ज्ञान की तरह चारित्र भी आत्मा का गुण होने से निगोद के जीवों को भी चारित्र नकारा नहीं जा सकता है। इसलिए अकामनिर्जरा के योग से आत्मा ज्यों ज्यों हलका होता हैं त्यों त्यों उसका चारित्र गुण बढ़ता है। सामान्यतया अमुक करना और अमुक नहीं करना इतने प्रमाण में ही चारित्र का अर्थ लिया जाता है, लेकिन सम्यग्दर्शन से परिशुद्ध बना ज्ञान ज्यों ज्यों बढ़ता है त्यों त्यों चारित्र का यथार्थत्व ख्याल में आता है और पूर्वभव का आराधक आत्मा या इस भव का पक्का निश्चयबली आत्मा सर्वविरति चारित्र को स्वीकार करके अपने को निर्मल बनाता है।

"चय ते आठे कर्म नो रिकत करे जे तेह, चारित्र नाम निरुक्ते भाख्युं ते वंदु गुण गेह रे '' भविया"।

संचित यानि कि, भवभवांतर में मोह-माया के वश होकर उपार्जित किये कर्मों को आत्मप्रदेश से दूर किये जायें

वह चारित्र है। अथवा चारित्र क्रिया है, जिससे आत्मा नये पापों को रोकता है और पुराने पापों को धो डालता है, वह चारित्र है।

आत्मकल्याण, मुक्ति की प्राप्ति, केवलज्ञान की सिद्धि या कर्मपिंजर से सर्वथा मुक्त होने में दो तत्वों की परमावश्यकता सबने स्विकारी है। नये पापों का द्वार बंध करना और पुराने पापों को निर्जरित करना। दर्शनज्ञान की आराधना नये पापों के द्वार बंध कराती है, जबकि चारित्र-धर्म की आराधना पुराने पापों से छुटकारा दिलाकर आत्मा को उसके परम लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्त कराने में पूर्ण रूप से सहयोग देती है। इसलिए कहा गया है कि, सम्यग्दर्शनरूपी ढाल, ज्ञानरूपी तलवार और चारित्ररूपी कवच (बख्तर) जिसके पास हो उसको अपने अंतिम लक्ष्य पर पहुँचने में देर नहीं लगती।

अनुभवसिद्ध शास्त्रवचन यह है कि, "प्रथमज्ञान फिर अहिंसा, श्री सिद्धांत ने कहा है, ज्ञान को वंदो उसकी निंदा मत करो, ज्ञानी ने शिवसुख चखा है, · · भविका।" सारांश यह है कि चराचर संसार में अनंतानंत जीव उनके प्रदेश, और गुण तथा पर्यायों का ज्ञान प्रथम होना चाहिए। उसके बाद ही ज्ञान को श्रद्धा में उतारना चाहिए और बाद में ही उसका आचरण करना चाहिए उसका नाम ही आत्म-कल्याण है। जैन शासन ने जीवों की उत्पत्ति का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान संसार को दिया है, इसलिए किसी भी जीव की हत्या न हो यही चारित्र है, जिसके दो प्रकार हैं :—

(१) सर्व विरति चारित्र (२) देश विरति चारित।

जिसका संक्षेप और विस्तारपूर्वक वर्णन १-२-३ भाग में किया गया है। प्रस्तुत प्रश्न में सर्व-विरति चारित्र की बात होने से, मोक्षेच्छुमुनि किये गये अपराध, अतिचार और भूलों को अपने गुरु से क्यों छुपायेगा ? आलोचना करने में और प्रायश्चित लेने में शिथिल क्यों बनेगा ? सारांश यह है कि, शरम या संकोच रखे बिना वह पुण्यशाली मुनिराज प्रायश्चित ले लेते हैं।

नोट :—राजा महाराजा यावत् भरत, सगर, सनतकुमार जैसे चक्रवर्ती सम्यग्ज्ञानपूर्वक छः खंड का राजपाट, ६४ हजार महिलाओं की माया को लात मारकर भी चारित्र ग्रहण करते हैं। शालीभद्र जैसे अतूल लक्ष्मी के वैभव तथा ३२ पद्मिनी महिलाओं को ठोकर मारकर चारित्र लेते हैं और अपना कल्याण करते हैं। विजयशेठ और विजयासेठाणी जो श्रीमंत थे, शारीरिकशक्ति संपन्न थे, घर में मेवा, मिष्ठान खानेवाले थे फिर भी आजीवन यानि शादी की प्रथम रात से ही अखंड नैतिक और सर्वथा अद्वितीय ब्रह्मचर्य का (चारित्रधर्म का) पालन करने में समर्थ हो सके थे।

राजीमती-चंदनबाला जैसी राजकुमारी कामदेव के नशे को संपूर्ण उतारकर दीक्षित बनी थी सारांश यह है कि, ज्ञानमात्रापूर्वक वैराग्यमय होकर दीक्षा स्वीकार करनेवाले गरीब से तवंगर तक के असंख्य कथानक शास्त्र में लिखे पड़े हैं।

(७) क्षमाधर्मसम्पन्न :—क्षमाप्रधान मुनि ही पापों के आलोचक होने से आत्मकल्याण के मालिक बनते हैं। क्रोध-कषाय आत्मा का कट्टर दुश्मन है और क्षमा मुनिराज का परमधर्म है। जब दर्शन, ज्ञान और चारित्र की आराधना

जीवन के रोम-रोम में होती है, तब अनादिकाल के कषायों का जोर कम पड़ता है, या तो क्षय होने की स्थिति में पहुंच जाता है। तब मुनि क्षमामय बनता है। "क्षमा वीरस्य भूषणम्" यानि कि, आत्मा से वीर बने भाग्यशाली का भूषण क्षमा है, तभी तो पाप शिरोमणि पालकमंत्री द्वारा पीलूघाणी में पीले जाते मुनि, गजसुकुमाल मुनि, मेतारज मुनि, दया के सागर महावीर स्वामी राजमती साध्वीजी महाराज और स्थूलिभद्र मुनिजी आदि के दृष्टांत हमेशा के लिए आदरणीय और स्मरणीय बने हुए हैं। इन सब कारणों को लेकर अहिंसादि धर्म की आराधना करने से उत्पन्न होनेवाली वीरता ही क्षमाधर्म की जनेता है, माता है। ऐसा क्षमाधर्म जिसको प्राप्त है, वह कदापि प्रतिशोध का बदला प्रतिशोध, क्रोध का बदला क्रोध से, प्रपंच का बदला प्रपंच से या शैतानी का बदला शैतानी से लेता या देता नहीं हैं।

एक रात में बीस की संख्या में किये गये उपसर्ग और छः छः माह तक आहार पानी में अंतराय भुगतने वाले भगवान महावीर स्वामी को परिषहसमय के दौरान जरा भी दुःख नहीं हुआ है। लेकिन जब संगम के उपसर्ग शांत हुए तब की चरमसीमा पर पहुंचनेवाले महावीर स्वामी की आँखें दया से भर आई थी।

यह बिचारा "मेरे कारण अधोगामी होगा" उसके अधः-पतन में मैं कारणभूत बना, ऐसी भावदया भगवान महावीर स्वामी को छोड़कर और कहाँ रहेगी? उसका एक भी कथानक कहीं भी पढ़ा नहीं है और सुना नहीं है। पर्वत की एकांत गुफा में विषयवासना की मांग करनेवाले रहनेमि से हतप्रभ

बिना दया की मूर्ति जैन साध्वीजी कहती है कि "देवरिया मुनिवर ध्यान में रहना" इसलिए भगवती सूत्रकार ने कहा है कि विवेकधर्म की पुत्री क्षमा के साथ पाणीग्रहण करनेवाले जैनमुनि ही पापों की आलोचना करके उत्तरोत्तर कल्याण की ओर बढ़ता है।

(८) दान्त :—पाँच इन्द्रियों का दमन करने के बाद आत्माधीन बना मुनि ही अपने पापों का आलोचक बनता है। यानि कि पापों की कथनी गुरु जी के पास करके प्रायश्चित पा सकता है। अनुभविओं ने कहा है कि चाहे कितनी ही और कैसी ही पौद्गलिक चीजें पाने के लिए, दूसरों के लिए अशक्य जैसे युद्ध खेलने, वैषयिक सुख भोगने, कषायों के रंगराग खेलने, और हजारों लोगों को मारना सरल है लेकिन आत्मदमन करना अत्यन्त कष्ट-साधक है। संसार का विजेता उसकी हयाती तक ही स्मरणीय रहेगा, जबकि आत्मविजेता मरने के बाद भी स्मरणीय, वंदनीय और पूजनीय रहेगा।

सामनेवाले पर क्रोध करने की भूमिका तैयार है फिर भी क्रोध नहीं करना, अभिमान आये ऐसे पौद्गलिक साधनों के बीच में रहते हुए भी अभिमान नहीं करना, लाखों आदमियों की आंखों में धूल झोंकने की शक्ति हो फिर भी माया प्रपंच का सेवन नहीं करना और लाभांतराय कर्म का क्षयोपशम है फिर भी लोभ और परिग्रह संज्ञा को भड़कने नहीं देना यह कोई बच्चों का खेल नहीं है। बार-बार आप को क्रोध आता हो, अहंकार की मात्रा बढ़ती हो, मायावश बनने के संयोगों में मायाधीन बनना पड़ता हो और लोभ राक्षस के मुंह में फंस गये हो तो समझ लेना कि आप

आत्मसंयम से हजारों मील दूर हैं और अनंत संसार की ओर प्रस्थान करने की तैयारी में हैं।

संसार को कम करने में बहुत से सदनुष्ठान शास्त्रों में पड़े हुए हैं किन्तु सर्वश्रेष्ठ साधन तो इन्द्रियों के दमन में ही कहा गया है और आत्मयोगीओं ने उसे मान्यता दी है, इसलिए आध्यात्मिक ज्ञान पाने का, उसे जीवन में उतारने का तथा मैत्रीभाव और प्रमोदभाव को बढ़ाने का मौलिक कारण इन्द्रिय दमन में ही है। शरीर रूपी रथ के साथ घोड़े की उपमा धारण किये हुए पाँच इन्द्रियों के मुंह में यदि आप सम्यग्ज्ञान की लगाम नहीं रख पाये तो वे इन्द्रियाँ कभी भी तूफान करके आपको, आपकी बुद्धि को, ज्ञान को, मन को और शरीर को, टेढ़े रास्ते पर ले जायेगी। उसकी आपको खबर हो पायेगी यह तो परमात्मा ही जाने।

अभी आप संजवलन कषायों के मालिक होंगे तो भी इन्द्रीयाधीन रहे तो कभी भी उन संजवलन कषायों का अनंतानुबंध में परिवर्तन होगा तो भी पता नहीं चलेगा। इसलिए महान पुण्योदय और आत्मा की अदम्य पुरुषार्थ शक्ति द्वारा जब अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, और प्रत्याख्यानी कषायों को दबा दिया है और संजवलन कषाय शेष रहे हैं तब शेष रहे कषायों को पतला करने लिए इन्द्रियदमन सिवा दूसरा एक भी मंत्र, तंत्र काम में नहीं आ सकता है। ऐसी स्थिति में वह साधक भाग्यशाली है, जिसने इन्द्रियों के दमन को ही संयम शुद्धि का कारण माना होगा।

(९) अमायावी :—कषायों में भी 'माया कषाय' को नागिन की उपमा दी गई है। क्रोध, लोभ और गर्व नर होने

से क्वचित् सुसाध्य बनते हैं, लेकिन विकृत बनी और भड़की हुई माया को वश करना अच्छे अच्छे योगीयों और तपस्वीओं के लिए भी कठिन है। उसमें भी यदि मृषावाद का मिश्रण किया जाये तो मायामृषावाद भयंकर में भयंकर पापस्थानक बनता है, जिसको वश करने में कच्ची मिट्टी का मानव सफल नहीं हुआ है।

मोक्षमार्ग प्राप्त करने का आदि कारण "अमायावित्व" होने से उसकी आराधना वह 'श्रेयस' है, शेष सब प्रेयस है। जिसकी आराधना अनंत भवों में की है। लेकिन श्रेयस की आराधना में जीव अब तक तो डरपोक ही रहा है, इसलिए जीवन को अमायावी बनाना ही हितावह है और ऐसा साधक ही सच्चा आलोचक बनके सेवित पापों का प्रायश्चित करता है। वर्तमान को संवृत करना है और भविष्य में जागृत रहता है।

(१०) अपश्चादनुतापी :—यानि कि गुरुमहाराज ने चाहे जितना भी प्रायश्चित या दंड दिया हो उसमें जरा भी पश्चाताप न करें वही सच्चा साधक है।

आलोचना देनेवाले गुरु कैसे होने चाहिए ?

सूत्रकार सुधर्मास्वामी जी ने आलोचना देनेवाला गुरु कैसे होने चाहिये उसका विवेचन करते कहा है कि, सब शिष्य, शिष्या, श्रावक, श्राविकाओं को आलोचना देनेवाले गुरु में आठ गुण सर्वथा अनिवार्य है, जो निम्नलिखित हैं :—

(१) आचारवान् :- प्रायश्चित देनेवाले गुरु को भी पाँच आचार बराबर पालने चाहिए क्योंकि गुरु शब्द में 'गु' का

अर्थ अंधकार और 'रु' का अर्थ अंधकार में से बाहर निकालनेवाला होता है। "गु शब्दस्तुवंधकारः स्यात्, 'रु' शब्दस्तन्निवारकः अक्षरद्वय संयोगेन गुरुरभिधीयते"।

यानि की शिष्य को अंधकार में से बाहर निकाले वह गुरु है। शिष्य चाहे कैसा भी हो वह गुरु के लिए पुत्रतुल्य रहता है। वह भूल के पात्र है, छद्मस्थ हैं, दोषमय है, कर्मों से भारी है, इसलिए ऐसे शिष्य को आत्मकल्याणाभिमुखी करना गुरुदेव की परम फरज है।

बिगड़े हुए शाक या दाल को सुधारने के लिए या तो उसको ज्यादा स्वादिष्ट बनाने के लिए आम, लींबू मिर्ची आदि के आचार काम में आते हैं उसी प्रकार अनादिकाल से बिगड़े आत्मा को सुधारने के लिए पाँच प्रकार के आचार की योजना है, जिसके सेवन से आत्मा सुंदर, पवित्र और स्वच्छ बनती है।

(१) ज्ञानाचार :—सम्यग्ज्ञानमय जीवन बनाना।

(२) दर्शनाचार :—शुद्ध श्रद्धामय अवस्था प्राप्त करनी।

(३) चारित्राचार :—आचार, विचार और उच्चार पवित्र बनाना।

(४) तपाचार :—शुद्ध तपस्यामय जीवन रखना।

(५) वीर्याचार :—शुद्धानुष्ठान में भी स्फूर्ति रखनी।

(१) उपरोक्त आचारवाले आचारवंत गुरु ही अपने शिष्यों को आचार में स्थिर करनेवाले होते हैं।

(२) आधारवान :—आलोचना ग्राहक शिष्य की सब बातें सुने और उसका अवधारण करके योग्य प्रायश्चित का निर्णय करे।

(३) व्यवहारवंत :—आगमसूत्र आदि पाँच प्रकार के व्यवहार को जाननेवाले गुरु किस अपराध का प्रायश्चित कितना और कैसा देना उसका निर्णय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के मुताबिक करते हैं क्योंकि एक समान अपराध करने वाले को हर वक्त एक समान प्रायश्चित नहीं होता है।

(४) अपव्रीडक :—आलोचक यदि शरम का मारा अपने अपराधों को कहते हुये शरमिंदा हो तो उसे मीठे वचनों से समझाकर उसकी शरम छुड़ाकर उसे प्रायश्चित दे।

(५) प्रकुर्वक :—शिष्यों के अपराधों का प्रायश्चित देकर उनका चारित्र शुद्ध करने में समर्थ हों।

(६) अपरिस्रावी :—अपने शिष्यों के या एक शिष्य के अपराधों को गुप्त रखने की ताकतवाला हो, अर्थात् एक दूसरे के अतिचार, भूल, अपराध को एक दूसरे के सामने प्रगट नहीं करनेवाला हो, सागर जैसा गंभीर हो उसे गुरु कहा जाता है।

(७) निर्यापक :—प्रायश्चित लेने में और पूर्ण करने में असक्त शिष्य को उसकी शक्ति के मुताबिक ही प्रायश्चित दे।

(८) अपायदर्शी :—शिष्यों को परम हितबुद्धि से संयम के दूषण बताना नरकादि का भय बताना, जिससे वे प्रायश्चित लेने को तैयार हों।

उपरोक्त प्रकार से प्रायश्चित देनेवाले गुरु के आठ गुण बताये गये हैं।

साधु समाचारी कितने प्रकार से कही है ?

हे प्रभो ! समाचारी के कितने भेद हैं ?

जवाब में भगवंत ने दस भेद कहे हैं जो इस प्रकार हैं :—

(१) इच्छाकार समाचारी :—अपना कार्य हो या दूसरे मुनि का कार्य और वह कार्य अपने को करना हो तब भाषा-प्रयोग में "इच्छाकार" शब्द का प्रयोग करना, जिसका सरल अर्थ, बलात्कार जबरदस्ती या दमन नहीं हैं लेकिन नम्रता का भाव है। जैसे कि "कृपया आप मेरा यह छोटा कार्य कर दिखावें" अथवा 'आपश्री का यह पडिलेहनादि कार्य करने की मुझे अनुमति दें" इस प्रकार वैयावच्च की भावना रखके नम्रतापूर्वक भाषा प्रयोग करनेवाले को इच्छाकार कहते हैं। जैन शासन की प्रतिक्रमणादिक पापमोचक और देववंदनादिक प्रसादप्रापक क्रियाओं का प्रारंभ इच्छाकार से किया जाता है।

साधक को जब पापभीरुता की प्राप्ति होती है, तब वह साधक अपने किये कराये गये और अनुमोदित पापों के विमोचन के लिए किसी की भी जबरदस्ती के बगैर खुद तैयार होता है और गुरु को कहता कि, हे प्रभो मैं आपको वंदन करना चाहता हू। प्रतिक्रमण करने की इच्छा रखता हूँ। तो आप मुझे आज्ञा दीजिये (संदिसह) और मैं अपने पापों का प्रतिक्रमण करूँ जिससे मुझे भव भवांतर में भी जैन शासन की प्राप्ति हो। मेरा सम्यक्त्व शुद्ध हो इसलिए मैं अरिहंत परमात्मा को वंदन करना चाहता हूँ तो आप आज्ञा दीजिए और मैं देववंदनादिक पवित्र अनुष्ठान कर सकूं। संसार के हरएक मानव को खुद का या दूसरे का कार्य करना ही होता है फिर चाहे उसकी मरजी हो या नामर्जी। हम अनुभव करते हैं कि जबरन कार्य करने में भी कभी कभी

द्रव्य, इज्जत या मान-सन्मान की प्राप्ति होती है। जब मर्जी से कार्य करने में भव या परभव का लाभ क्यों न होगा ? अपने पुत्रादि के पालनपोषण के लिए जब मानव मर्जी से पसीना बहाता है तो पाप के निकंदन के लिए पसीना क्यों न बहाये ? सारांश यह है कि धार्मिक कार्यों को भी मर्जी से करना चाहिए जिससे वह अनुष्ठान अपने को फायदेमंद साबित होगा और आत्मा की शुद्धि होगी। गुरु के आशीर्वाद मिलेंगे और परमात्मा श्री अरिहंत देव की तथा उनके शासन की भवोभव में प्राप्ति होगी। जो एक उत्तम लाभ होगा। अन्यथा वह अनुष्ठान जबरन् करने गये तो प्रतिक्रमण में नींद आयेगी, माला हाथ में से गिर जायेगी, पढ़ने में जम्हाई आयेगी स्वध्याय का प्रेम घट जायेगा और उसकी वजह से गुरु के आशीर्वाद से हजारों मील दूर रहना पड़ेगा।

(२) मिथ्याकारी समाचारी :—खुद का या दूसरे का कार्य करते वक्त कभी गलती हो जाय तो हाथ जोड़कर कहना कि 'यह मेरी भूल है, उसमें मैं निमित्त बना हूँ इसलिये मुझे माफ करें। इस प्रकार "मिच्छामी दुक्कडम्" बोलने की आदत रखनी चाहिए। लेकिन गुरु या छोटे-बड़े मुनि के सामने उदंड, उद्धत उच्छृंखल या असभ्य भाषा का या अपशब्द का अपनी गलती छुपाने के लिए प्रयोग नहीं करना चाहिए। गुरुमहाराज के साथ या दूसरे साधक के साथ बार-बार 'मिथ्या में दुष्कृतम्' शब्द का प्रयोग करना अत्यंत हितावह मार्ग है। गुरुमहाराज भी छद्मस्थ होने से कभी जल्दी में या दूसरे काम में व्यस्त होने से गैरसमजूतो से कुछ करें तो उस शिष्य को जल्दी से या क्रोध से गुरुमहाराज

के अपमान के महापाप में (अप्रतिकरणीय पाप) नहीं पड़ना चाहिए, लेकिन माफी मांग लेनी चाहिए और जब गुरुजी शांत हो जाये तब वस्तु की यथार्थता कह देनी चाहिए।

(३) तथाकार समाचारी :—वाचना या स्वाध्याय कराते गुरु को तथाकार भाषा में कहना कि, 'आप जो कहते हैं, उसी प्रकार ही है। तथाकार-तथेति-तहति का अर्थ एक ही है'।

(४) आवश्यकी समाचारी :—किसी भी कारणवश उपाश्रय से बाहर जाना हो तब आवश्यकी (आवस्सहि) तीन बार बोलनी चाहिए और उसके बाद उपाश्रय छोड़ना चाहिए।

(५) नैषेधिकी समाचारी :—गोचरी आदि बाहर का काम करने के बाद जब उपाश्रय में वापिस लौटे तब नैषिधिकी (निस्सिहि) तीनबार बोलनी चाहिए और उसके बाद ही उपाश्रय में प्रवेश करना चाहिए।

(६) आपृच्छना समाचारी :—"यह काम मैं करूँ।" कोई भी काम शुरू करने से पहले गुरु आचार्य या उनकी हाजरी न हो तब किसी दूसरे वयस्क मुनि को पूछ के काम करना चाहिए।

(७) प्रतिपृच्छना समाचारी :—अमुक काम में गुरु ने मना की हो फिर भी वह काम यदि महत्व रखता हो तो फिर से गुरु को पूछना और उनकी अनुमति लेने के बाद कार्य का प्रारंभ करना। मतलब की गुरु को पूछे बिना कोई कार्य नहीं करना चाहिए।

(८) छंदना समाचारी :—गोचरी हमने लाई हो तब

उसके लिए दूसरे मुनिराजों को आमंत्रण देना और आग्रह-पूर्वक कहना कि 'आपश्री हमको लाभ दो'।

(९) निमंत्रण समाचारी :—गोचरी के लिए जाने से पहले दूसरे मुनिओं को पूछना कि, आपके लिए गोचरी लाऊँ क्या ?'

(१०) उपसंपत समाचारी :—अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति के लिए, वृद्धि के लिए और शुद्धि के लिए दूसरे आचार्य के पास रहना पड़े और उसकी आज्ञा माननी पड़े उसे उपसंपत् उपसंपदा समाचारी कहते हैं।

प्रायश्चित के कितने प्रकार हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम। मेरे शासन में प्रायश्चित दस प्रकार का है। किये गये पापकर्मों का नाश करे, कर्ममैल से मलिन आत्मा को पवित्र करे, किये गये अपराधों की शुद्धि करें, उसे प्रायश्चित करते हैं। जो आत्मा को पवित्रतम करानेवाला आभ्यंतर तप का प्रथम भेद है। आत्मा में जब अनिवृतिकरणरुप सर्वथा अभूतपूर्वशक्ति आती है तब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है और बिजली का बटन दबाते ही जिस प्रकार अंधकार के तामसपुद्गल तैजस-प्रकाश वाले हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मा का मिथ्याज्ञान भी पलक झपकते ही सम्यग्ज्ञान में परिणित हो जाता है। उस वक्त यदि आसन भव्यता का परिपाक हो गया होगा तो किये गये या कराये गये पापों से खिन्न बना जीवात्मा उन पापों की शुद्धि के लिए तैयार होगा और ज्यों ज्यों गुरु के सामने पापों का प्रकाशन होता जायेगा त्यों त्यों मोर की आवाज सुनकर जिस प्रकार नागराज अपने फन को सिकुड़कर स्थान छोड़ने में

तैयार हो जाता है, उसी प्रकार पाप की वर्गणा भी आत्म-प्रदेश से छूटने लगेंगी, क्योंकि पुण्यकर्म का प्रकाशन तो भव्य पुरुष को भी सुकर है, जबकि पापों का प्रकाशन अ र आलोचना करनी आसन्न भव्य को छोड़कर दूसरे के लिए सुकर नहीं है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद चारित्रोन्मुखी आत्मा के पल्योपम पल्योपम जितने कर्म टूटते हैं, तब यावत सर्वविरति (समिति-गुप्ति धर्म) का स्वीकार करता है, ऐसी परिस्थिति में उसकी आत्मा पापों की आलोचना के लिए तैयार हो वह सुसंगत है।

अत्यन्त दुर्भवी तथा पापकर्मी आत्मा को किये या कराये गये पाप जब पापरुप में लगते ही नहीं तो फिर उनकी आलोचना या प्रायश्चित उनके लिए कैसे सुकर बनेगा ? पापकर्म (हिंसा, झूठ, चौर्य, मैथुन और परिग्रह) में पूर्वरुप से मस्त बने कितने मानवों को सम्यग्ज्ञान की एक भी प्रवृत्ति या सम्यक्चारित्र संपन्न मुनि का सहवास नहीं भाता है, क्योंकि, वे पापकर्मों की माया में इतने डूबे रहते हैं कि उसमें से वापिस लौटना उनके लिए किसी भी हालत में सुलभ नहीं है।

अब हम प्रायश्चित के भेद जानेंगे।

(१) आलोचनार्ह प्रायश्चित :—प्रशस्त पुरुषार्थ द्वारा प्राणातिपादि पापों की सर्वविरति स्वीकार करनेवाले साधक के आत्मप्रदेश में कर्मों की रज, सता स्थान में होने से गुरुकुलवासी साधक को भी किसी वक्त ज्ञानावरणीय कर्म का हमला होते ही भिन्न भिन्न प्रकार से बहुत से प्रसंगों में गलती होने की संभावना बनी रहती है। मोहनीयकर्म का हमला

जब होता है तब पलक झपकते ही क्रोध, मान, माया या लोभ का आगमन हो सकता है। इस प्रकार अंतरायकर्म के कारण चल-विचल अवस्था भी अवश्यभाविनी है। यद्यपि उस साधक की आत्मा सम्यगदर्शन और ज्ञानप्रकाश से परिचित है इसलिए अपने से लिये गये व्रतों में कहीं से भी लगे अतिचारों को गुरु समक्ष रजू करेगा और फिर से उनका स्पर्श न हो इस प्रकार आत्मा का संयमन करेगा। इसलिए यह प्रायश्चित सिर्फ आलोचना तक ही सीमित होने से इसे आलोचनार्ह कहा गया है।

(२) प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित :—अमुक अतिचार ऐसे हैं कि, जिनका प्रतिक्रमण करना सर्वथा अनिवार्य है। प्रतिक्रमण यानि प्रमाद और कषायवश बनी और स्वभाव से परभाव में गई आत्मा अतिचारों का "मिथ्यादुष्कृत" देता है तथा फिर से "अणागयं पच्चक्खामि" भविष्य में ऐसे पाप न हों ऐसा निश्चय करके पापों का प्रतिक्रमण करता है।

प्रतिक्रमण यानि सर्वज्ञा अद्वितीय, विशिष्टतम, अमृतानुष्ठान है। जिसमें यम-नियम-आसन प्राणायाम-प्रत्याहार ध्यान धारणा और समाधि आदि आठ योगों का एक साथ समावेश किया गया है। क्योंकि आराधनावाले भाग्यशाली के जीवन में जो प्रारब्धकर्म हैं उनका निरासन किए बिना योग की साधना सर्वथा वंध्या रहेगी। जैसे कि, यमों का स्वीकार करने के बाद भी प्रारब्ध कर्मों की वजह से अतिचारों की संभावना अनिवार्य है। ऐसी परिस्थिति में यदि अतिचारों का प्रतिक्रमण न हो तो यमों की फलश्रुती कितनी ? नियमों का अर्थ कितना ? पूरक कुंभक या रेचक रुप प्राणायम की सफलता कौन-सी ? गुप्त और सूक्ष्म मन से सेवित या स्मृति

में लाये गये पापों का प्रतिक्रमण न हो तो बाह्य प्रकार से इन्द्रियों के दमन का अर्थ क्या ? एकाद विषय में मन को स्थिर किया जाये लेकिन जब मन रुपी बंदर गुप्तरुप से कूदने लगेगा तो तुम्हारी धारणा पुत्रवती रहेगी ? या वंध्य रहेगी ? आँखे बन्द करने के बाद भी यदि तुम्हारा सूक्ष्म मन भोगे गये भोगविलास की स्मृति में चला जाय तो आप योगी कैसे बनेंगे और ध्येय का कुछ प्रकाश पाने के बाद भी तुम्हारा मन दूसरे विषयों के अंधकार में फंस गया तो तुम्हारी समाधि भी तुमको मायामृषावादी नहीं बनायेगी इसकी गारंटी क्या ? इस कारण ही केवलज्ञान के मालिकों ने प्रतिक्रमण की योजना सार्थक की है। ऐसा पवित्र योग जिसको मिल गया हो उसे कुंडलिनी की जागृति के लिए झंझट क्यों करनी ? पापों का प्रतिक्रमण न हो तो क्वचित जागृत बनी कुंडलिनी आपको आड़े मार्ग पर ले जायेगी उसकी क्या गारंटी ? इसलिये प्रतिक्रमण के सिवा दूसरा कोई योग सार्थक नहीं है। सारांश यह है कि, प्रतिक्रमण ही योग है, ध्यान है, समाधि है, प्रत्याहार है, यम है तथा नियम है। अंत में आत्मा को परमात्मा, जीव को शिव तथा नर को नारायण बनानेवाला प्रतिक्रमण ही है। जो काँटे, कंकड़, रेती, मिट्टी या बड़े पत्थर बिना का सरल मार्ग हैं और सीधा है। बहुत से अतिचारों का निरासन प्रतिक्रमण से होता।

नोट :—चोरी या बदमाशी पकड़े जाने के बाद जेल भुगतनेवाला आदमी बंधन में कहा जायेगा और जब उसकी सजा समाप्त हो जायेगी या वह जमादार को खुश करेगा तो जल्दी रिहा हो जायेगा। इस प्रकार जीवात्मा कर्मों के बंधन में जकड़ा होने से जेल से भी भयंकर संसार में परिभ्रमण

करता है। कई बार अनगिनित नये कर्म बांधता है, और थोड़े कर्मों की निर्जरा भी करता है जबकि दूसरे समय पर ज्यादा कर्मों की निर्जरा करता है और थोड़े कर्म बांधता है। लेकिन वह निर्जरा सर्वथा नहीं कर सकता है, और जब तक कर्म बंधन नहीं टूटता है तब तक मोक्ष, मुक्ति, कैवल्यधाम आदि अनंत सुख के धाम को पा नहीं सकता इसी कारण संसार के दुःख, रोग, शोक, संताप आदि से परेशान बना जीव मोक्ष पाने की झंखना करे वह स्वाभाविक है। लेकिन उसे मार्ग की मालूमात न हो तो इष्ट स्थान को कैसे प्राप्त कर सकेगा ?

तालाब में पानी गंदा हो और उसे खाली करना हो तो दो के सिवा तीसरा कोई मार्ग नहीं है। एक तो जहाँ से पानी आता हो उस नाले को बन्द कर देना चाहिए और दूसरा मार्ग यह है कि गंदे पानी को मशीन से बाहर निकाला जाये। जिससे इष्ट सिद्धि तुरंत हो जाती है। मशीन चाहे कितनी भी किमती हो लेकिन नये पानी को यदि अन्दर आने से रोका न जाये तो मशीन क्या करेगी ?

इस प्रकार आत्मा का कल्याण करना ही हो तो सबसे पहले नये पापों को समझने और त्यागने का प्रयास करना चाहिए, जो सर्वथा अनिवार्य है उसके बाद द्रव्य और भाव प्रतिक्रमण से एक के बाद एक पुराने पाप दूर करते जाना चाहिए जिससे मोक्ष का मार्ग कम होता जायेगा और उसकी प्राप्ति में ३३ करोड़ देव भी विघ्न नहीं डाल सकेंगे ?

(३) तदुभयार्ह प्रायश्चित :—जीवन के गुप्त भाग में अमुक अतिचार, पाप और पाप भावनाएँ सता स्थान जमाकर बैठी होती है, जिसका नाश करने या कराने में सिर्फ प्रतिक्रमण या आलोचना से ही नहीं चलेगा, लेकिन इन दोनों

की आवश्यकता पड़ेगी यानी कि सबसे पहले पापों की आलोचना गुरु के पास करनी चाहिए, अपनी गलतीओं का गुरु के पास मन, वचन और काया से इकरार करना चाहिए और प्रतिक्रमण करते वक्त जिस स्थान पर उन पापों का 'मिथ्यादुष्कृतम्' देना हो वहाँ देकर पापों से मुक्त होना ही श्रेष्ठ मार्ग है।

(४) विवेकार्ह प्रायश्चित :—विवेक यानि त्याग करना। गोचरी जाते वक्त यदि गलती से आधाकर्मादि आहार आ गया हो तो उसका त्याग करने से आत्मा का संयम बना रहेगा और पाप प्रवृति का अवरोध होगा तथा प्राप्त अन्नपानी का त्याग करने से आहारादि संज्ञा मर्यादा में आने से त्यागधर्म में भी उत्कृष्टता आयेगी, जो स्वीकरणीय प्रायश्चित है।

(५) व्युत्सर्गार्ह प्रायश्चित :—ऊपर दिये गये प्रायश्चित में तो सिर्फ प्राप्त पौद्गलिक आहार का ही त्याग था जो सुकर है, जबकि इसमें काया और मन की चंचलता का त्याग करना होता है, जो जरा कष्टसाधक है, जैसे कि, अन्नत्थ सूत्र द्वारा साधक ने प्रतिज्ञा कि "जाब अरिहंताणं भगवंताणं नम्मुक्कारेणं न पारेमि तावकायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि"।

अर्थात् कायोत्सर्ग द्वारा पापों की आलोचना या परमात्मा का ध्यान शुद्ध हो इसके लिए ली गई प्रतिज्ञा के अनुसार जब तक 'नमो अहिताणं' शब्द को बोला नहीं जाता तब तक कार्य यानि मेरे शरीर को 'ठाणेणं' जहाँ खड़ा हूँ या बैठा हूँ उस स्थान के द्वारा 'मोणेणं' इन्द्रियों को तथा मन को मौन करने के लिए तथा 'झाणेणं' शुभ ध्यान द्वारा

अथवा पापों की आलोचना के सिवा दूसरी किसी भी बातों को मन में नहीं लाने के लिए 'अप्पाणं' आत्मा को तथा उसके द्वारा प्रतिष्ठित शरीर की माया का वोसिराता हूँ। यह प्रतिज्ञा इस प्रकार ही अच्छी तरह से पाली जायेगी।

जबकि कायोत्सर्ग के लिए स्थिर रहने के बाद 'लोगस्स' सूत्र द्वारा चौबीस तीर्थंकरों का तथा नवकार द्वारा पंच परमेष्ठि का ध्यान बहुत ही उपयोगपूर्वक करना पड़ेगा। तभी आत्मा के दोषों का परिमार्जन होने से अपनी आत्मा शुद्धि के मार्ग की ओर जाने के लिए कटिबद्ध होगी। लेकिन ध्यान से यदि चलायमान हुये तो यानि कि, कायोत्सर्ग लेने के बाद भी आंखें यदि इधर उधर घूमने लगे तो यह इष्ट प्राप्ति नहीं होगी। इसलिए ध्येय पदों के ध्यान में उपयोग रखना प्रायश्चित के आभारी हैं।

(६) तपश्चर्यार्ह प्रायश्चित :—संख्यात भवों के किये कर्म आत्मा के एक एक प्रदेश पर दूध और सक्कर की तरह ओतप्रोत है। यह कर्म आत्मा के साथ लंबे अरसे तक रहने वाले हैं और जीवों के कितने ही भव पूरे होने के बाद कर्म का उदय हुये बिना नहीं रहता। बीच में पल्योपम के पल्योपम या सागरोपम के सागरोपम पूरे हो जायें तो भी यह कर्म जीव को नहीं छोड़ेंगे।

इन्द्रियों के या कषायों के वश होकर रागद्वेषपूर्वक जिनके साथ बैर बढ़ाया हो मारामारी की हो, किसी को कलंक लगाया हो, किसी के बाल बच्चे को भूखा मारकर उनका शाप लिया हो, स्वार्थ से किसी के घर में आग लगायी हो, पति-पत्नी को, सास बहु को, बाप-बेटे को,

पड़ोशी को या गुरु-शिष्य के साथ झगड़ा किया हो या वियोग कराया हो, मैथुनासक्त बनके कुंआरी विधवा या अपनी ओर धर्म-स्नेह रखनेवाली स्त्री को ललचा के उनके शील भंग किये हो या घरवाली को परेशान करके परस्त्री के साथ संबंध बांधे ही, ब्याज के लोभ में बेचारे गरीब का खेत या मकान झूंट लिये हो इत्यादि पापों की सेवना निकाचित रूप में करनेवाले को आज के कर्म ७० कोडाकोडी सागरोपम तक किसी भी काल में उदय में आयेंगे। महावीर स्वामी के कान में खील ठोकने का कर्म ८० सागरोपम पर कई साल बीतने के बाद उदय में आया था। अग्निशर्मा की बैरवेड़ी में फंसे गुणसेन राजा कितने सागरोपम बीत जाने के बाद उसके जाल से मुक्त हुये थे और उसके बाद ही केवलज्ञान के मालिक बने थे और नंदन मुनि के भव में कितने ही (११८०६४५) मास खमण के बाद और २७ वें भव में महावीरस्वामी ने साड़े बार साल घोर तपस्या की और गोपाल ने उनके कान में खिले ठोके तब वे बैर की बैडी से मुक्त हुये और तभी महावीरस्वामी केवलज्ञान पाने के हकदार बने। कमठ की बैर बेड़ी में से पार्श्वनाथ भगवान कितने सागरोपम के बाद छूट सके थे? सारांश यह है कि रागद्वेष में मस्त होकर बाँधे गये बैरविरोध आपको कितने तीर्थंकर परमात्माओं की चौबीसीयाँ पूरी न हो तब तक केवलज्ञान के मालिक होने नहीं देंगे।

अत्यंत बलिष्ठकर्म सत्ता का कोई कट्टर दुश्मन यदि है तो वह तपत्या धर्म है। अन्यथा कितने ही मंत्र, तंत्र, जंत्र, अनुष्ठान, दोरेधागे, एकाक्षी श्रीफल शंख या कामधेनु या

चिंतामणी रत्न कोई भी आपको कर्मों के जाल में से मुक्त कराने को समर्थ नहीं बनेगा।

याद रखना कि पैसे से क्वचित पुण्य की गठरी बांध कर दूसरे भव में देवलोक जैसे सुख पा सकोगे लेकिन किये और कराये गये पापों को निर्मूल करने में पैसा काम नहीं आयेगा, लेकिन तपस्या काम आयेगी।

कितने ही अपराधों का प्रायश्चित तपस्या की अपेक्षा रखता है। इसलिए बाह्यतप या आभ्यंतर तप करनेवाले को साधक कहा गया है। कर्मों की उदीरणा होने के प्रसंग हो ऐसे आहार पानी, भाषा का उपयोग साधक को नहीं करना चाहिए। यद्यपि आहार लेना अनिवार्य है फिर 'निर्विकृतिक' अर्थात् जिसके सेवन से इन्द्रियों या मन सशक्त होने पाये ऐसा "छ वीगई" वाला आहार बार-बार या ज्यादा बार नहीं लेना चाहिए। घी, दूध, मलाई, दहि, गुड़, शक्कर मिश्रित अन्न तेल में बना गरिष्ठ आहार लेना या उसका भाव रखना सोये अजगर जैसे कर्मों को पुनः भड़काने जैसा होगा। तथा भडकी हुई इन्द्रिओं को और मन को फिर से संयमित करने में बहुत देर लगेगी इसलिए निर्विकृतिक यानि विगई वगैरह के आहार को भी प्रायश्चित लगता है, जो उपेक्षणीय नहीं हैं।

(७) छेद प्रायश्चित :—चारित्रमोहनीय यावत् पुरुष को पुरुष वेद तथा स्त्री को स्त्री वेद का जोरदार हमला होने के वक्त साधक की ज्ञानसाधना की व्यूहरचना कमजोर हो और चारित्र में शिथिलता या उसके मूलव्रत में कुछ कमी आ गई हो तब उसकी दीक्षा के कुछ पर्यायों का छेद करने से वह

साधक वापिस आराधना की प्राप्ति करता है क्योंकि प्रत्येक तंत्र को शक्तिशाली रखने के लिए दंडनीति ही सबल साधन है, इसलिए मोक्षाभिलाषी साधक गुरु द्वारा प्राप्त दंड को भी अच्छा मानेगा और फिर से वैसी गलती न हो इसलिए "अब्भुट्ठिओमि आराहणाए" यह कहकर मन को मार के आराधना की ओर आगे बढ़ता वही साधक कल्याण को पाएगा।

(८) मूलार्हप्रायश्चित :—उपरोक्त प्रायश्चित से इसमें विशेषता इतनी ही है कि साधक के अगले महाव्रतों के पर्यायों का समूल छेद करके फिर से महाव्रहतारोपण किया जाता है।

(९) अनवस्थाप्यार्ह प्रायश्चित :—विशिष्ट प्रकार का अमुक तप जब तक नहीं किया जाय तब तक महाव्रतों में या मुनिवेष में उनको फिर से स्थापित नहीं किया जाता। इसलिए अनवस्था के उचित होने से अनवस्थाप्यार्ह प्रायश्चित कहा गया है।

(१०) पारांचितक प्रायश्चित :—राजा की रानी महारानी या शीलवती साध्वी का शीलभंग हो गया हो तब स्वगण का त्याग करके जिनकल्पी की तरह महातप करना, पारांचितक प्रायश्चित है। जो महासच्चशाली आचार्य को छः माह से बारह साल तक करना पड़ता है।

उपर्युक्त दस प्रायश्चितों में से उपाध्याय को प्रारंभ से नव संख्या तक के ही प्रायश्चित कहे गये हैं। जबकि मुनि को मूलार्ह तक जानना चाहिये।

तप के मूल तथा अवांतर भेद कितने ?

हे प्रभो ! आपके शासन में तप के कितने प्रकार हैं ? और उनके अवांतर भेद कितने हैं ?

जवाब में प्रभु बोले : मूलसूत्रानुसार से इस प्रकार जानना । बाह्य और आभ्यंतर रुप यह दो भेद तप के हैं । जो शरीर को उष्मा देता है वह बाह्य तप है और आत्मा को कार्मण शरीर को, मन को, इन्द्रियों को और बुद्धि आदि को उष्मा देता है वह आभ्यंतर तप है । सम्यग्दृष्टि संपन्न ही उसकी आराधना कर सकता है । इन दोनों के छः छः भेद निम्नलिखित हैं ।

बाह्य तप	अभ्यंतर तप
(१) अनशन	प्रायश्चित
(२) उणोदरी	विनय
(३) भिक्षाचर्या	वैयावच्च
(४) रसत्याग	स्वाध्याय
(५) कायक्लेश	ध्यान
(६) प्रतिसंलीनता	व्युत्सर्ग

अब इसका विस्तार और भेदानुभेद इस प्रकार हैं ।

(१) अनशन :—इत्वर और यावत्कथिक यह अनशन के दो भेद हैं ।

कुछ समय के लिए चतुर्थ, छट्ठ, अष्ठम, दशम, द्वादश, चतुर्दश, अर्धमासिक, मासिक, दो मासिक, तीन मासिक यावत् छः मासिक तक तप करना इत्वर अनशन है । जिसमें चार वक्त का आहार छोड़ दिया जाय, वह चतुर्थ वक्त है

और छः वक्त का भोजन छोड़ दे उसे छट्ठ कहते हैं इस प्रकार आगे भी जानना चाहिए।

जीवनपर्यंत आहार छोड़ दिया जाय उसे यावत्कथिक अनशन कहते हैं। उसके दो प्रकार हैं। (१) पाद्पोगम (२) भक्त प्रत्याख्यान। पाद्पोगम के भी दो भेद हैं। (१) निर्हारिम (२) अनिर्हारिम।

(१) निर्हारिमपादपोगम अनशन यानि उपाश्रय के भीतर ही रहकर अनशन किया जाय और मरने के बाद शरीर का अग्निसंस्कार हो उसे निर्हारिम पादपोगम कहते हैं।

जब जंगल में या गुफा में अनशन किया जाय और उसका अग्निसंस्कार न होने पाय उसे अनिर्हारिम अनशन कहते हैं। यह दोनों भेद सेवा आदि प्रतिक्रिया रहित हैं। यानि कि सम्यग्ज्ञान और दर्शन से पूर्ण होकर पेड़ की तरह खड़े-खड़े जीवन पर्यंत रहा जाय उसे पादपोगमन कहते हैं।

भक्त प्रत्याख्यान के भी दो भेद समझना। विशेष में यह तप सेवा प्रतिक्रियामय है।

(२) उणोदरी (अवमोदरिका) :—जो द्रव्यउणोदरी और भावउणोदरी कहलाता है। द्रव्य उणोदरी के उपकरण द्रव्य-उणोदरी और भक्तपानउणोदरी नामक दो भेद हैं। प्रथम में केवल एक ही वस्त्र एक ही पात्र और अन्य द्वारा त्यक्त वस्त्र पात्र। सारांश यह है कि धर्मोपकरण को भी कम मात्रा में उपयोग में लेना। जबकि भक्त पान उणोदरी में आठ ग्रास (कवल) तक ही आहार लेना, जिसे अल्पाहार उणोदरी कहते हैं और बारह तक आहार लेना उसे मध्यम उणोदरी कहते हैं। सारांश यह है कि ज्ञानपूर्वक पेट खाली रखना ही द्रव्य उणोदरी है। भाव उणोदरी में कषायों को कम करना, यदि

बढ़े तो उसे रोकना, बोलने की भाषा मित-हित और पथ्य विशेषणवाली रखना। जोरों से नहीं बोलना व क्रोध तथा ईर्ष्यायुक्त होकर नहीं बोलना भाव उणोदरी है।

(३) भिक्षाचर्या :—इसके अनेक प्रकार हैं। जिसे हमें औपपातिक सूत्र से जानना है। द्रव्याभिग्रह से यह लेप-विषयक होते हैं और एक बार पात्र में डालने से उसे दति कहते हैं। संख्या से भी दत्ति का ग्रहण होता है। अभिग्रह में कुछ चीजों का और कुछ क्षेत्र का अभिग्रह किया जाता है। मतलब यह कि शुद्ध आहार पानी का अभिग्रह तथा दत्ति की संख्या का नियम रखना। अन्यत्र वृत्ति संक्षेप के लिए कहा गया है कि खाने, पीने, फिरने तथा पहनने, ओढ़ने की क्रियाओं का नियमन करना।

(४) रसत्याग :—औपपातिक, सूत्रानूसार से विकृति-जनक आहार पाणी आदि का त्याग करना, ज्यादा या बारबार स्निग्ध भोजन नहीं करना, ऐसे नियम को रसत्याग कहते हैं।

(५) कायक्लेश :—यानि काया को क्लेश देना।

अनादिकाल से आज तक काया की माया जीवात्मा को रही है, जिसके कारण हम विकास नहीं कर सके। साधना करने गये हैं लेकिन सफलता नहीं पा सके। इस कारण बाह्यतप में कायक्लेश तप का सरल अर्थ इतना ही है कि, शरीर को क्लेश देना। उनके तूफान को मर्यादा में लेने के लिए औपपातिक सूत्र में दिखाये उत्कटासन, वीरासन, पद्मासन अर्ध पद्मासन आदि आसन में बैठना या तो पैर के पंजे पर बैठना सारांश यह है कि, अनादिकाल से शरीर के गुलाम बने इस जीवात्मा ने शरीर को जैसे सुख मिले,

मुलायम बने, पौद्गलिक सुख की माया भुगतने में रस पड़े ऐसे ही आसनों का उपयोग किया है और ऐसी आदतें डाली है, बढ़ाई हैं कि अब छोड़ी नहीं जा सकती। लेकिन आत्मा के कल्याण के लिए उन्हें छोड़ना आवश्यक है। इसलिए शरीर को क्लेश हो ऐसे वीरासनादि में बैठने का प्रयत्न करना चाहिए। आहिस्ता आहिस्ता ऐसे बैठने से पुरानी आदतें छूट जायेगी।

लिंग (जननेन्द्रिय) के नीचे और गुदा से ऊपर वीर्यनाड़ी है जो अत्यन्त मुलायम है। यदि कमर झुकाकर सुखासन में बैठने की आदत नहीं छोड़ सके तो जमीन के साथ बारबार स्पर्श होने से उत्पन्न होनेवाली उत्तेजना को रोका नहीं जा सकेगा, जिसके अभिशाप से भुगते गये भोग की मीठी मधुरी स्मृतिओं को तुम रोक नहीं सकोगे परिणामस्वरुप गुरुकुलवास में रहकर मन को स्वाधीन करने का थोड़ा बहुत प्रयास किया होगा उस पर भी पानी फिर जायेगा और मन की चंचलता बढ़ने से "लेने गई पूत और खो आई खसम" जैसी दशा होगी। इसलिए मुनिराज के साहचर्य से या अरिहंतों के पूजन बाद उत्पन्न हुई सात्विक भावना से आत्मकल्याण के लिए जीव जब तैयार हो तब माला फेरने के वक्त, ध्यान धरने के वक्त, कार्योत्सर्ग के वक्त या स्वाध्याय के वक्त कमर को झुकने नहीं देना चाहिए लेकिन ऊंची यानि मेरुदंड को ऊँचा रखकर पद्मासन में बैठना चाहिए जिससे वीर्यनाड़ी का संघर्ष नहीं बनेगा फलस्वरुप मन को स्थिर होना ही पड़ेगा। इसके सिवा मन को वश में करने का दूसरा उपाय नहीं हैं परमात्मा वीतराग देव की मूर्ति जिस आसन में बिराजमान है इसी तरह बैठना चाहिए।

साधक भाग्यशाली को भी इस प्रकार बैठने का प्रयास करना चाहिये। जिससे शरीर तथा मनकी चंचलता घटेगी, स्वास्थ्य बढ़ेगा, धैर्य मददगार बनेगा, और काया की माया (जो जीती जागती पिशाचिनी से भी बदतर है) घटेगी और आत्मा अपने विकास के लिए आगे ही आगे बढ़ेगा, जो आदरणीय मार्ग है।

(६) प्रतिसंलीनता बाह्य तप :—इसका अर्थ कोई चीज छुपाना ऐसा होता है। अनादिकाल से इस जीवात्मा ने शास्त्रों के पन्ने देखे है, पठन किया है और उसकी चर्चा में अनेक भव पूरे भी किये हैं, लेकिन आत्मा के कल्याण का पवित्र मार्ग वह अब तक एक भी शास्त्र से पा नहीं सका है। जैसे अज्ञान और भ्रांत मृग उसकी नाभि में कस्तुरी है फिर भी वह उसे देख नहीं सकता पा नहीं सकता और बाहर भागता भागता फिरता है। इस प्रकार यह जीव भी अब तक अपनी जात को नहीं समझ पाया है। जैन शासन इसकी समझ देते कहता है कि, संसार की भौतिक चीजों को छुपाना ठीक नहीं है और कहा गया है कि जिससे तुम्हारी आत्मा भारी हो, दुर्गति का भोक्ता हो और अनंत संसार में ज्यादा ही ज्यादा डूबता जाये ऐसे प्रयत्न छोड़कर प्रतिसंलीनता नाम के बाह्य तप का स्वीकार करना चाहिए जिसके चार भेद निम्नलिखित है :

(१) इन्द्रिय प्रतिसंलिनता :—जीवात्मा को सूक्ष्म शरीर और इन्द्रियों का साहचर्य अनादिकाल का है, और जहां ये दोनों हो वहां स्थूल शरीर और इन्द्रियों की हाजिरी को टाला नहीं जा सकता इन दोनों पर अपना आधिपत्य जमानेवाले द्रव्य और भाव मन की नजरकेद में अपना आत्मा फंसा

हुआ है। मन पौद्गलिक होने के कारण संसार के पौद्गलिक पदार्थ की ओर आत्मा को आकर्षित करता है और अहिंसा संयम तथा तपोधर्म के रंग से नहीं रंगा आत्मा अनादिकाल से मन, इन्द्रिय, और शरीर का गुलाम होने से उसके आधीन होने में उसे देर नहीं लगती। ऐसी स्थिति में सद्बुद्धि और सद्विवेक के प्रकाश में आत्मा एकबार आ जाय तो उसे सत्यज्ञान होगा और वह अपने पुरुषार्थ के बल से अपने मन में से वैषयिक, काषायिक और वैकारिक भावनाओं के विदाय देने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होगा। परिणामस्वरुप शरीररुपी रथ के साथ जुडे हुये पाँच इन्द्रिय रूपी घोड़ों के मुख में सम्यग्ज्ञान की लगाम डालकर इन्द्रियों के तूफान को शात करने के लिए भाग्यशाली बन पायेगा। संलीनता तप के प्रथम भेद का आशय इतना ही है कि, इन्द्रीयों को बेकाबू होने नहीं देना, गंदे मार्ग पर नहीं जाने देना। ऐसा करने से अनादिकाल से इन्द्रियों की गुलामी से मुक्ति मिलेगी। देवाधिदेव अरिहंत परमात्मा को प्रसन्न करने के लिये हजारों निमित्त होंगे लेकिन उन सब में इन्द्रियों की गुलामी का त्याग सबसे आगे है।

(२) कषाय प्रतिसंलीनता :- इस तप का आशय है कि कषाय जिससे भड़के ऐसी प्रवृतियों को मर्यादा में लेनी चाहिये। कषायों की उत्पत्ति में प्रगट या गुत रीत से इन्द्रियों की गुलामी ही काम करती रहती है। पूर्व के पुण्य तथा पाप के कारण इन्द्रियों के २३ विषयों को प्राप्ति में अभिमान कषाय और अप्राप्ति में क्रोध कषाय आप पर सवार होने के लिए तैयार बैठा है और यह दोनों जहाँ होते हैं वहाँ माया और लोभ तुम्हारे पुण्य कर्मों को, सत्यकर्मों को तथा खानदानी धर्म को खत्म करने के लिये तैयार ही हैं, इसलिए बाह्य तपके

दूसरे भेद का आशय इतना ही है कि, कषाय भड़क जाय ऐसी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए।

कषाय के मूल में पाँच इन्द्रियाँ हैं और उनके मूल में आहार-संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा, और भय संज्ञा काम करती रहती है। लेकिन अरिहंत परमात्मा की आज्ञा के पवित्र प्रकाश में जब सम्यगज्ञान की संज्ञा प्राप्त होती है तब ऊपर की चारों संज्ञाएँ काबू में आ जाती है और ऐसा होने से इन्द्रियों को स्वाधीन करना सुगम पड़ेगा और उसके बाद कषाय विजेता बनने में देर कितनी ?

(३) योग प्रतिसंलीनता :—इन्द्रियों के सब व्यापार मन, वचन और काया के आधीन हैं। जो योग के नाम से मशहूर हैं। मनुष्य मात्र योगी बनने का, शक्ति बढ़ाने का, आकाश में उड़ने का और एक दूसरे का अच्छा-बुरा सोचता रहता है, उसके लिए स्मशान की भभुती लगाता है, माला जाप करता है, तप करता है और मंत्र तंत्र का आसरा लेता है, लेकिन, मन, वचन और काया के व्यापार को जब तक मर्यादा में नहीं लिया जाता तब तक योगी किस तरह से बना जायेगा ? इसलिए जैन शासन ने कहा है कि, अपने बेमर्याद बने मन को, बेकाबू बनी जीभ को तथा पाप के मार्ग पर आगे बढ़नेवाले शरीर को मर्यादा में लिये बिना तुम्हारी एक भी प्रवृति तुमको उर्ध्वगामी बना नहीं सकती।

मानसिक जीवन में गंदे भाव, ईर्ष्यापूर्ण अध्यवसाय, स्वार्थ-लोभ, या मोहवश बनकर हिंसक भावों की विद्यमानता को मन का अशुभ योग कहा है और पवित्र और सरल विचार, सब जीवों की ओर मैत्री भावना तथा स्वार्थ आदि का बलिदान देकर सबका भला करने के भाव को शुभयोग

कहा है। इस प्रकार हिंसक भाषा, ईर्ष्यालु वचन, स्वार्थी भावनापूर्वक माया मृषावाद का व्यवहार अशुभ वचनयोग है और मीठी, हितकारी तथा परिमित भाषा का व्यवहार शुभ वचन योग है। शरीर की गंदी प्रवृत्तियाँ, कामुकी चेष्टाओं, उठने, बैठने और चलने में जीव हिंसा आदि व्यापार शरीर के अशुभयोग के कारण बनते हैं। जबकि शरीर द्वारा परोपकार के कार्य, महापुरुषों को अच्छे लगे ऐसे कार्य तथा अहिंसा धर्म प्रत्येकी सावधानी को शुभ कामयोग कहा। इसमें से अशुभ योगों को योग प्रतिसंलीनता नामक तप से रोकना और मनवचन तथा काया के शुभ कार्य की ओर जोड़ना इस तप का आशय है।

(४) विविक्त शयनासन प्रतिसंलीनता :—जिस स्थान में पशु-पंखी और नपुंसक रहते हो वहाँ आसन रखना नहीं, बैठना नहीं और खड़ा नहीं रहना क्योंकि पशु-पंखी अविवेकी है और नपुंसक, अज्ञान और मोहकर्म से भारी बने जीव हैं। उनकी अशुभ प्रवृति कभी भी सामने आ सकती है इसलिए तपोधर्म की आराधना करनेवाले को अपना मन चलित हो ऐसे स्थान पर बैठना नहीं चाहिए यह इस तप का आशय है। उपरोक्त चार भेद प्रतिसंलीनता तप के हैं जो बाह्य तप है।

आभ्यंतर तप :—निम्नलिखित छः प्रकार से हैं।

(१) प्रायश्चित :—यानि पापों का प्रायश्चित करना। जिसका जिक्र आगे किया गया है।

(२) विनय तप :—जैन शासन में विनय तप सात प्रकार से हैं।

(३) ज्ञान विनय :—यानि महापुण्योदय से प्राप्त हुये मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को बढ़ाने का प्रयास करना। उसका बहुमान करना, सम्यग्ज्ञान और ज्ञानी की प्रसंशा, भक्ति, वैयावच्च करना। जैन तत्वों के मर्म को जानने में तथा क्षयोपशम की प्राप्ति में आत्मा का पुरुषार्थ काम करता है, इसलिए प्राप्त ज्ञानमात्रा को टिकाये रखनी चाहिए।

(२) दर्शन विनय :—अरिहंत परमात्मा, उनकीं मूर्तियाँ, पंच महाव्रतधारी साधु, साध्वी, तपस्वी और ज्ञानी के सहवास से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। निष्कषाय जीवन, वैकारिक भाव की अनुत्पत्ति तथा बैर-झरे तथा ईर्ष्या से पूर्ण मानवों के सहवास का त्याग करने से दर्शन की वृद्धि होती है और नमुत्थुणं-लोगस्सादि सूत्र बार-बार भावपूर्वक बोलने से सम्यग्दर्शन की शुद्धि होती है।

आत्मिक श्रद्धा से नया पढ़ने से, पढ़ा हुआ नहीं भुलने से, गुरु के व्याख्यान सुनने से, तथा नवतत्वको पुष्ट करे ऐसी किताबों का स्वाध्याय करने से सम्यग्ज्ञान बढ़ता है और विशेष प्रकार से शुद्ध होता है। उसके कारण वृद्धि पाने वाले या वृद्धि पा चुके श्रुतज्ञान जीवमात्र को पाप के त्याग की भावना के रूप में सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है और कर्मक्लेश से भरे संसार का मार्ग कम होता है तथा मुक्ति का मार्ग हाथ में आ जाता है। इसलिए एकाग्रचित से अरिहंतों का द्रव्य तथा भावपूजन करना चाहिए, देववंदनादि शुद्धानुष्ठानों में मन, वचन और काया को लगा देना चाहिए जिससे परमात्माओं का गुणानुवाद करते हुए आप खुद गुणी बनेंगे, सेव्य, और पूज्य बनेंगे और 'नमो अरिहंताणं' पद को प्राप्त करने की योग्यतावाले बनेंगे।

(३) चारित्र विनय :—नये पापों को, पाप भावनाओं को, तथा आर्तध्यान-रौद्रध्यान को रोक देनेवाला सम्यक्चारित्र है। जो सर्वविरति और देशविरति से दो प्रकार का है। महापुण्योदय के वक्त जबरदस्त पुरुषार्थ के बल से प्राप्त चारित्र को शुद्ध करने का भाव रखना, यदि अतिचार लग जाये तो प्रतिक्रमण से उनको शुद्ध करना यह चारित्र विनय है। श्रावक के २७ गुण, मार्गानुसारी के ३५ गुण, बार व्रत या महाव्रतों को स्वीकारने के लिए तैयार रहना और यथाशकय उनको पालने में आग्रही रहना यह कल्याणमार्ग है।

(४) मनोविनय :—आत्मा चैतन्यस्वरुपी है और मन पौद्गलिक यानि पुद्गलों का बना हुआ है उनमें ही पला पोसा होने से कर्मों के पुद्गलों की पापस्थानों के १८ पुद्गलों की आर्तध्यान और रौद्रध्यान के पुद्गलों की ओर आकर्षण हो और उसमें डूबा रहे यह स्वाभाविक है। जो कर्मक्लेशों को बढ़ाता है और जीवात्मा को दुःख के पर्वत के बीच में पटक देता है। लेकिन सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद पौद्गलिक भावों का जोर कमजोर पड़ता है और साधक मन की गुलामी का त्याग करके अपने आत्मभाव में स्थिर होता है। तभी मानसिक जीवन में अरिहंतों का शासन का राग भी प्रगट होता है और ज्यों ज्यों शासन के प्रति राग बढ़ता है, त्यों त्यों मन के तुफान शाँत होते हैं। इसलिए मन को शुद्ध करने के लिए अनित्यादि बार भावना और मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और उपेक्षा रुपी चार भावनाओं का बारबार चिंतन करना। जब मन में तुफान उठे या कषाय क्लेश का वातावरण पेदा हो तो अरिहंत परमात्मा की मूर्ति के सामने शाँति से बैठ जाना

अथवा गुरुदेव के चरणों में एक दो घंटे बैठना जिससे मन स्वस्थ बनेगा।

(५) वचन विनय :—८४ लाख जीवयोनि में ५२ लाख जीवयोनि के जीवों को जीभ नाम की इन्द्रिय नहीं होती है इसलिए उनकों भाषा का व्यवहार पड़ता नहीं है। केवल ३२ लाख जीवयोनि के जीवों को जीभ प्राप्त है। उसमें भी दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चतुरइन्द्रिय या तिर्यचपंगेन्द्रिय जीव, जो दस लाख जीवयोनि में जन्म लेते हैं, उनको मिली जीभ भी किस काम की? गाय, भैंस, हाथी, सिंह, बाघ आदि जीव चाहे कितनी भी ताकतवाले होंगे लेकिन भाषा का व्यवहार उनको प्राप्त नहीं हैं। शेष २२ लाख जीवयोनि में ४ लाख देवता, और चार लाख नारको को प्राप्त जीभ का उपयोग अपने संसार के लिए किस काम का? तब केवल १४ लाख मनुष्यों को प्राप्त जीभ इन्द्रिय द्वारा संसार को नरक के कुंड जैसा भी बनाया जाता है और अमृतकुंड जैसा भी बनाया जाता है। यह सब बातों का निर्णय मानवअवतार को पानेवाले भाग्यशालियों को करना पड़ता है। क्योंकि सारे संसार में बैर-झेर की आग लगाने के लिए स्पर्शेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय नेत्रेन्द्रिय सर्वथा अंकिंत्किर हैं। इसलिए संसार का सर्जन या नाश सर्वथा जीभ इन्द्रिय पर निर्भर है। कान और नाक इन्द्रिय पड़दा रहित है। जबकि जीभ इन्द्रिय के लिए दाँत की बतीसी और दो होंठ के बीच की जेल है। कुदरत भी कैसी फंदेबाज है कि, उसने जीभ उन्द्रिय को जेल रहित नहीं रखी है। इसलिये देवदुर्लभ मनुष्यावतार प्राप्त करने के बाद भी अपनी जीभ द्वारा किया जाता भाषाव्यवहार जैन शासन का, अहिंशा धर्म का, संयम का, संयमी के प्रचार

में अच्छी भाषा का प्रयोग करना और थोड़ा आत्मसंयम करके भी जनता को देव-गुरु और धर्म का रागी बनाना।

(७) काय-विनय :—अहो रात्रि के २४ घंटे में से दो घंटे का वक्त भी धर्म की आराधना में, संयम की सेवना में, ब्रह्मचर्य के पालन में और उसके प्रचार में तथा समाज और संघ की सेवा में पसार करना और धर्मानुष्ठान प्रमाद रहित करना यह कायविनय है। इससे पापों से भरा शरीर मर्यादित और संयमित बनेगा।

(८) लोकोपचार विनय :—व्यवहार में वफादारी, सभ्यता और सत्यता कायम रहे इसलिए बड़ों का बहुमान, पड़ोसी के साथ भद्र और अहिंसक व्यवहार तथा संबंधियों के साथ माया रहित पवित्र व्यवहार रखना उसे लोकोपचार विनय कहते हैं।

उपरोक्त सात प्रकार के विनय के लिए भगवती सूत्रकार खुद क्या कहते हैं वह जान लेना अत्यंत हितावह है।

सूत्रानुसार से सात प्रकार का विनय :—

(१) ज्ञान विनय :—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान का बहुमानपूर्वक विनय करना चाहिए। ज्ञान गुण है, इसलिए अमूत है, अरुपी है। यानि कि शब्द, रस, गंध और स्पर्श रहित है, इसलिए उसकी मूर्ति आकार नहीं बन पायेगी, तो उसका विनय कैसे करेंगे?

जवाब में कहा गया कि, आत्मा के कल्याण के लिए, उसके विकास के लिए, सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने और उसके बाद उसके विकास के लिए, और जहाँ से भी उसकी प्राप्ति हो उसके लिए प्रमाद या पूर्वग्रह रहित लाभ लेना। अपनी शक्ति

या परिस्थिति उस प्रकार की हो तो, भाषा के स्तवन, सज्झायो और स्तुति याद करनी चाहिये तथा सामायिक के दौरान स्वाध्याय करना यह ज्ञान विनय है।

(२) दर्शन विनय :—दो प्रकार से है। (१) शुश्रूषणा विनय (२) अनत्याशातना विनय। प्रथम प्रकार के अनेक प्रकार है जैसेकि—

सक्कारेइ :—ज्ञानीओं का सत्कार करना, बहुमान और सेवा करनी।

सम्माणेइ :—शुद्ध आहार-पानी वस्त्र और औषध से गुरु का सम्मान करना। इस विषय की तीसरे भाग में चर्चा हो गई है।

दूसरा भेद अनत्याशातना है, जिसके ४५ प्रकार ह। जिस कर्म में अशातना नहीं है उसे अनत्याशातना कहते हैं।

अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर मुनि, एक आचार्य का समुदायरुप कुल, परस्पर सापेक्ष अनेक साधुओं का समूह चतुर्विध संघ, जिससे आत्मा और परमात्मा की साधना हो वह सत्क्रियाकी, एक समाचारीवाले साधु की, मक्तिज्ञानादि पाँच ज्ञान की, अरिहंत के कहे धर्म की, इस प्रकार ऊपर दिये गये १५ पदों की मन-वचन तथा काया से आशातना नहीं होने देनी चाहिये। कभी ऐसा होता है कि, कोई भाग्यशाली अपने घर में या दुकान में मैठकर कहेगा कि, मैं १५ भेदों को श्रद्धा से मानता हूँ यानि कि, मुझे उनके प्रति श्रद्धा है लेकिन भगवती सूत्र कहता है कि, सिर्फ श्रद्धा रखने से काम नहीं चलता, किन्तु उनकी बहुमानपूर्वक भक्ति करनी, उपासना करनी अर्थात् अरिहंता के चैत्यों में जाना, दर्शन, वंदना,

पूजादि करना आचार्य, उपाध्याय, स्थविरादि मुनिओं के चरणों में जाना, उनकी द्रव्य और भाव से भक्ति करना, धर्मआदि के प्रचार में द्रव्य का व्यय करना मतिज्ञानादिज्ञान को बढ़ाने के लिए भक्ति के दूसरे १५ भेद हुये उनकी भक्ति के बाद भी अंत नहीं मानना। लेकिन मंदिर या उपाश्रय से बाहर आने के बाद अरिहंत की, गुरुओं की तथा प्रवचन आदि की प्रशंसा और गुणगान करते करते करते समय निकालना चाहिये, यानि कि, दुकान पर बैठते वक्त भी अरिहंतों के धर्म की प्रशंसा करनी चाहिये और उनके लिए अच्छा शब्द प्रयोग करना चाहिये तथा दुकान के सामने से यदि परमात्मा का वरघोडा या गुरुमहाराज का सामैया जाता हो तो १०-१५ कदम साथ में होना इस प्रकार भेद हुए। इस प्रस १५X१५X १५=४५ भेद से अनत्याशातना नामक विनय जाना जाता है।

(३) चारित्र विनय :—सामायिकादि पांच सम्यक्चारित्र की ओर सद्भाव रखना । अपना जीवन पवित्र, सरल, समताप्रधान और दयादानमय हो उससे लिए प्रयत्न करना। कषाय का त्याग करके समताभाव का अभ्यास करना और उसको बढ़ाना उसे चारित्रविनय कहते हैं।

(४-५-६) मनोविनय, वचोविनय और कायविकय :—

मनोविनय प्रशस्त और अप्रशस्त से दो प्रकार का है। उसमें प्रशस्त के सात भेद निम्नलिखित है।

(१) अपावए :—मन को पापरहित बनाना. पाप भावना से मन को बचाना, भुगतने के लिए उपस्थित या भुगते गये पापों की स्मृति नहीं करनी।

(२) असावज्जे :—सावज्ज यानि पापसहित और असावज्ज यानि जिसमें पाप नहीं है। प्रथम भेद में पापरहित मन के बारे में कहा गया है, इसलिए यहाँ पापका सामान्य अर्थ विशेष प्रकार के पापों से रहित होने का है, यानि कि, सावद्यवृति, प्रवृति, आरंभ, समारंभ आदि कार्यों को आत्म-संयम या स्वाध्यायबल द्वारा मर्यादा में लेने को असावज्ज कहते हैं।

(३) अकिरीये :—शरीर की क्रियाओं में अनासक्त रहने की भावना रखनी।

(४) निरुपक्केसे :—मानसिक जीवन में शोक या संताप न हो ऐसा मन बनाना। क्वचित् शोक संताप हो भी जाये तो उसका समझदारीपूर्वक निरासन करना यानि कि, निमित्त कारणों को लेकर शोक या संताप हो तो उसे टिकने नहीं देना चाहिए।

(५) अणण्हवकरे :—प्राणातिपादि आश्रवों से रहित रहना जिससे मन की अपवित्रता घटेगी और पवित्रता आहिस्ता आहिस्ता बढ़ेगी।

(६) अच्छविकरे :—स्वयं का या दूसरे का जीवन पीड़ाकारक नहीं बनाना। जिससे आर्तध्यान बिना का जीवन होने से मन, वचन और काया पवित्र बनेगी।

(७) अभूयामि संकणे :—भय रहित जीवन जीना, यानि अपनी क्रिया से अपने को भय लगे या अपने से दूसरा भयग्रस्त बने ऐसी क्रिया से दूर रहना और ऐसे व्यवहार, व्यापार भाषा आदि का त्याग करना, जिससे

मन की प्रसन्नता बढ़ेगी। उपर्युक्त सात प्रकार के प्रशस्त विनय से विपरीत अप्रशस्त मन भी सात प्रकार का है।

(१) पावए :—मन में पाप, असदाचार तथा दुराचार-पूर्ण गंदे भाव रखना और बढ़ाना जिससे मन हमेशा पापमय बनेगा, ऐसी स्थिति में दुनिया का एक भी जादूगर, मंत्रवादी, तंत्रवादी या वशीकरण करनेवाला कोई भी आपके मन को पवित्र नहीं कर सकेगा। मन की अपवित्रता के कारण इन्द्रियों के घोड़े हमेशा के लिए बेकाबू बनेंगे तब कषायों को जीतने के लिए आपके लिए सात आसमान का राज लेने जितना कठिन बनेगा परिणामस्वरुप मरने के बाद दुर्गति, परमाधामी यमदूतों के डंडे ही भाग्य में रहेंगे।

(२) सावज्जे :—जिस व्यापार में अनेक जीवों का हनन हो, ताड़न हो, मारण हो, संतापन या पीड़न हो उसे करने से या ऐसे समारंभ या आरंभ करने से मन को पापहित बनने का या बनाने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि जहाँ परिग्रह बढ़ाने की इच्छा हुई वहाँ अनिच्छा से भी प्रतिसमय पापों की राशि भी बढ़ेगी और उससे भारी बने आत्मा में चंचलता, वक्रता, स्वार्थअंधता, मायाविता, मायामृषावादिता बढ़ेगी, जिससे मानसिक जीवन में धर्म की, सदाचारी की भावना विदाय लेगी और यदि तुम्हारा पुण्य तुम्हारा साथी बनेगा और तुम लाखों-करोड़ों की माया इकट्ठी करोगे तो भी पूजा-पाठ, प्रतिक्रमण आदि सदनुष्ठान तुमसे खफा हो जायेंगे।

क्वचित् व्यवहार को सुन्दर बनाने के लिए यदि तुम

पूजा-पाठ करोगे तो भी तुम्हारा मन तो व्यापार में, पैसे के आदान-प्रदान में लगा रहेगा, ऐसी स्थिति में तुम परमात्मा के साथ एकतान कैसे हो पायेंगे ? तुम्हें एकतान करनेवाला भी कौन होगा ? घर पधारे मुनिराज को एक रोटी की भिक्षा देने के अलावा तुम गुरुजी के पास कैसे बैठ सकोगे ? यदि न बैठ सके तो तुम्हें तुम्हारे पापों का एहसास कौन करायेगा ? मरणासन्न अवस्था में तुम्हारा साथी कौन ? बेली कौन ? उस वक्त लाखों करोड़ों की माया ही तुम्हें डुबायेगी। तुम्हारा खानदान, वंश उतम जाति, जन्म, देवगुरु की प्राप्ति आदि साधनों का दिवाला निकलने से और अगले जन्म में तिर्यंच का अवतार मिलने से इस जन्म की तुम्हारी होशियारी तुमको मात खिलायेगी उसका क्या ?

(३) सकिरीए :—पाप और सावध क्रियाओं में मस्त बने जीव की शारिरीक क्रिया ही जीव हत्या करनेवाली बनती है। क्योंकि धार्मिक जीवन के बिना शरीरादि की क्रिया में अनासक्तत्व प्राप्त नहीं होता है। ऐसी स्थिति में तुम्हारा भोजनपानी, उठना, बैठना, झूमना फिरना आदि क्रियाओं में जैन शासन के प्राण सा उपयोगतत्व सर्वथा समाप्त होगा।

(४) सउवक्केसे :—आरंभ समारंभ आदि पाप क्रियाओं द्वारा उपार्जित पाप की गठरी जिसके सिर पर हो वह किसी काल में भी क्लेश, कंकास, आधि, व्याधि या उपाधि से मुक्त नहीं होता है। ऐसी स्थिति में उसके पास सम्यग्ज्ञान की एक भी मात्रा नहीं होगी तो वह जीव फिर से कषाय की

माया में फसेगा और अपने मन को गंदा बनायेगा। परिणाम-स्वरुप पूर्व के पापों से जीव कषाय क्लेश प्राप्त करता है और कषायों से जीव फिर से आरंभ-समारंभ करता है।

(५) अण्हवकरे :—क्रोधांध, मदांध, मायांध और लोभांध आदमी प्राणातिपातादि आश्रव मार्ग में फंसे बिना रहता नहीं है और "आश्रवो भवहेतुः स्यात्" आश्रव संसार के बीजों को मजबूत करनेवाला, बढ़ानेवाला और परंपरा से दुःख दारिद्र्य, शोक, संताप आदि की बक्षिस देनेवाला बनता है।

(६) छविकरे :—आश्रवमार्ग का उपासक सदैव खुद तथा दूसरे का पीड़ाकारक, हननकारक, ताड़नकारक और संसार का वर्धक होता है। पर हत्या तो पाप है ही लेकिन स्वहत्या यानि कि, विषय कषाय में फँसकर अपने आत्मा को वजनदार बनानेवाला खुद आत्मा की हत्या करता है इसलिए आत्मघातक बनता है और परघातक से स्वघातक ज्यादा जोखीमदार होता है। क्योंकि परघातक व्रतधारी भी हो सकता है, इसलिए केवल अतिचारों का ही मालिक बनता है, जबकि आत्मघातक तो अनाचारी होने से पापों का मिथ्यादुष्कृत देने जितनी भी तैयारी उसमें होती नहीं है। इसलिए उसका मन अशुद्ध, हिंसक और पापाचरण में ही आशक्त रहता है।

[७] भूयाभिसंगे :—आत्मघातक और परघातक अपने और दूसरे के आत्मा के लिए हमेशा भयोत्पादक ही होता है। फलस्वरुप अपनी सत्ता में रही भयसंज्ञा में दोगुनी, चार-गुनी, हजारगुनी वृद्धि होने से उस जीवात्मा को चारों ओर भय के भूत नजर आते हैं, इसलिए वे सुख चैन से बैठ नहीं

सकते, तो फिर परमात्मा के पूजन में माला जपने में सामायिकादि अनुष्ठानों में निर्भयता किस प्रकार पा सकेंगे ?

ऊपर के मुताबिक मनोविनय के प्रशस्त और अप्रशस्त नामक सात भेद कहे हैं। जैसे कि प्रशस्तकाय विनयी आत्मा उपयोगपूर्वक गमनागमन करेगा, बैठेगा, करवट बदलेगा, दरवाजे आदि का उल्लंघन करेगा, बड़े या छोटे खड्डेका उल्लंघन करेगा और इन्द्रियों को अच्छे पवित्र विषय में प्रवर्तमान करेगा, जो प्रसस्तकाय विनय है, जबकि अप्रस्तकाय विनयवाला आदमी इन सब क्रियाओं में उपयोग रहित होगा।

भगवतीसूत्र के इस प्रस्तुत सूत्र को ख्याल में रखकर दशवैकालिक सूत्र की यह गाथा बनी है।

"जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सये,
जयं भुंजंतो भासंतो पावंकम्मं न बंधई"

गुरु अपने शिष्य को कहता है कि, उपयोगपूर्वक चलना, खड़ा रहना, बैठना, सोना खाना और बोलना, जिससे पाप कर्म का बंधन नहीं होता है।

चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से या उदीरणा से साधक उपयोगरहित होकर क्रिया करेगा, परिणामस्वरुप उसका हर वक्त अतिचारवाला होकर आहिस्ता आहिस्ता सम्यगदर्शन को भी मलिन करनेवाला बनेगा इसलिए सम्यग दर्शनी आत्मा अपने सम्यक्त्व को अतिचारों से मुक्त रखने बार बार—

"आगमणे निग्गमणे, ठाणे चंकमणे अ अणाभोगे,
अभियोगे अ निओगे पडिक्कमे देसिअं सव्वं"

इस गाथा द्वारा उपयोग न होने से, राजा आदि के दमन के कारण या पराधीनता के कारण मिथ्यात्वपोषक स्थान में जाने से, रहने से, घूमने से आदि क्रियाओं से सम्यगदर्शन में जो दूषण लगे होंगे उसको मिथ्यादुष्कृत करेगा, यानि कि उस स्थान से वापिस लौटेगा।

[७] लोकोपचार विनय :—इसके भी निम्नलिखित सात भेद हैं—

[१] गुरु आदि महापुरुषों के पास रहना और बैठना।

[२] गुरु भगवंतों की इच्छा मुताबिक ही जीवन बनाना।

[३] ज्ञानादि टिक सके इसलिये आहार पानी का उपयोग करना।

[४] दर्शन-ज्ञान और चारित्रदाता का उपकार नहीं भूलना।

[५] गुरुदेव को अपना जीवन समर्पण कर देना जिससे भविष्य में भी नया ज्ञान मिलता रहे, और पुराने का परिवर्तन होता रहे।

[६] रोगादि से पीड़ित-दुखित साधर्मिक मुनिराजों को औषध आदि देना।

[७] जैसा अवसर आवे तब उसके मुताबिक प्रवृति में ध्यान देना और आराध्य गुरुदेव के सब कार्य अवसर के मुताबिक करना।

वैयावच्च आभ्यंतर तप :—बहुमानपूर्वक की सेवा को वैयावच्च कहते हैं। जिसके दस प्रकार हैं। आचार्य, उपाध्याय, (पंन्यास) स्थविर, तपस्वी, ग्लानमुनि, नूतनमुनि,

स्वगण का मुनि, परस्पर सापेक्ष अनेक समुदाय के मुनि, चतुर्विध संघ, समान समाचारी। इस प्रकार के दस मुनीओं की सेवा करनी। वैयावच्च का दूसरा अर्थ हैं मुनीओं को कभी रोगादि की, शत्रु की या मिथ्यात्वी की आपत्ति कभी आवे तभी संपूर्ण शक्ति लगाके उन्हें आपत्ति मुक्त करना।

आचार्य यदि समाहित होंगे तो संघ का संचालन अच्छी तरह से करेंगे। उपाध्याय यदि चितामुक्त होंगे तो संघ तथा मुनि को भी उत्तम स्वाध्याय का लाभ मिलेगा। स्थविर यदि अच्छी तरह से उपचरित होंगे तो नये मुनि स्थिर रह सकेंगे और आराधक अपनी आराधना में एकाग्रता ला पायेंगे। तपस्वी यदि खुश होंगे तो तपस्या द्वारा अपने आत्मा की साधना करते हुये संघ में भी तपस्या का रंग ला देंगे। ग्लानमुनिओं की आराधना से वे आर्तध्यान होकर अपने संयमधर्म में स्थिर रहेंगे।

नूतन मुनीओं की गौचरी पानी आदि वैयावच्च से वे सुसमाहित होंगे और दीक्षा में आनंदी होंगे जिससे संयम में स्थैर्य बढ़ेगा।

अपनी टोली के मुनीओं की वैयावच्च करने से परस्पर संप बढ़ेगा और एक दूसरे का सहायक बनेगा।

अनेक समुदायों के मुनीओं की सेवा, भक्ति और वंदना करने से "यह मेरे साधर्मिक हैं हम सब एक ही महावीर के संतान हैं" ऐसा ख्याल आने से मैत्री भावना का विकास होगा। गुणीयल मुनिओं की प्रसंशा करने का आनंद आयेगा। शरीर के कमजोर मुनिओं की ओर करुणता रखने से सम्यकत्व भाव शुद्ध बनेगा तथा एकाद भारी कर्मवाले

मुनी कों देखकर उपेक्षा भाव से बहुत से कषाय क्लेशों से बच जाओगे।

संघ की सेवा करना यानि अढाईद्वीप में रहते मुनिओं के साथ मैत्रीभाव रखना। साध्वी भी अपनी तरह पंचमहाव्रत वाली है ऐसा सोचकर उनका बहुमान करना, लेकिन वह स्त्री है ऐसा सोचकर उसका तिरस्कार या अपमान या उनको नीचे गिराने का प्रयास नहीं करना चाहिये। श्रावक भी जैन धर्म का कम या ज्यादा अंश से आराधक हैं इसलिए उनका वैयावच्च यानि वह गृहस्थ हैं ऐसा सोचकर उनको नीचे गिराने से महावीर स्वामी का शासन कमजोर पड़ेगा। "संघ में गुणवंत की अनुवृहंणा की" यानि गुणीयल श्रावकों का अपमान या तिरस्कार करनेवाले या उनके साथ असमान भाव रखनेवाले मुनि को अतिचार लगता है।

श्राविकाओं का बहुमान करना क्योंकि वे भी शक्ति-अनुसार व्रत, नियम, पच्चखाण आदि करती हैं। साधु-साध्वीओं की भक्ति करती हैं। इस प्रकार चतुर्विध संघ का वैयावच्च उत्तम धर्म हैं। तथा समान समाचारी मुनिओं को देख के खुश होना और शक्य हो तो गोचरी-पानी लाके देना और गोचरी के वक्त उनको आदर के साथ आमंत्रण भी देना। उपरोक्त दस प्रकार की वैयावच्च की आराधना मुक्ति दिलाती है।

स्वाध्याय आभ्यंतर तप :

(१) गुरु मुख से शास्त्र पढ़ना वाचना स्वाध्याय है। (२) विस्मृत विषय को बार-बार पूछना प्रतिपृच्छना स्वाध्याय है (३) बहुत बार हो गये पठन की आवृत्ति करनी पुनरावर्तन

स्वाध्याय है (४) शास्त्रों के अर्थ का चिंतन करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है (५) धर्म की कथा करना धर्म कथा स्वाध्याय है।

ध्यान आभ्यंतर :—आभ्यंतर तप का यह आखरी भेद है। मन बुद्धि यदि अशुद्ध या अशुभ रहे हो तो जीवन में दुर्ध्यान (आर्तध्यान और रौद्रध्यान) यदि पवित्र भावनाओं से भावित, तप त्याग से परिपूत निष्कषाय निःशल्य रहा हो तो आत्मा सद्ध्यान (धर्म और शुक्ल) का मालिक बनेगा। इस कारण से ध्यान के चार भेद हैं (१) आर्तध्यान (२) रौद्रध्यान (३) धर्मध्यान (४) शुक्लध्यान। अब इन चारों ध्यानों को विस्तार से समझ लें।

आर्तध्यान :—इसके चार भेद हैं :

(१) पूर्वभव के पुण्यकर्म कम हो तब, मानवमात्र को नहीं पसंद पड़नेवाले शब्द, गंध, रस और स्पर्श की प्राप्ति होने से मन में झंझलाहट होती है। तब उसमें से छुटकारा पाने के लिए वह मन, वचन और काया से कोई भी प्रयत्न करता है वह आर्तध्यान है क्योंकि, नापसंद पदार्थों की मौजूदगी में पूर्वभव का पापकर्म काम कर रहा है और जब तक उन कर्मों का जोर है तब तक सब प्रयासों के बावजूद भी छुटकारा नहीं मिलेगा।

(२) यदि पुण्यकर्म अच्छे होंगे और मनपसंद शब्द, गंध, रस और स्पर्श की प्राप्ति हो जायेगी तब-प्रसन्न हुए आदमी को प्राप्त उन विषयों की जिंदगी यानि कि, नापसंद भोग्य तथा उपभोग्य चीजों का संयोग तथा पसंद चीजों का वियोग किसी को भी अच्छा नहीं लगता है इसलिए नापसंद पदार्थ का संयोग दूर करने के लिए और पसंद की चीजों का अभाव न

हो उसके लिए हजारों प्रकार के प्रयत्न करते हुये आदमी जिंदगी समाप्त करता है। ऐसे आर्तध्यानी आदमी को गुरु के व्याख्यान में रस नहीं होता है, तीर्थंकर परमात्मा की आँख के साथ आँख मिलाने का वक्त भी उसके पास नहीं रहता है। घर में पुस्तक रखके पल दो पल स्वाध्याय करने में उनकी दिलचस्पी नहीं रहती है, माला जपने में भी, उनको आनंद नहीं होता है। प्रभु भक्ति के संगीत में उनको रस नहीं होता है। लेकिन वे जब ऐसा सुनते हैं कि कईपर वासक्षेप क्षेपक बिराजमान है तो वे सब छोड़कर मस्तक झुकाके सो दो रुपये उनके चरणों में रखके वासक्षेप डलवाने के लिए तैयार हो जाते हैं। नाकोडा के भेरु को, बालकेश्वर की या नरोडा की पद्मावती को श्रीफल की माला पहनाने के पैसे उनके पास द्रव्यादि, दुनियाभर की देव देवीयों की पूजा करने को भी वे तैयार हैं। यह सब आर्तध्यान के लक्षण हैं, क्योंकि वे कभी यह समझ नहीं पायेंगे की पसंद की चीजों को प्राप्त न करने के मूल में पूर्वभव का पाप काम कर रहा है और नापसंद चीजों को प्राप्त करने में भी पूर्वभव का पाप काम कर रहा है। इसलिए पुण्य को बढ़ाने में देव गुरु धर्म की आराधना, और पाप से मुक्त होने में तप, जप, ध्यान, दान, पुण्य आदि सत्कर्मों के सिवाय पुण्य स्थिर नहीं रहता है और पाप का नाश नहीं होता है लेकिन अज्ञानवश आत्मा आड़े मार्ग पर जाकर इधर-उधर होता रहेगा और ऐसे ही अपना जीवन आर्तध्यान में पूर्ण करेगा।

(३) रोगादि की प्राप्ति होने से उसके नाश या वियोग का इच्छुक आदमी अच्छे-बुरे और हिंसक उपायों की तलास में ही व्यस्त रहता है। परिग्रह बढ़ाने के इच्छुक आदमी व्यापार

रोजगार में सब प्रकार के झूठ, प्रपंच, बनावटी तौल-माप, व्याज की गोलमाल, माल में भेलसेल आदि पापों के जरिये पैसे इकट्ठे करते हैं और रोगी बनते हैं।

उन रोगों को नाबूद करने के लिए वे रस, रसायन, बाजीकरण, पंचेन्द्रिय जीवों के कलेजे और चरबी से बनी विटामिन की गोलियाँ आदि का सेवन करते हैं और पाप के पैसे को फिर से पाप में डालकर कुदरत की दुगुनी मार खाने को तैयार रहते है, लेकिन इन पापों को धोने के लिए सर्वथा निर्दोष ऐसे उपवास, उणोदरी आदि को करने के लिए कभी भी तैयार नहीं होते है। फलस्वरुप "हाथ के किये कर्म हृदयपर ही लगते हैं" इस न्याय से अपने आप उपार्जित किये रोग-शोक व्याधि-उपाधि आदि को भुगतना ही पड़ेगा और उनकी नाबुदी के लिए सर्वथा आड़े मार्ग पर जाकर जीवन को बरबाद करेंगे। सत्यकर्मों का नाश करेंगे, और इसके फल-स्वरूप उनके भाग्य में आर्तध्यान का यह तीसरा भेद शेष रहेगा जो तिर्यंच गति के अलावा दूसरी सद्गति नहीं दे सकता। कैन्सर, डायबीटीस, ब्लडप्रेशर, हार्डअटेक आदि रोगों से ग्रस्त आदमी को अपने भय से आकुल व्याकुल होते आपने कभी देखा है? उनके दुखभरे शब्द आपने सुने हैं? रोते-रोते और करवट बदलते वे कहते हैं कि, हमारे पाप, व्यभिचार, दुराचार, आदि ने हमें सर्वथा बरबाद किया है, गंदेमित्र, गंदासाहित्य, नाटक, सिनेमा आदि देखकर हमने वीर्यराजा का नाश किया है, और इन असाध्य रोगों में हम जान बूझकर फंस गये हैं। अब हमारा क्या होगा। हमको कौन बचायेगा? डाक्टरों को अपनी दास्तान सुनाते हैं लेकिन वीर्यशक्ति से ही खत्म हो जानेवाले आदमीओं को डाक्टर

भी कैसे बचा पायेगा ? इस प्रकार भयंकर आर्तध्यान में मरकर तथा मनुष्य जन्म की बाजी हारकर दुर्गति के शिकार बनते हैं।

(४ भरजवानी की गधा पचीसी की आयु का खयाल किये बिना, नाचनेवालीओं के, गानेवालीओं के, अभिनेत्रीओं के सुने गीत संगीत, उनकी पायल की झंकार, टेस्टपूर्वक चखे, खाये अलग-अलग रसास्वाद, उनको पचाने के लिए हजारों रुपयों के रस, रसायण का किया गया इस्तेमाल, जीभ को पसंद हो ऐसी खाई गई आइस्क्रीम, द्राक्षासव, शराबपान, हीना, केवड़ा और गुलाब के सूंघे गये अतर, हजारों रुपयों खर्च करके मनपसंद स्त्री के साथ किये गये दुराचार आदि सुखों का वियोग न हो और यह सुख आँखों से ओझल न हो, इसलिए आदमी परमात्मा को, देवदेवीओं को और साधु संतों के पास जाकर कहता है कि, हे देव, हे गुरु, मेरे सुखों को कायम रखना. मेरी श्रीमंताई को आबाद रखना, मुझे रोग रहित रखना। इस प्रकार वह आदमी अपने सुखों को, सुख के साधनों को जरा भी हानि न हो इसलिये सर्वथा प्रयत्नशील रहता है और आर्तध्यान में ही जीवन समाप्त करता है।

आर्तध्यान के चार लक्षण :—भगवती सूत्रकार ने आर्तध्यान से ग्रस्त आदमी को पहचानने के लिए चार की संख्या में लक्षण कहे हैं जो इस प्रकार हैं :

(१) कर्मसंयोग से इष्ट चीज का वियोग, अनिष्ट का संयोग और खुद की मोहमाया में मस्त बनकर भोगे गये, भोग-विलास को भुगतने के लिये तैयार की गई व्यक्ति का अंतराय जब बीच में आता है तब उस भाई के दिदार देखने लायक

बन जाते हैं। वह जोर-जोर से चिलाता है, खाने पीने और बोलने में चलचीत्त हो जाता है। बार-बार कल्पांत करते हुये वह मनोमन बोलने लग जाता है और वियोगावस्था जब बेमर्याद बन जाती है तब वे जोर-जोर से भी बोलने लगते हैं। 'हे प्रभो मुझे सुखी बनाना, बीच के अंतराय को हटा देना, मेरा धन और काम कायम रहे इसलिए मुझपर दया करना, मेरी जवानी कायम रखना, इत्यादि के लिए यदि बार-बार आक्रंदन और रोने का हो तो जान लेना कि यह आर्तध्यान का लक्षण है।

(२) अपने दुख के लिए बार-बार शोक संताप करना ग्लानि का अनुभव करना, हाथपैर पीटना, ऊंची आवाज में बातें करना इत्यादि लक्षण आर्तध्यान के हैं।

(३) बात-बात पर आँखों में आँसू लाना, मुंह पर हाथ रखकर निराश होकर बैठ जाना यह आर्तध्यान का तीसरा लक्षण है।

(४) अकेलेपन में या अपने मित्रों के पास, खदने भोगे सुख, मधुरजनी की मजा, रातों को खाये स्वादिष्ट भोजन आदि के स्वाद का वियोग होते ही आक्रंद करता है, निराशा व्यक्त करता है तब समझना कि यह आदमी आर्तध्यान के अंतिम चरण पर आ गया है और तिर्यंच अवतार को पाने की तैयारी कर रहा है।

रौद्रध्यान :—इस ध्यान में मरनेवाले मानव कोनरकगति में जाते हुये रोकने की ताकत किसी में भी नहीं है। क्योंकि इस ध्यान के परिणाम से दूसरे हजारों लाखों जीवात्माओं के साथ बैर बंधता ही है और निकाचितरूप से बंधे बैरविरोध

को भुगतने के लिए नरकगति के सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है। शास्त्रधार से इस ध्यान का स्वरुप इस प्रकार है :—

(१) रोदयतीति रौद्रं—रिपुजन महारण्यान्धकारादि दर्शनाच्छुद् भवो विकृताध्यवसायरुपो रसोऽपि रौद्रः (अनु० १३५)।

प्रत्येक प्रसंग में दूसरों को रुलाये उसे रौद्रध्यान कहते हैं। शत्रु के बीच रहते, जंगल में फंसे या अंधकार में अटके मनुष्य का मन विकृत बने, भयंकर बने तथा अत्यंत भयग्रस्त बनकर चहेरे पर रुद्रता आये उसे रौद्रध्यान कहते हैं।

(२) रोदयति—अतिदारुणं तथा अश्रुणि मोचयतीति रौद्रम् (अनु. १३५)।

मानसिक बौद्धिक, वाचिक, और कायिक व्यापारों में दुष्ट, असदाचारी तथा गंदा तत्व होने के कारण चारों ओर से भयभीत बना जीवात्मा अत्यंत दारुण होकर रोता है, दूसरों को रुलाता है और बार-बार आंसू टपकाता है यह सब रौद्रध्यान के कारण होता है।

(३) रौद्रमतिक्रूराध्यवसायः (दश० चू० १४)।

हिंसा, झूठ, चोरी, बदमाशी और द्रव्योपार्जन में डूबे रहने के कारण आदमी के अध्यवसाय सदैव क्रूर, अभद्र, और पापीष्ट बनते हैं, यह रौद्रध्यान के आभारी हैं।

(४) भीषणाकारतया रौद्रः (ज्ञाता. ९७)।

संसार की मोह माया में हद से बाहर मस्तान बनकर कामदेव और परिग्रह की उपासना जिसको प्यारी है, उस मानव का मन, बुद्धि, इन्द्रिय, खानपान, रहनसहन और भाषा व्यवहार अतीव भीषण हो जाते हैं यानि कि दूसरों को

भयंकर लगे ऐसी उसकी प्रवृत्तियाँ हो जाती है उसे रौद्रध्यान कहते हैं।

अब भगवतीसूत्र के अनुसार चार भेद के रौद्रध्यान को देखें :—

(१) हिंसानुबंधी :– जिस हिंसात्मक क्रिया से आत्मा पाप कर्म में बंध जाय वह हिंसानुबंधी है! भवभवांतर के क्रूर अध्यवसाय द्वारा हजारों, लाखों और करोड़ों जीवों के साथ वैरपूर्वक का ऋणानुबंधन जब इस भव में उदय में आता है तब मानव का जीवन दूसरे जीवों के घातन, ताडन, मारण, पीड़न आदि प्रवृतिओं के संस्कारों से विकृत बनता है और सबके साथ वैरझेर बढ़ता है, मारामारी आदि भी होती है। सारांश यह है कि आदमी परद्रोहात्मक होने के कारण प्रत्येक प्रसंग में अपने स्वार्थ के अलावा दूसरी गिनती नहीं करता है। स्वार्थी जीवन ही हिंसक होने से रौद्रध्यान में मग्न बनकर नरक गति का अतिथि बनता है। इस ध्यान के मालिक जब मृत्युशय्या पर होते हैं तब उनकी भाषा तुमने कभी सुनी है? उनका बकवास कुछ इस प्रकार का होता है :

"देख बेटा! तू मेरा सुपात्र पुत्र हो तो महावीर स्वामी के समवशरण में कदम मत रखना, उनको वाणी मत सुनना क्योंकि, महावीरस्वामी अपनी खानदानी के पक्के दुश्मन हैं।"

"अरे कान्ती! तू मेरी आखिरी बात सुन ले, मेरे मरने के बाद दूसरा वकील करना, और तुम्हारे चाचा को जेल में धकेले बिना छोड़ना नहीं। उसके घर का पानी भी मत पीना।"

"मर के नरक में जाऊँ तो कोई गम नहीं, नरक मुझे सात बार कबुल है, लेकिन तुम्हारी टाँगे तोड़े बिना मैं नहीं रहने वाला हूँ" अपने जीवन के इन प्रसंगों से हम जान सकते हैं कि, रौद्रध्यान कितना भयंकर है।

(२) मृषानुबंधी :—मृषा-हिंसक, घातक, ईर्ष्याभय, द्वेष-पूर्ण, कठोर, असुयात्मक, द्रोहमय-भाषाव्यवहार द्वारा अपने आत्मा की नरकगति के सात अनुबंध करानेवाला मृषानुबंधी रौद्रध्यान है। मृषा यानि झूठ, नरक में जानेवालों की योग्यतावालों का जीवन, खानपान, व्यापार, व्यवहार तथा लेनदेन आदि मृषावादपूर्ण ही होता है, इसलिए कहा गया है कि :—

"झूठ ही लेना, झूठ ही देना, झूठ ही भोजन, झूठ चबेना,
बोल ही मधुर वचन जिय मोरा, खाई महाहि हृदय कठोरा"
(तुलसीदास जी)

मृषावादीओं के जीवन मयूर जैसे बाहर से मीठे और सुन्दर लगते हैं, लेकिन प्रसंग पड़ने पर कातील भेर जैसे होते हैं। शकुन शास्त्री ने भी कहा है कि, नृत्य करता मोर यदि सामने मिले तो लक्ष्मी, सुख, शांति, देनेवाला बनता है, लेकिन यह भूलना नहीं चाहिए कि, वही सुंदराकार मोर जब अपनी चोंच में पकड़ के किसी महासर्प को चीरता होता है, और उसे खाता है तब अपने को लगता है कि, इस संसार में मोर जैसे क्रूर हृदयवाला दूसरा कौन हो सकता है ? उसी प्रकार मृषानुबंधी मानव भी बाहर से सुंदर और हृदय का कोरा रहता है।

(३) स्तेयानुबंधी :—स्तय यानि चोरी ! चोरी का कर्म

करनेवाला स्तेयानुबंधी कहलाता है। नरक में जानेवाले जीव का यह तीसरा लक्षण है। पूर्वभव की उपार्जित चौर्यकर्म की आदत मिटाना बच्चों का खेल नहीं है। उनके अध्यवसाय, हाथ की चालाकी, बोलने की कला, यानि वाकचातुरी, और तोलने मापने की कला भी ध्यान से देखने लायक होती है।

वे धर्म के सूक्ष्म सिद्धांतों को, अहिंसादि व्रतों को तथा अतिचारों को, सिद्धशीला के नाप को, महाविदेहक्षत्र की, सीता तथा सीतोदा नदी की गहराई को, उत्सोधांगुल और प्रमाणांगुल के अंतर को, स्याद्वाद नय और निक्षेपा के भेदानुभेद को सरलता से समझ सकते हैं, दूसरों को समझा सकते हैं। साथ-साथ कर्मों की प्रकृतिओं को, उनकी सत्ता उदय उदीर्णा को अंगुली के टेरवे से गिना सकते है, लेकिन अपने जीवन से में चौर्यकर्म की आदत को किसी भी हालत में सुधार नहीं सकते हैं। उसमें भी क्रूरतापूर्वक की चोरी महाभयंकर होने से रौद्रध्यान को उत्पन्न करती हैं।

(४) संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान :—मिले हुए या पाये गये अर्थ और काम के साधनों को सुरक्षित रखने में, उनकी वृद्धि करने में, कामदेव उत्तेजित हो ऐसे औषध, खानपान रसायण टंटोलने में, और परिग्रह की माया को चारों ओर रातदिन बढ़ाने में जो डूबे रहते हैं, यह संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान का परिणाम है। ये चार प्रकार के मानव अपने मानवातार में मानवता या देवी तत्व को आजीवन पा नहीं सकते।

उतराध्यान सूत्रानूसार मानवता, श्रुति, श्रद्धा और पापों के परिहाररूप संयम में वीर्यता दुर्लभतम है। इन चारों कारणों में पूर्व की हाजरी में ही उतरत्व की प्राप्ति की

संभावना है। जैसे कि पापमार्गों के त्यागपूर्वक की मानवता यदि प्राप्त न हुई हो तो धर्मश्रद्धा उसके भाग्य में कहाँ से आयेगी। उसके बगैरह धर्मतत्व की ओर श्रद्धा कहाँ से आयेगी? और उसके बगैर आत्मजीवन में संयम की पराक्रमिता बुद्धदेव के शून्यवाद जैसी ही रहेगी ना? इसलिए मानवता प्राप्त करने के लिए पापमार्गों का परिहार सर्वथा अनिवार्य है। अन्यथा दानवता ही भाग्य में रहेगी।

मानवावतार में राक्षस होंगे क्या?

इतिहास, पुराण, लोकवार्ता या काव्य में भी हम पढ़ते या सुनते आये हैं कि, कालेरंग के, शिंगवाले, अघोरी जैसे बाल, दांत और नाखुन, पैर और हाथवाले, अत्यन्त क्रुर, निर्दयी और भयंकर से भयंकर राक्षस संसार में होते हैं। रामायण, महाभारत काल में राक्षस थे। रामचंद्र की धर्मपत्नी को राक्षस उठाके ले गया था। भीम ने एक राक्षस की कन्या के साथ शादी की थी: और उससे उसको घटोत्कच नामक पुत्र हुआ था। इत्यादि बातों से यह प्रतित होता है कि राक्षक की विद्यमानता थी। जबकि संसार के यथार्थ रूप को पेश करनेवाला जैन शासन कहता है कि, राक्षस मानवयोनी नहीं बल्कि देवयोनी है। देव और मनुष्य साथ नहीं रहते हैं! शादी भी नहीं करते हैं, क्योंकि देवयोनी का शरीर मानव शरीर के लिए प्रतिकूल होता है और मानव से देव का पुण्यकर्म भी ज्यादा होने से दोनों का परिणय (लग्न) संभव नहीं होता। बेशक पूर्वभव की संयम आराधना के कारण जबरदस्त पुण्यकर्म को उपार्जित करनेवाले मुनि, महामुनि, तपस्वी, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि भाग्यशालीओं की

सेवा में राक्षस, किन्नर, भूत अथवा प्रेत आदि योनिओं के देव रहते हैं, यह संभवित भी है। अथवा पूर्वभव के अत्यधिक बैरानुबंधन से कोई राक्षसदेव मनुष्य को हैरान-परेशान करे वह भी संभव है।

रावण कौन था ?

जैन शासन के अनुसार रावण विद्याधर था। रुपरुप का अवतार था। हजारों प्रकार की विधा का साधक होने से रावण विद्याधर कहलाता था। और वह श्रावकधर्मी, परमार्हत, जैन, होने से अहिंसा धर्म का महान प्रचारक था। अपनी राज्यसत्ता के दौरान उसने हजारों यज्ञकुंडों को शांत कराये थे। क्योंकि उस वक्त" वेदविहिता हिंसा हिंसा न भवती" यानि कि उस वक्त वेद मंत्रोच्चारों के साथ देव देवीओं के सामने हजारों घेटे, बकरे, गाय, बैल, पाडे, मुर्गे आदि मूक प्राणियों को तथा बत्तीस लक्षणवाले बालकों को बलिवेदी पर क्रूरता से मार दिया जाता था। उनके सांस से बना आहार जिसको दिया जाता था वे आराम से उसे खाते थे।

भवभुति के उत्तर रामचरित्र में रामचंद्र के पुत्र लव और कुश की जनोई विधि के वक्त वाल्मीकी ऋषि के वहाँ दो रसोईघर थे जिसमें एक मांसाहार का था और दूसरा शाकाहार का था। हजारों की संख्या में ऋषि, मुनि, महर्षि उनके पुत्र और दूसरे आदमी भी शरीक हुये थे। वशिष्ठ आदि महर्षि मांसाहार के रसोईघर में अतिथि थे। इससे हम जान सकते हैं कि यह सब मूक प्राणी यज्ञकुंड में मारे जाते थे वह यज्ञकुंड रावण ने समजूतीपूर्वक तथा बलपूर्वक बंध कराये थे

इसलिए ऐसे अहिंसक राजा को राक्षस कैसे कहा जाये ? हालांकि रामायण में तथा पुराणों में रावण का चित्र राक्षस के रुप में किया गया है।

भारत का क्रमशः जो अधःपतन हुआ है, उसमें उस नैतिक अधःपतन में संप्रदायवाद, धर्मवाद या क्रियाकांडवाद भी मौलिक रुप से जिम्मेदार हैं। यह एक कटु सत्य हकीकत है। इस प्रकार धर्म और क्रियाकांड के नाम पर लड़ती अपने देश की प्रजा कभी भी देश के हित के लिए एक न हो सकी है, एक होनेपर भी महापंडितों के विरोध से संगठित नहीं हो पाई है और इस प्रकार लड़ने-झगड़ते इस देश में चार आश्रम और चार वर्णों की प्रजा एकदम कमजोर हो गई है। फलस्वरुप प्रजा सुरा (शराब) सुंदरी (परस्त्री) और शिकार जैसे भयंकर व्यसनों में पड़ गई है, अपने हाथों ही अपना नूर-तेज, वर्चस्व, यश और ओजस गंवाया है।

तब राक्षस कौन ?

इस तथ्य का यथार्थनिर्णय जैनधर्मानुयायीओं की तरह अहिंसा धर्म के प्रेमी, दयापूर्ण, महासंत तुलसीदास जी ने भी अपनी रामायण में किया है, जो इस प्रकार है :—

"पर द्रोही परदाररत, परधन पर अपवाद;
ते नर पामर पापमय देह धरे मनुजाद"

यानि कि मनुष्यावतार जैसे पवित्र जन्म को पाकर पाप और मोहबुद्धि से दूसरों का द्रोह करनेवाला, परस्त्री का हरण करनेवाला, पर धन को हड़प करनेवाला, या परनिंदा करने वाले राक्षस ही हैं ?

तुलसीदासजी कहते हैं कि, पापकर्मी आत्मा ही राक्षस-

तुल्य है, वाघ, चिता, कालानाग या पशु पक्षी मानव समाज का जो नुकसान करते हैं, उससे ज्यादा नुकसान करनेवाला पापकर्मी आत्मा है, जो हम खुद प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। मनुष्य सृष्टि में पापी तथा गुरु बिना का आगुरवा राक्षस है, उसमें भी अगुरवो (अगुरवो) ज्यादा खतरनाक है।

"नगुरवो कोई मत मिलो, पापी मिलो हजार,
एक नगुरवा के कारणे, पापी बने हजार"

यानि कि जिसके सर पर गुरु न हो ऐसा नगुरवा पंडित, संन्यासी, राजनैतिक, राज्य संचालक, सेठ या श्रीमंत सब अपने व्यक्तित्व के लिये, कुटुंब के लिए, गाँव, धर्म और देश के लिए बहुत खतरनाक साबित हुये है। क्योंकि उनके आत्मा पर अंकुश रखनेवाला कोई नहीं होने से उन्हें रौद्रध्यान में प्रवेश करते देर नहीं लगती और रौद्रध्यान का मालिक, झूठा, चोर, दुराचारी और सारे संसार को भूखा रखकर खुद श्रीमंत बनने की भावनावाला बेशरम राक्षस है।

जबकि देवी संपति सम्पन्न, व्रतधारी, होने से अहिंसक, सत्यधर्मी, चौर्यकर्म रहित, परस्त्री त्यागी और परिग्रह को भी मर्यादित करनेवाला होने से संसार का मित्र है, इसलिए देव है।

वेद को जैन क्यों नहीं मानते ?

इस संसार में आदि मानव ऋषभदेव हुये हैं जो तीन ज्ञान से युक्त महातेजस्वी, ओजस्वी और अद्वितीय पराक्रमी होने के कारण मानव धर्म का प्रचार और उस समय के सब युगलिकों को मानवधर्म के झंडे तले लाने का महान कार्य किया था। जिनको सब प्रकार की शिल्पकलाएँ, न्यायनीति

और राजधर्म और प्रजाधर्म का शिक्षण दिया था। इसलिए सबके पितामह जैसे थे। भरत चक्रवर्ती, बाहुबली, ब्राह्मी तथा सुन्दरी आदि संतान थे। समय गुजरते ही उन संतानों को अमुक-अमुक देश का राज्य सौंपकर तथा भरत चक्रवर्ती को अयोध्या का राज्य सौंपकर खुद ने राजपाट, धन वैभव, पुत्र पुत्री परिवार आदि का स्वेच्छा से त्याग किया और दुनिया के आदि मुनि बने। घोर तपस्या करके केवलज्ञान के मालिक बने और आदि तीर्थंकर, आदीश्वर और आदीनाथ के नाम से प्रसिद्ध बने। समवसरण में वीराजमान होकर देव-देवेन्द्र देवीयों, इन्द्राणीओं, राजा-महाराजाओं को जो उपदेश दिया उसे भरतराजा ने शब्दों मे ढाला और वह वेद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जहाँ तक उसमें अहिंसादि के मंत्र थे वहाँ तक वह वेद सबको मान्य रहे।

संसार में अहिंसाधर्म और अहिंसक जिस तरह अनादि-काल से है उसी तरह हिंसाकर्म और उनके प्रचारक भी अनादिकाल से है। जब-जब इस हिंसक वर्ग का जोर बढ़ता है तब तब सर्वत्र हिंसा का तांडव नृत्य देखने को मिलता है और वेद में भी हिंसा के मंत्र प्रवेश करते हैं। क्योंकि, निरामिष भोजन करनेवालों से मांसाहार वालों की संख्या हमेशा ज्यादा रहती है। तब ही वेदों को आश्रय बनाकर कल्पित देव देवीओं के आगे बेचारे, निरपराधी, गूँगे प्राणीओं की हत्या बढ़ गई है। जिनमें बकरे आदि जानवरों की हत्या लाखों की संख्या में होती है। जिसमें माँसाहारीओं को इष्ट दिखाई देता था। उसके बाद धीरे-धीरे देश के कोने कोने में देव देवीओं को बिराजमान किया गया और उनके समक्ष गिड़गिड़ाते पशुओं को निर्दय कत्ल की जाती थी।

देश में ऐसी तंग स्थिति होने पर भी पंडितों के जोर जुल्म के कारण कोई भी आवाज नहीं निकाल सकता था। तब जैन शासन ने वेद को मानने का इन्कार किया। आज भी दयानंद सरस्वती के अनुयायी तथा वैष्णव वेद आदि को मानते हुए भी उनमें बसे हुए हिंसक मंत्रों को नहीं मानते। ऐसी स्थिति में भी वे नास्तिक नहीं कहलाते। तो फिर जैनानुयायीओं को नास्तिक मानने में वैदिकों ने बड़ी गलती की है। फलस्वरुप सारा देश दो संस्कृति में विभाजित हुआ, जिनके कटु फल सारे देश भुगत चुका है। धर्म के नाम पर गूंगे प्राणीओं की हत्या धर्म कैसे हो सकता है? देवीओं के समक्ष बलि किये हुये पशु देवलोक में जाते हैं। इस बात में भयंकर अज्ञान रहा है। मालवा के महाराजा भर्तृहरि ने ठीक कहा है कि "यज्ञ कुंड में मरनेवाले पशु को यदि स्वर्ग-लोक में जगह मिलती हो तो सबसे पहले अपने परिजनों को ही यज्ञ में डालना चाहिए।"

अकस्मात से जानवर जब सड़क पर भूर भूर के मरता है तब उसे देखकर अच्छे-अच्छों को कंपन हो उठती है तब भला दया देवी के पुजारीओं को जीवहिंसा की ओर नफरत न हो यह कैसे संभव हो सकता हैं?

मानव जीवन में जब दोष आता है और बढ़ता है तब मानव इतना हठाग्राही बन जाता है जिसके परिणाम स्वरुप देश का रक्षण करनेवाली तथा जिसके शरीर में तैंतीस करोड़ देवों की स्थापना है, ऐसी मान्यता को माननेवाली संस्कृति ने गाय के माँस को भी निषेधात्मक नहीं माना है। ब्राह्मण सूत्रों और ज्यादातर भवभूति के उत्तर रामचरित्र में चौथे या पाँचवें अध्याय को देखने से कालूम पड़ता है कि दशरथ राजा

के कुलगुरु वशिष्ठ जैसे महासंत ने भी गाय के बछड़े को मूली की तरह खाया था।

आज से दो हजार पाँच सौ साल पहले इन्द्रभूति, अग्निभूति जैसे अकाट्य विद्वानों को भगवान महावीर स्वामी ने वेदमंत्रों का आश्रय लेकर शंकारहित किया था। परिणाम स्वरुप हिंसा के तांडव नृत्य से कंपित हुए हजारों, लाखों मानवों ने जीवहत्या, मांसाहार, शराबपान, वेश्यागमन तथा परस्त्रीगमन का सर्वथा त्याग करके अहिंसा धर्म के पूर्ण आराधक बने थे और दूसरे भाग्यशाली गृहस्थाश्रम में रहकर भी मांसाहार आदि का त्याग करके श्रेयस् धर्म के आराधक बने थे।

रौद्रध्यान किस तरह पहचाना जाता है ?

इस ध्यान का निर्णय करने के लिए उसके भी चार लक्षण बताये गये हैं।

(१) ओसन्न दोष :—रौद्रध्यान होने के चार कारण जो ऊपर दिये गये हैं उसमें से एकाद में मन लगाये रखना इस ध्यान का प्रथम लक्षण है। जैसे कि कोई जीव हिंसानुबंधी कार्यों में उसके चिंतवन में जीवन पूर्ण करता है, दूसरा मृषानुबंधी में व्यस्त होकर झूठ, प्रपंच, झूठी साक्षी झूठे सौगंध लेने देने में जीवन बरबाद करता है, तीसरा स्तेयानुबंधी में चकचूर चोर की दोस्ती, उसे सहायता, माल में भेलसेल, झूठे ब्याज, झूठे नापतौल, आदि प्रकार के चौर्यकर्मों में व्यस्त रहकर अपना मनुष्यावतार भ्रष्ट करता है, जबकि चौथा कोई आदमी हिंसानुबंधी, स्तेयानुबंधी और मृषानुबंधी की ओर बेदरकार रहकर अपनी इन्द्रियों का गुलाम बनकर

वृद्धावस्था पर्यंत भी स्पर्शेन्द्रिय का मनपसंद मुलायम स्पर्श और मनपसंद स्त्रीओं के स्पर्श को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता है। जीभ इन्द्रिय का गुलाम बनकर तीखेमीठे, चटपटे भोजन तथा पान का स्वाद छोड़ने की भावना नहीं होती है। आँख इन्द्रिय की गुलामी की वजह से अमुक को देखे या सुने बिना उसे कहीं भी आनंद मिलता नहीं है।

इस प्रकार विषयवासना का पूर्ण गुलाम हो, रात दिन मैथुनकर्म की वासना में डूबा रहता हो, उनके ही विचार आते हों और उदीर्णा करके विषयवासना के भिन्न भिन्न प्रकार से भुगते गये भोगविलास की स्मृति में विषय के कीड़े की तरह जीवन पसार करता मानवी ओसन्न दोषवाला है।

(२) बहुल दोष :—हिंसानुबंदी आदि चार दोषों में अत्यंत प्रवृतिवंत हो यानि कि, हिंसा, झूठ, चोरी या विषय रक्षण की प्रवृत्ति के अलावा दूसरी किसी भी जगह उसका मन वचन, काया अच्छे कर्मों में लगती नहीं है।

क्लब, सिनेमा, मोजशौक आदि के लिए भटकना या लड़ाई-झगड़े की ओर या तो जहाँ परस्त्रीओं के बारे में चर्चा होती है वहाँ ऐसे आदमी के पैर खींचे चले जाते हैं और मन सदैव तैयार रहता है। लेकिन समाज की सेवा हो, दीन-दुखियों के लिए फंड इकट्ठा करना हो या विधवा बहनों के संरक्षण के लिए अपनी जेब से कुछ निकालना हो ऐसी प्रवृत्तियों में उनको रस नहीं रहता है। मुनिराजों की सेवा में उनके हाथ पैर दबाने में या बाम आदि लगा देने में ऐसे भाई को जरा भी दिलचस्पी नहीं होती है। लेकिन पंचों की जाजम पर मुनिराजों की चर्चा, उनके बारे में कायदा कानून आदि

की दलीलों में अपना धंधा तथा घर के कामकाज को छोड़कर भी ऐसी पंचायत करने में उसे मौज पड़ती है।

(३) अज्ञान दोष :—तमाम शास्त्रकारों ने अज्ञान को महापाप कहा है। क्योंकि अठारह पाप स्थानकों की प्रवृत्ति करानेवाला अज्ञान ही है। उसमें इतनी शक्ति है कि आदमी कदाग्रही, हठाग्रही और पक्का जीदी होकर समाज में क्लेश टंटे फसाद करके सर्वत्र एक दूसरे को बैरी बना देता है।

(४) आमरणात दोष :—मृत्यु की अंतिम क्षण तक भी अमुक आदमी पाप के धंधे, झूठे व्यापार कोर्ट कचहरी के झगड़े, परस्त्री गमन का सहवास आदि छोड़ नहीं सकते। रौद्रध्यान समाप्त ॥

(३) धर्म ध्यान :—प्रतिदिन जो वस्त्र धोये जाते हैं उन्हें उजला करने में ज्यादा परिश्रम नहीं करना पड़ा है। लेकिन हलवाई धांची आदि के मैले वस्त्रों को उजला करना अत्यंत कष्ट साध्य रहता है। उसी प्रकार आत्म वस्त्र पर लाखों, करोड़ों या संख्यात भवों से लगे पापकर्मों की धूल को झटकने के लिये देवगुरु या धर्म की आराधना के सिवा कोई और मार्ग नहीं है। लौकिक और लोकोत्तर रुप में देवों के दो भेद हैं। नागकुमार, ब्रह्मदेव, असुर, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, भूत, व्यंतर, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे, घंटाकर्ण, मणिभद्र, और भेरुजी आदि असंख्यात देव तथा पद्मावती, चक्रेश्वरी, अंबा, चामुंडी, काली, महाकाली, कालिका, सीतला, बहुचरा, भवानी आदि देवीयाँ लौकिक देवीयाँ हैं। 'लोके भवाः लोकिकाः" इस न्याय से उन्हें भी जन्ममरण के ८४ फेरे करने पड़ते हैं। भवभवांतर में घूमना पड़ता है। यह देव किसी भी मानव के पाप नष्ट करने में असमर्थ रहते हैं। इसलिए

आत्मकल्याण के लिए लौकिक देव अपने उद्धारक नहीं बन सकते। जबकि लोकोत्तर देव 'तज्जयावाप्त मोक्षाय' यानि कि, काम, क्रोध, लोभ, मोह, माया, मद आदि जीवन के अंतरंग शत्रुओं को सर्वथा निर्मूल करनेवाले होने से केवलज्ञान के मालिक बनकर सिद्धशीला को प्राप्त करनेवाले होते हैं। इसी कारण ही लोकोत्तर अरिहंत परमात्मा ही मानव का अपनी योग्यता के अनुसार कर्मजंजीरों से मुक्त करा सकते हैं।

पंचमहाव्रतों के पालक, एकेन्द्रीयादि जीवमात्र के रक्षक, मन वचन तथा काया से संसार की प्रपंचलीला को संयमित करनेवाले, समिति गुप्ति धर्म के पालक मुनिराज जीवों को धर्म समझा सकते हैं और उन्हें,पिघला सकते हैं। दया से परिपूर्ण अहिंसा संयम और तपोमय जैनधर्म ही विषयकषाय को मर्यादित करने में, आराधकमात्र की कर्मों से मुक्ति दिलाने में समर्थ है। तथा आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान से बचाकर धर्मध्यान में तल्लीन कराने को पूर्ण समर्थ है। जिसके चार भेद हैं :—

(१) आज्ञा विचय : –कर्माणुओं से सर्वथा मुक्त होकर केवलज्ञान के मालिक सयोगी, तीर्थंकर परमात्माओं की आज्ञा का विचय यानि पर्यालोचन-आलोचन करना उसे धर्मध्यान का प्रथम भेद आज्ञा विचय कहते हैं। मानवमात्र मनकरण, वचनकरण, कायकरण और कर्मकरण का मालिक होने से उसके मन, वचन और काया प्रतिसमय प्रवृतिवाले ही होते है। लेकिन धार्मिकता (धर्मं चरतीति धार्मिकः) प्राप्त होने के बाद थोड़ा सोचा जाय तो उसकी प्रवृत्ति में गंदापन, वैकारिक, तामसिकऔर पौद्गलिक भाव का त्याग हो सकता है, क्योंकि जब तक जीव शुद्धस्वरुपी निरंजन निराकार अवस्था

को प्राप्त नहीं होता है तब तक सद्बुद्धि, तथा सद्विवेकपूर्वक अपनी प्रवृत्ति को तथा वृत्ति को शुद्ध और शुभ बनाये तो संसार के संचालन में भी कोई मुसीबत नहीं आती है और बहुत से निरर्थक पापों से भी बचा जा सकता है। इसलिये प्रतिक्षण यही सोचना चाहिये कि, मेरा खानपान, रहनसहन, व्यापार-व्यवहार आदि प्रवृत्ति तीर्थंकरों की आज्ञाअनुसार है या नहीं? यदि नहीं है तो प्रयत्नपूर्वक देवाधिदेव तीर्थंकर भगवंत की आज्ञा समझनी और जीवन में उतारनी चाहिये और उसके लिए प्रयत्न करना ही 'श्रेय' की साधना है। क्योंकि जैनत्व प्राप्त हो उससे दूसरा श्रेय कौनसा?

संसार भर में चाहे कितने ही और कैसे ही पवित्र सदनुष्ठान हो, वे यदि तीर्थंकर परमात्मा की आज्ञा के अनुसार होंगे तो उनमें पापतत्व का प्रवेश नहीं हो सकेगा। इसी कारण ही श्रावक के योग्य सब कर्तव्यों में सबसे पहले "मग्गहजिणाणमाणं जिनेश्वर देव की आज्ञा सब कार्यों में माननी होगी। क्वचित कोई भाई केवल स्तोत्रपाठी ही होगा यानि कि, स्तोत्र बोलकर ही कर्मों की निर्जरा करना चाहता होगा तो उसे शिक्षा देते हुए आचार्य भगवंत ने कहा है कि, स्तोत्र पाठ करने से भी आज्ञा सर्वश्रेष्ठ है।

"जइ इच्छह परमपयं, अहवा कीर्त्ति सुवित्थडं भुवणे।

ता तेल्लुककुद्धरणे जिणवयणे आयरं कुणह॥"

तुझे यदि परमपद-मोक्ष-मुक्ति केवलज्ञान या सीमंधर-स्वामी की आवश्यकता हो, तथा कीर्ति यश प्राप्त करने की चाहना है तो तीर्थंकर परमात्माओं की आज्ञा को मानने का आग्रह रखना।

"जो शिवसुंदरी वरवा होंश करो, तो जिन आणा शिरे धरो"

तुम्हें यदि शिवसुंदरी की चाहना हो तो सर्वप्रथम मन-वचन और काया से किये जाते सब कर्मों में जिनेश्वरदेव की आज्ञा को मस्तक पर धारण करना।

तीर्थंकर परमात्माओं के धर्म की चरमसीमा त्याग और तप की सर्वांश या अल्पांश रुप में की गई आराधना में समाविष्ट हैं। क्योंकि तपोधर्म की आराधना से शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि और आखिरकार आत्मा की भी शुद्धि होती है।

इस शुद्धि को टिकाये रखने के लिये तथा आत्मा को स्वभाव में, स्वधर्म में या आध्यात्मिक ज्ञान की चरम सीमा तक पहुँचाने में बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह के त्यागधर्म से अतिरिक्त दूसरा एक भी धर्म पूर्णरुप से समर्थ नहीं है। कारण में कहा गया है कि जिन मार्गों से नये पाप आये, उन मार्गों का त्याग करना सर्वथा अनिवार्य है उससे आत्मा की शुद्धि होगी, शुद्धि जमकर रहेगी, बढ़ेगी और परमात्मापद प्राप्त करने का अधिकार मिलेगा।

यदि कोई कहे कि, पवित्रतम गंगा, यमुना बालब्रह्मचारिनी सरस्वती आदि अन्य किसी नदी में शरीर स्नान करने से आत्मा की शुद्धि भी हो जायेगी यह मानना गलत है क्योंकि शरीर पौद्गलिक होने से जड़ है और आत्मा चैतन्य है। इन दोनों द्रव्यों की दिशा भिन्न-भिन्न होने से शरीर की शुद्धि के साथ आत्मा की शुद्धि की संभावना नहीं है। गंगा में आप चाहे कितनी भी बार गोता लगाइए, फिर भी आपका शरीर शुद्ध होनेवाला नहीं है, क्योंकि शरीर का मलद्वार अनेक

प्रयत्नों के बावजूद भी पवित्र नहीं हो पायेगा । दूध और चीनी की तरह आत्मा और शरीर कर्मों की वजह से एकाकार दिखाई देंगे लेकिन लोहे के गोले और अग्नि की तरह आत्मा और शरीर भी भिन्न है । इसलिए शरीर की शुद्धि से आत्मा की शुद्धि नहीं होती है। कभी चर्मचक्षु से या पूर्वग्रह से दिखाई दे तो वह शुद्धि नहीं है लेकिन उसका आभास है। इसलिए शरीरस्नान आत्मा की शुद्धि का कारण नहीं बनता। इस वजह से व्यासजी रचित महाभारत में कहा गया है कि :—

"पानी से किया गया स्नान, स्नान नहीं है, लेकिन जो भाग्यशाली अपनी इन्द्रियों को स्वाधीन करता है वह शुद्ध है।"

"पाँच इन्द्रियों के विषय में अत्यासक्ति हो मन का मैल है, इसलिए मैलरहित होने का प्रयत्न करना मन की शुद्धि है। इसलिए ध्यान से पवित्र हुए जल में जो स्नान करेगा वह परमगति प्राप्त करेगा। स्मृतियाँ भी कहती हैं कि "ब्रह्मचारी सदा शुद्धि"

आत्मा की शुद्धि के लिए शरीर शुद्धि मौलिक कारण नहीं होने के बावजूद भी गृहस्थश्रमी को स्नान किये बिना चलता नहीं है, इसलिए स्नान के बाद ही अरिहंतों का पूजन तथा ध्यान करना चाहिये, जिससे स्नान के वक्त पानी के जीवों की विराधना नष्ट होगी और मानवता को अहिंसाधर्म का रंग लगेगा।

(२) विपाकविचय धर्मध्यान :—जब तक जीवात्मा शरीर से संबंधित है, तब तक पूर्वभव में किये हुये पापाचार, अभद्र

व्यवहार मायाचार तथा मिथ्याचार के माध्यम से जिन जीवों के साथ राग-द्वेषात्मक, ऋणानुबंधन होंगे उनका विपाक-फलादेश अर्थात् किये हुए कर्मों को भुगतने के सिवा कोई चारा नहीं है। ऐसी परिस्थिति में जब कर्मों के फल भुगतने ही हैं तो फिर सम्यग्ज्ञानपूर्वक, समझदारी और सहनशीलता से भुगतने में ही आत्मा का कल्याण है। इससे दुःख कम होंगे अन्यथा रोते-रोते, क्रोध वैर आदि से टेढ़े मार्ग पर चढ़ गये तो जो जीव अपने शत्रु बनकर आये हैं उनका ऋणानुबंधन टूटेगा नहीं लेकिन बढ़ेगा और वे अगले भव में भी अपने को मात देंगे।

थोड़ी देर के लिए समझलो कि, इस भव को यदि क्रोध कषाय में पूर्ण किया और फलस्वरुप नरकगति में या तिर्यंच-गति में पशु पक्षी के अवतार में गये तो पापकर्मों की माया इतनी बढ़ जायेगी कि जिससे हजारों-लाखों अवतार बिगाड़ने पड़ेंगे और मनुष्यावतार दुर्लभतम बनेगा।

सब महापुरुषों ने, योगीयों ने तथा शास्त्रों ने मनुष्या-वतार को श्रेष्ठ कहा है, जिसमें सद्बुद्धि और सद्विवेक की प्राप्ति सुलभ होती है। एकांत में बैठकर थोड़ा विचार किया जाये तो मानव हजारों विघ्न, दुःख और वियोग से अपनी स्वस्थता कायम रखते हुये धर्मध्यान के मार्ग पर अपने मन को ले जाने में समर्थ बनते है। इसलिए धर्मध्यान का दूसरा भेद प्रत्येक जीव को सम्यग्ज्ञान देते हुये कहता है कि :—

'ओ। मानव दुःख में धीरज रखना।
वियोगावस्था को परमात्मा का आशीर्वाद मानना।
रोग तथा व्याधि में आत्मा का उत्थान तथा विकास मानना।

दूसरों के किये अपमान में तेरी सहनशक्ति बढ़ती है ऐसा मानना।

पारिवारिक और पारस्परिक अस्वस्थता में सहिष्णु बनने में सम्यग्दर्शन की वृद्धि मानना। उपरोक्त निर्णय लेकर जीवन घड़तर करना उत्तम है, जो विपाक विचय की भावना के आधीन है।

(३) अपाय विचय :—जीवन जीने में जो अपाय यानि विरोध या विघ्न आते हैं, उसमें रागद्वेष मोह, माया, क्लेश, कंकास आदि मूल कारण है, ऐसा सोचकर रागद्वेषात्मक जीवन को बदलने की भावना रखनी चाहिए और प्रत्येक प्रसंग को रागद्वेष में ले जाने की बजाय सरल और पवित्र मार्ग पर ले जाना चाहिए, जिससे मन और बुद्धि का समाधान होगा, जीवन स्वस्थ बनेगा, खराब प्रसंग में ज्यादा हानि नहीं होगी, और तुम्हारे जीवन में सरलता और कोमलता होगी तो संसार की कोई भी विकट समस्या से आप बच जायेंगे। अन्यथा कैसे भी प्रयत्न आपको मदद नहीं करेंगे, इसलिए स्वार्थी नहीं परंतु परमार्थी बनना, क्रोधी नहीं लेकिन आनंदी बनना जिससे आप आर्तध्यान और रौद्रध्यान से बच सकेंगे।

धर्मध्यान का यह तीसरा भेद अपने को सिखाता है कि, मानव चाहे कैसे भी विघ्न आये, तू धर्मबुद्धि से उनका समाधान करना, जिससे तुम्हारे विरोधी और संसार की माया सरल बनेगी। जिनके पास कुछ शक्ति विद्या या सौंदर्य है उसका विरोध करनेवाले बहुत मिल जायेंगे लेकिन रास्ते पर चलनेवाले भीखमंगे, अनाथ या रोगीष्ट का विरोध करनेवाला कोई नहीं होता है। ऐसा सोचकर भी तुम्हारा जीवन

आनंदी सरल और पवित्र होगा तो संसार की विकट समस्याएँ भी सुसाध्य बनेगी। सारांश कि, तुम्हारी पवित्रता और सिद्धांतनिष्ठा बहुत से लोगों को अच्छे मार्ग पर ले आयेगी। अन्यथा विरोध के सामने विरोध करने से तुम्हारा जीवन कलुषित बनेगा, जिससे तुम्हारी बुद्धि, ज्ञान और विज्ञान भी मलिन होगा।

(४) संस्थान विचय :—संसार में असंख्य द्वीप, समुद्र, और पर्वत आदि का विचार करना, जिससे संसार की अनित्यता, अगाधता तथा अपायता का ख्याल आयेगा और जीवन की बेमर्याद, आगमभ्रष्ट विचारणा में सम्यकत्व का प्रवेश होते ही बहुत से प्रश्न समाधित होंगे, जो आर्तध्यान और रौद्रध्यान को मर्यादित किये बिना नहीं रहेंगे।

ज्ञानावरणीय कर्म के कारण ज्ञान मात्रा में विपरीतता मिथ्यात्विता या संशयिता होती है, जिससे प्रत्यक्ष दिखती चीजों का निर्णय भी यथार्थ नहीं हो सकता, तो फिर परोक्ष पदार्थ का निर्णय कैसे हो सकेगा।

इसलिए प्रत्येक प्रसंग को निर्णीत करने के लिए श्रुति (शास्त्र) युक्ति (तर्क) और अनुभूति (अनुभवज्ञान) यह तीन मार्ग है जो इस प्रकार है—

(१) श्रुति यानि आगम शास्त्रों में जो लिखा है उसे उसी तरह मानना यह श्रुति है, अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के पालन की अणिशुद्ध प्ररूपणा करे तथा धर्म, संप्रदाय आदि के नाम से भी पापों की सेवना की आज्ञा नहीं दे उसे जिनागम, जैनशास्त्र कहते हैं। जिसमें नारक भूमि, नारक जीव, देवभूमि, देव, मनुष्यों और तिर्यंचों

से पूर्ण द्वीप-समुद्र, पर्वत, नदी, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति से व्याप्त तिर्च्छालोक का यथार्थ वर्णन है, जिसमें प्ररूपित स्याद्वाद, नयवाद और निक्षेपावाद मानव मात्र को रागद्वेष रहित बनाने में पूर्ण समर्थ है। जिसमें धर्म, समाज, देव-देवी या अपनी जीभ लालसा के कारण मांसाहार, शराब-पान जुगार, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन शिकार तथा चौर्यकर्म के आचरण के लिये किसी को भी अपवाद नहीं हैं। वह जैनागम केवली, तीर्थंकर परमात्मा की प्ररूपित होने से उसमें दी गई हकीकत को सत्य मानना और यदि समझी न जाये तो उसमें अपने मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान की कमजोरी समझनी।

जैनागम से व्यतिरिक्त जिनमें यज्ञकर्म के माध्यम से देव देवियों के समक्ष कल्पित मंत्रोच्चारपूर्वक एक, दो, सौ, हजारों, भेड़, बकरी, भैंस, मुर्गे आदि गूँगे पशुओं की हिंसा होती है, उनका बलिदान दिया जाता है, उनके खून और माँस से देव-देवियों का तर्पण होता है। इस तरह से किये हुए कर्मों को शास्त्र कैसे कह सकते हैं? ऐसे मंत्रों से आत्मा का कल्याण कैसे होगा? इसलिए यह सब शास्त्र मिथ्या है, झूठे मंत्र हैं और देव-देवियों की कल्पना मायामृषावादपूर्ण है। क्योंकि जीवहत्या पाप है। इस बात में यदि कोई पंडित तर्क करना चाहे कि यदि जैनागम ही शास्त्र है तो फिर हमारे शास्त्र को शास्त्र मानने में क्या हर्ज है? जवाब में समझा जाता है कि किसी भी हाल में मानव की मानवता नष्ट हो, दयादेवी की क्रूर मश्करी होती हो, ऐसी क्रूरतापूर्वक की हत्या का प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र मानव कल्याण कैसे करेगा? जिन देव-देवियों के नाम से हत्या होती है, उसका मांस देव तो बिलकुल नहीं खाते, जबकि उनका भक्षण करने-

वाले इन्द्रियासक्त, मैथुनकर्मासक्त और पापासक्त मानव ही उस माँस का भक्षण करते हैं। इसलिए जीवहत्या देव-देवियों की भक्ति नहीं, बल्कि उनकी क्रूर मस्करी है। जिससे आत्मा का मनन हो, आत्मा के लिए शुद्ध आलंबन बने वह मंत्र है। लेकिन आत्मा को जीवहत्या के पाप से भारी बनाकर तथा मन और इन्द्रियों को भोगासक्त बनाकर दुर्गति में डाले ऐसे मंत्र किस काम के ?

प्रत्यक्ष पदार्थ भी ऐसे हैं, जिसमें तर्क लगाने से कोई मकसद काम नहीं आता तो फिर केवलीगम्य परोक्षतत्व की तर्क-अनुमान से सिद्धि कैसे होगी ? इसलिए 'तर्कोऽप्रतिष्ठितः' कहा गया है। क्योंकि जिन तर्कों से वितंडावाद बढ़े तथा सत्य प्रतिष्ठित आत्मा का अनुभव मिथ्यारुप से कराये ऐसे तर्क अप्रतिष्ठित होने से अमान्य है।

जैनागम में वर्णित पर्वत, समुद्र, द्वीप, जो केवलीगम्य है और वहाँ मानव एक भी साधन से जाने के लिए समर्थ नहीं होता है। आज का विज्ञान भी मर्यादित और असमर्थ है जो दक्षिणार्ध भरतक्षेत्र का उलंघन करके उत्तरार्ध भरत में नहीं जा सका है जाने के लिए समर्थ नहीं बन पाया है। तो फिर भरतक्षेत्र से बाहर कैसे जा सकेगा। दो लाख योजन लवण समुद्र में सब वैज्ञानिक सब साथ मिलकर और दुनियाभर की संपत्ति को खर्च के भी जा नहीं सकेंगे ? इसलिए संसार अगाध है। असंख्यात द्वीप और समुद्रों से परिपूर्ण है।

धर्मध्यान का यह चौथा भेद संसार के संस्थान का स्वरुप विचारने के लिए आमंत्रण देते हुए फरमाता है कि, मानव! तू यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर, और संसार के स्वरुप को यथार्थ

रुप से जान जिससे तुझे केवली भगवंत के ज्ञान की ओर पूर्ण विश्वास होगा।

धर्मध्यान के लक्षण कितने है ? कैसे हैं ?

जवाब में भगवंत ने धर्मध्यान के चार लक्षण कहे हैं। किसी भी लक्ष्य की सिद्धि लक्षण द्वारा ही होती है, यहाँ धर्मध्यान लक्ष्य हैं क्योंकि अमुक व्यक्तियों में या अपने में धर्मध्यान हैं या नहीं ? उसे जानने के लिए लक्षणों की प्ररूपणा करनी ही चाहिये। आर्तध्यान और रौद्रध्यान और उनके लक्षण अनादिकाल से जीवमात्र में विद्यमान हैं, जो सबको प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं जब संसार के परिभ्रमण में धर्मध्यान अत्यंत दुर्लभ है इसी कारण से सूत्रकार ने जो लक्षण सूचित किये हैं वे इस प्रकार हैं :—

(१) आज्ञारुची :—जिन भाग्यशालीओं को स्वाभाविक रीत से गुरु के उपदेश द्वारा या स्वाध्याय द्वारा अरिहंत परमात्मा की आज्ञा को मानने में और उसके मुताबिक जीवन बनाने में रुचि-प्रेम आसक्ति और श्रद्धा हो वह धर्मध्यान का प्रथम लक्षण है।

(२) निसर्गरुची :—निसर्ग यानि स्वभाव, अपने आत्मा के स्वभाव से पापकर्मों को मर्यादित करने में श्रावक के बार व्रत अथवा पापमार्गों का संपूर्ण त्याग करने के लिए पांच महाव्रत का स्वीकार करके संसार की मोहमाया से अपने आत्मा को बचाने की भावना हो, अथवा जीव, अजीव, पुण्य, पाप आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष यह नव तत्व हैं, ऐसी श्रद्धा को निसर्गरुची कहते हैं।

शरीररुपी भाड़े के मकान में जीव है जो चैतन्यस्वरुपी,

अजर, अमर, है उसकी कोई जात, पांत नहीं है यानि कि वह ओसवाल नहीं, पोरवाल नहीं वीसा या दशा श्रीमाली नहीं हैं, काला नहीं, गोरा नहीं, ठिगना नहीं, लंबा नहीं, पुरुष नहीं, स्त्री नहीं है, वह तो अनंत शक्ति का मालिक जीवात्मा है।

आत्मा जिसमें वसा है वह शरीर अजीव होने से जड़ है। पुद्गलों का बना होने से पौद्गलिक है। इसलिए ओसवाल, पोरवाल, मारवाड़ी गुजराती आदि विशेषण शरीर के ही हैं।

शरीर माता की कुक्षी में बनता है, इसलिए जन्म लेता है और मरता है, इसलिए शरीर को मरण है, शरीर से जुड़ी पांच इन्द्रियें भी हैं, इसलिए उसमें ह्रास और वृद्धि होती है, उसी प्रकार मन भी जड़ है।

पुण्यतत्व भी जड़ है, आत्मा में जब सद्बुद्धि आती है और सद्विवेक का दीप प्रकाशित होता है तब आत्मा खुद ही पुण्यकर्म करता है और वह कर्म आत्मा के साथ एकरस होकर, उनके उदयकाल में जीव अच्छे से मनभावन शब्द, रूप, गंध तथा स्पर्श को पाता है। इससे घर, पुत्र तथा परिवार अच्छा मिलता है। जिस कार्य को करने से जीव को आनंद मिलता हो, उसे पुण्यकर्म कहते हैं।

पाप तत्त्व भी जड़ है। आत्मा जब दुर्बुद्धि का मालिक बनता है तब विवेकादि का दीप बुझ जाता है और हिंसा-झूठ-चोरी, परस्त्रीगमन-शराबपान, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेष, अभ्याख्यान, पैशून्य, रति अरति, मायामृषावाद और मिथ्यातत्त्व के नशे में बेहोश होकर पापकर्म करता है और उन कर्मों का उदयकाल जब आता है तब

उनका जन्म नीच जाति में, तथा गिरे हुए खानदान में होता है और वे गलीच शब्द, रूप, रस तथा गंध पाकर दुःख-शोक-आक्रंदन-परिताप आदि को भुगतते हैं। जिन कार्यों से मनुष्य को दुःख मिलता हो, रोना पड़ता हो वह पाप कार्य है। मतलब कि आत्मा ही पापकर्म करता है और उसका भोक्ता बनता है।

पुण्य और पाप कर्म से आत्मा जिन कर्मों को बाँधता है, उसे आश्रव कहते हैं। पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, तीन योग द्वारा, जीव आश्रव का मालिक बनता है और अशुभ कर्म से दब जाता है, उस तरह पुण्य कार्य तथा शुभ कर्मों से भी वजनदार बनता है। शुभ कर्म सोने की और अशुभ कर्म लोहे की जंजीर जैसे हैं। उससे घिरे हुए आत्मा कभी देवगति में तो फिर कभी नरकगति में जाते हैं। कभी रुपवान राजा-महाराजा-श्रीमंत-धनवान के रूप में तो फिर कभी गरीब-दीन तथा अनाथ के अवतार से दुःखी बनता है। जीवात्मा जब सद्बुद्धि या दुर्बुद्धि के वश में रहता है तब चारों ओर से कर्म की बाढ़ आती है तब जीव उनमें लिपट जाता है। अशुभकर्म का भोक्ता आत्मा जब सद्बुद्धियुक्त होगा तो अशुभ कर्म में भी वह शुभकर्म का उपार्जन करेगा और शुभ-कर्म करते वक्त यदि आत्मा दुर्बुद्धिवश होगा तो शुभ कर्मों का दीवाला निकालकर फिर से वह पापकर्म की उपार्जना करेगा।

संवर धर्म की प्राप्ति होने पर जीवात्मा के शुभाशुभकर्म रुक जाते हैं। द्वार बंद होने से प्रवेश सुलभ नहीं होता है। संवर यानि ढक्कन, उसकी मौजूदगी में अंदर का पदार्थ बाहर नहीं आ पाता और बाहर का पदार्थ अंदर नहीं जा

सकता। उसी तरह महाव्रत, अणुव्रत-अष्ट प्रवचन माता, बारह भावना आदि से शुभ कर्मों का आगमन होने से नये पापकर्म उभर नहीं पाते।

बंध :—आश्रव सिर्फ शुभाशुभकर्मों का उपार्जन करेगा, परन्तु कर्मों को आत्मा के साथ दूध शक्कर की तरह मिलाने का कम बंधतत्त्व का है। उपार्जन किये हुए कर्म जब उदित होंगे तब किन स्वभाव में होंगे? मर्यादा कितनी होगी? उदयकाल में तीव्रता होगी कि मंदता? कर्म का प्रमाण कितना? एक किलो घास पृथ्वी के ज्यादा प्रदेश रोकेगा उतने ही वजन का सोना थोड़े प्रदेश में समा जायेगा और पारा उससे भी कम प्रदेश में समा जायेगा। वजन सबों का समान होने के बावजूद भी सबों के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं, उसी प्रकार कर्मों के प्रदेश भी जानना।

निर्जरा यानि आत्मप्रदेश के साथ मिश्रित शुभाशुभ कर्मों को जला डाले, दूर करदे उसे निर्जरा कहते हैं।

संवर तत्व केवल उन कर्मों के मार्ग को ही अवरोधता है, जबकि निर्जरा सत्ता में पड़े कर्मों को साफ करने का काम करती है। जलाने का काम अग्नि का है, पानी का नहीं, उसी प्रकार बार प्रकार की तपस्या को अग्नि की उपमा दी जाती है, जो कर्मों को जलाकर राख करती है।

मोक्ष :—निर्जरा तत्त्व से पुण्य और पाप के संपूर्ण कम धुल जाते हैं और उनका एक भी परमाणु आत्मा के साथ नहीं रहता है तब जीवात्मा संसार से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। उपरोक्त नौ तत्वों को श्रद्धा से मानकर तथा पाप, आश्रव, बंध और अजीव का त्याग करके पुन्य, संवर निर्जरा का स्वीकार निसर्ग रुची के आभारी हैं।

(३) सूत्ररुचि :—पर जीवों पर दया करने के लिए, उनको अभयदान देने के लिए, परोपकारादि तत्वों को आत्मसात् करने के लिए और अपने आत्मा का विकास करने के लिए जैन सूत्रों में कौन सी विधि है ? जिन सूत्रों से आत्मा का सत्य, सदाचार, और संयमधर्म कायम रहे ऐसे जैनागम के सूत्रों को जानने की, पढ़ने की तथा जीवन में उतारने की सिफारीश की गई है उसे सूत्ररुची कहते हैं।

(४) अवगाढ़रुची :—द्वादसांगी में सविस्तर अवगाहन (प्रवेश) करके जिन तत्वों को प्राप्त करने की रुची हो या पंचव्रतधारी मुनिओं का सामीप्य, सानिध्य या निश्रा का स्वीकार करके उनके पास से सूत्र, अर्थ और विधि आदि के बारे में जानकारी प्राप्त करने को अवगाढ़रुची कहते हैं।

धर्मध्यान का आलंबन क्या है ?

आलंबन यानि आधार, जिससे प्राप्त हुआ धर्मध्यान आत्मा में स्थिर रहे वह आलंबन है। संसार से प्रत्येक कार्य में साथ की यानि दूसरे के आलंबन की जरुरत को नकारी नहीं जा सकती। फिर गुणस्थानक एक के बाद एक सर करने हों और प्राप्त धर्मध्यान को टिकाये रखना हो तो आलंबन की आवश्यकता नहीं है ऐसा कैसे कहा जा सकता है ?

भगवंत ने चार प्रकार के आलंबन कहे हैं।

(१) वाचना :—आत्मा की प्रबल पुरुषार्थ शक्ति द्वारा क्षयोपशम की प्राप्ति होती है, और ज्यों ज्यों उसकी वृद्धि होती है, त्यों त्यों धर्मध्यान की ओर आत्मा का प्रस्थान आगे बढ़ता है, परन्तु भूलना नहीं चाहिए कि, वह क्षयोपशम आत्मा की मालिकी का नहीं होने के कारण उपशमित बनी कर्मप्रकृतियाँ फिर से अपना चमत्कार दिखा देने के लिए

समर्थ है, अतः साधक महापुरुष को बार-बार आगमशास्त्रों का परिशीलन यानि स्वाध्याय करना चाहिए, उसके अर्थ का मनन करना चाहिए, निदिध्यासन करना चाहिए, क्योंकि साधक को अपनी साधना के लिए स्वाध्याय ही श्रेयस्कर मार्ग है।

(२ परिवर्तना :—कंठस्थ बने आगमादिशास्त्र, प्रकरणादि ग्रंथ, मंगलकारक स्तोत्र और प्रायश्चित के लिए प्राप्त गाथाओं की पुनः आवृत्ति करनी चाहिये जिससे उसकी विस्मृति न होने पाय।

आत्मा की शक्ति द्वारा प्राप्त क्षयोपशम से जो श्रुतज्ञान मिला होता है उसकी प्रमादवश विस्मृति करनी ज्ञानावरणीय कर्मबंधन का बड़ा कारण है। इसलिए प्रमाद का त्याग करके कंठस्थ गाथाओं का पुनरावर्तन करना चाहिए।

(३) प्रतिपृच्छना :—आवृत्ति करते वक्त यदि आगम के अर्थचिंतवन में भूल जैसा मालूम पड़े तो उनके ज्ञाता को बार-बार पूछना चाहिये, जिससे अर्थ की संगति हो सके।

(४) धर्मकथा :—अज्ञान में भटकते, मिथ्यात्व से धीरे, कषाय से पीड़ित, विषयवासना में फँसे, शरीर की माया में सब कुछ भूलनेवाले, अर्थोपार्जन तथा उसके रक्षण में आड़े मार्ग पर चलनेवाले मानवों को जैनत्व का, जीवादि तत्वों का, वैराग्य के माहात्म्य का, तथा संसार की असारता का रहस्य समझानेवाली कथा को धर्मकथा कहते हैं।

धर्म की अनुप्रेक्षा कितनी है ?

आत्मा की अपूर्व शक्ति द्वारा प्राप्त धर्मध्यान का पुनः पर्यालोचन करना यानि कि जीवन की प्रत्येक क्रियाओं में चार प्रकार की भावना रखनी उसे अनुप्रेक्षा कहते हैं। अच्छी तरह

से धोये गये वस्त्र को भी टीनोपाल नीलरंग और इस्त्री की जरूरत पड़ती है, बाजार में से लाई गई भाजी में से भी अभक्ष्य तत्व को दूर करके घी मसाले आदि डालने पड़ते हैं, इसी प्रकार महापुण्योदय से प्राप्त धर्मध्यान को टिकाये रखने के लिये और ज्यादा देदीप्ययान करने के लिए चार भावनाओं को जीवन के अणु अणु में उतारनी अत्युतम है। चार भावना इस प्रकार है :—

(१) एकत्वानुप्रेक्षा :—बार-बार आत्मा का एकत्व यानि कि, 'मैं' अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है "एगोऽहं नत्थि में कोई" इस भावना को गुरुमंत्र की माफिक भजनी चाहिए, जिससे चेतन या अचेत परपदार्थ की ओर रहती माया को छोड़ने के लिए खाते-पीते, उठते-बैठते अपने ऐकत्व की भावना श्रेयस्करी होगी।'

(२) अनित्यानुप्रेक्षा :—काया आदि पदार्थों की माया मुझे अनादिकाल से लगी हुई है, लेकिन यही पदार्थ जब अनित्य, नाशवंत, और एक दिन आँखो से अदृश्य होंगे तो उनकी ओर की माया मेरे लिए किस कामकी? आत्मा अजर अमर है और शरीर रोग आदि का घर है तथा मृत्यु के मुख में प्रविष्ट है। इसलिए भाड़े के मकान जैसा यह शरीर मेरे किस कामका? और उसके लिए लगी दूसरे जीवों की मोहमाया, मोहवासना या शरीरादि को शुशोभित करने के लिए इकटठी की गई माया भी मेरे लिए किस कामकी? ऐसी माया को कौन कायम रखेगा? तैंतीस करोड़ देव-देवीओं का शरीर भी नाशवंत है, तो मेरे शरीर का क्या भरोसा? ऐसा सोचकर प्रत्यक्ष पदार्थों में अनित्य की भावना करनी चाहिए।

(३) अशरणानुप्रेक्षा :—बील्ली के मुंह में प्रविष्ट कबूतर को, बंदर के हाथ में फंसे सर्प को, बाघ के पंजे में फंसे खरगोश को मृत्यु के मुख से कौन बचायेगा ? इस तरह मुझे भी यमराज से बचानेवाला कोई नहीं है। इसलिये मैं अशरण हुँ। ऐसी भावना प्रति समय करने से संसार का मोह घटेगा। यमराज को अतिथि कहने का आशय इतना ही है कि दूसरे मेहमान तो अपने आमंत्रण से आते हैं जबकि यमराज आमंत्रण के बिना ही नक्षत्र, योग, तिथि, करण, अमृतसिद्धि योग, रवि-योग या मृत्यु यमघट योग की परवा किये बिना कभी भी आ सकने को समर्थ है। फिर चाहे आप किसी भी स्त्री के सहवास में हों, नोटों के बंडलों के बीच में बैठे हों, हीरा मोती दोनों ओर पड़े हों, मित्रों के साथ चर्चा कर रहे हों या दूसरों की पंचायत कर रहे हों तो भी यमराज की सवारी को रोकने के लिये कोई भी समर्थ नहीं हैं।

(४) संसारानुप्रेक्षा :—संसार की चारों गतियों में बार-बार परिभ्रमण करने का कारण क्या है ? मनुष्य भव के फेरे बेकार क्यों जाते हैं। ऐसा सोचने से संसार की अगाधता, भयंकरता चारों गति का दुःख आदि का ख्याल आयेगा जिससे संसार की त्याज्यता समझ में आयेगी और आत्मा-मन-बुद्धि जैनत्व की झंखना करेगा।

तीनों ध्यानों में मालिक कौन-कौन ?

ध्यान शब्द की उत्पति 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से हुई है इसलिए विचारधारा-मानसिक विचार संज्ञी जीवों को स्पष्ट और असंज्ञी जीवों को अस्पष्ट होती है। मिथ्यात्व गुण-स्थानक में रहने से अनंतानंत जीवात्माओं को सत्ता में व्याप्त

अनंतानंत कर्मों की वर्गणा में अनंतानुबंधी कषाय तथा मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उपशम या क्षयोपशम किसी काल में होता नहीं है, इस कारण उनका मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों में दुर्ध्यान की मात्रा ज्यादा होने से उनके पास उस दुर्ध्यान को कंट्रोल में लाने की शक्ति नहीं होती है तथा उनको ध्यान की व्युत्पति या ज्ञान सम्यक् न होने के कारण उनका प्राणायामादि ध्यान पापों से मुक्त भी करा नहीं सकता और आनेवाले पापों को रोका भी नहीं जा सकता। इसलिए प्रस्तुत आभ्यंतर तप के प्रकरण में उस ध्यान की चिंता नहीं करते हुए सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद जो ध्यान होता है, उसकी यह बात है।

मिथ्यात्व की सत्ता में पड़े दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मों से सम्यक्त्व सम्पन्न आत्मा में बसे उन कर्मों की वर्गणा थोड़ी होती है। क्योंकि, सम्यक्त्व की प्राप्ति होते ही कर्मों की बड़ी सत्ता समाप्त होती है और कोड़ा कोड़ी सागरोपम जितनी ही शेष रहती है। यद्यपि दर्शनमोहनीय और चारित्र्यमोहनीय का क्षय, उपशम, या क्षयोपशम होने के कारण उसकी ताकत मिथ्यात्वी के पास रहते कर्मों से कम होगी तो भी दबा हुआ काला सर्प डंख दिये बिना नहीं रहेगा। उसी प्रकार उपशमित कर्म भी सम्यक्चारित्र की शुद्ध आराधनारुप नदी के पानी की तरह खराब कर देते हैं। इसलिए सम्यक्चारित्र संपन्न मुनि को भी किसी समय दुर्ध्यानी और किसी समय सद्ध्यानी बनने के लिए अवकाश है।

जिस संयमी के पास स्वाध्यायबल, तपोबल या भावना-

बल मजबूत नहीं होगा। भोगे गये, भोगों की, भोग के लिए उपस्थित भोग्य की, परिग्रह की, माया की, सत्ता और प्रतिष्ठा के मिथ्या ख्यालों की विषय-कषाय और विकथा आदि की माया किसी भी काल में कम नहीं होगी। इसलिए उनका ध्यान स्थिर नहीं रहता है, एकाग्रता नहीं रहती है, माया नहीं मरती है, समता नहीं रखी जाती, विषय-कषाय के प्रति वैराग्य नहीं होता, इन्द्रियादि की गुलामी नहीं मिटती। इसलिए ध्यान के मालिक भी भिन्न-भिन्न हैं।

अतिध्यान के मालिक कौन ?

जवाब में कहा गया है कि, सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद भी जो व्रतरहित होते हैं वे अविरत, व्रत का स्वीकार करनेवाले देश विरतिधर, महाव्रत का स्वीकार करनेवाले प्रमत संयमी अर्थात् चौथे, पाँचवें और छठे गुण स्थानिक के साधक, आर्तध्यान के मालिक बन सकते हैं तथा सम्यक्त्व और व्रत रहित जीवात्मा आर्तध्यानी ही है।

सम्यक्त्व प्राप्त होते ही अनंतानुबंधी कषाय चाहे उपशमित, क्षयोपशमित या क्षपित हो गये हों तो भी उनका छोटा भाई अप्रत्याख्यान कषाय जिसके जीवन में पड़ा रहेगा वह साधक जानकारी होते हुए भी निरर्थक पाप का त्याग करने के लिए समर्थ नहीं होता, इस स्थिति में कषाय के उदयकाल में उस साधक को मनोज्ञपदार्थों की प्राप्ति की इच्छा, अमनोज्ञ पदार्थों के वियोग की इच्छा, असात वेदना के नाश की इच्छा या निदानग्रस्त होने की इच्छा के रुप में आर्तध्यान कायम रहे यह स्वाभाविक है। लेकिन सम्यक्त्व के कारण किसी वक्त उस साधक को श्रद्धा, संवेग, निर्वेद

आदि की वृद्धि होती है तब शेष बचे कोड़ा-कोड़ी सागरोपम के कर्मों में से पल्योपम जितने कर्मों की हानि होने से अप्रत्याख्यान नामक कषाय उपशमित या क्षयोपशमित होता है, तब साधक को निरर्थक पापों की निवृत्ति के रूप में, देश-विरतिधर्म का उदय होता है और श्रावक धर्म के बारह व्रत का वह स्वीकार करता है फिर भी तीसरा प्रत्याख्यान नामक कषाय का उदय तो भाग्य में है ही, इसलिए आर्तध्यान होता ही रहता है। इस स्थिति में भी किसी वक्त डोलता या किसी वक्त स्वाध्याय में आगे बढ़ता साधक गृहस्थाश्रम की संपूर्ण माया को छोड़कर महाव्रत का स्वीकार करता है। लेकिन माया, पिशाचिनी से भी बदतर होने से यद्यपि अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी कषायों को चाहे ताकत रहित कर दिये हों तो भी अब तक जिंदा, संज्वलन कषाय उस साधक के जीवन की पूर्ण कसोटी करता है। इसलिए उनको भी लगी आर्तध्यान की माया को नकारा नहीं जा सकता। यानि कि छठे गुणस्थानक में बीराजमान महापुरुष भी पतली मलमल, बारीक चोलपटा काश्मीरी पश्मीना सोने की फ्रेम के चश्में और हाथ को कष्ट न हो ऐसी घड़ी जैसे द्रव्यों की माया रखते हैं इसलिए वे भी आर्तध्यान के मालिक बनते हैं और उनमें मृत्यु होनी भी स्वाभाविक होती है।

विशेष में इतना जानना कि, यदि वह साधक भाव संयमी होगा तो उसको निदान यानि नियाणा बाँधने का आर्तध्यान नहीं होता है. क्योंकि, निदानग्रस्त के और महाव्रतिता को बारहवाँ या आठवीं चंद्र है, इसी प्रकार महाव्रत और रौद्रध्यान भी परस्पर विरोधी होने से महाव्रती को रौद्रध्यान नहीं होता है।

रौद्रध्यान का मालिक कौन ?

जवाब में भगवंत ने फरमाया कि, प्रथम कहे गये चार प्रकार के रौद्रध्यान विरति रहित सम्यकत्वी को तथा व्रतधारी श्रावक (गृहस्थ साधक) को होता है, क्योंकि राधावेध की समान किसी समय आत्मा में अपूर्वकरण और अनिवृतकरण (शक्ति विशेष) का संचार होता है और सातों कर्म प्रकृतिओं का क्षय होने से क्षायिक सम्यकत्व, उपशम होने पर औपशमिक सम्यकत्व और क्षयोपशम होने पर क्षायोपशमिक सम्यकत्व की प्राप्ति होने के बाद भी वह साधक को आत्म-शक्ति के विकास में या तो गुरुगम बराबर न मिला हो या तो अपनी तैयारी आगे बढ़ने की न हो तब साधक वहीं पड़ा रहता है।

फिर भी वह देव, गुरु, धर्म को मानता है, पूजता है, उनका सत्कार भी करता लेकिन देवगुरु के समान बनने के व्रत स्वीकार करने में उसे जरा भी उत्साह नहीं होता है। इसलिए व्रतरहित जीवन में पापमार्ग बंद नहीं होने से कभी भी हिंसा, झूठ चोरी और बदमाशी के पाप, बेमर्याद विषय-वासना तथा क्रोधादि कषाय की वासना में मस्त बनकर रौद्र-ध्यान का मालिक बनने के लिये उसके पास अवकाश रहता है। इसलिये व्रतरहित मानव पापभीरुता रहित होने से कभी भी रौद्रध्यान का स्पर्श होने में देर नहीं लगती।

सम्यकत्वपूर्वक बार व्रत लेने के बाद भी उसके पालन में जरूरी जागृति नहीं होने से आन्तरिक जीवन में प्रमाद बेदरकारी बढती है। फलस्वरूप खुद द्वारा लिये गये व्रतों की मर्यादा उसके अतिचारों के सेवन में बेध्यान और सेवित

अतिचारों को क्षमा देने की लायकात न रहने पाई हो तो तब वह साधक; अनंतानुबंधी कषाय के उपशम के बाद सम्यक्त्व और अप्रत्याखानी कषाय के उपशम से व्रतधारी बना हो, वह पुनः कषाय की ओर आकर्षित होता है और ऐसी लेश्याओं का निमित्त मिलते ही फिर से कृष्ण-लेश्या, नील-लेश्या तथा कापोतलेश्या का मालिक बनता है। तब उसे रौद्रध्यान का मालिक बनते कौन रोक सकेगा ? इतना समझने का है कि, व्रतरहित मानव का रौद्रध्यान नरकप्रद होगा. जबकि, व्रतवाले मानव का रौद्रध्यान नरकप्रद नहीं बनेगा।

धर्मध्यान का मालिक कौन ?

सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह और बारहवें गुणस्थानक में रहते मुनि विशेष ही धर्मध्यान के अधिकारी बन पाते हैं, क्योंकि, आर्तध्यान, तथा रौद्रध्यान की मर्यादा छठे गुणस्थान में समाप्त होती है। तब सातवें गुण स्थानक में धर्मध्यान की प्राप्ति सुलभ बनती और जहाँ मोह तथा कषाय संपूर्ण उपशांत हो वह ग्यारवें और बारवें गुणस्थानक में भी धर्मध्यान की विद्यमानता है, क्योंकि ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानक में रहते पुण्य पवित्र साधक यद्यपि केवलज्ञान की मर्यादा में आ चुके हैं कि भी वे छद्मस्थ हैं।

विशेष में यह जानना कि, चौथे, पाँचवें, और छठे गुणस्थानक में रहते साधक यदि कषायवृति-प्रवृति और उसके उसके प्रकारों को संयमित करें तो उनको भी धर्मध्यान की प्राप्ति हो सकती है। अर्थात् यह भाग्यशाली भी धर्मध्यानी बन सकते हैं। मोहकर्म का उपशम भी जैन धर्म को मान्य होने से साधक यदि मोक्षाभिलाषिणी पुरुषार्थशक्ति का विकास करे और सम्यग्ज्ञानपूर्वक कषाय के सहवास से दूर रहे तो

धर्मध्यान का मालिक बनने में उसे कोई विघ्न नहीं पड़ता है। इसलिये अरिहंत परमात्माओं का शासन पुरुषार्थ के आधीन है।

शुक्लध्यान की दुर्लभता किस लिए ?

साधक की साधना जब तक पूर्णता प्राप्त करने की भूमिका तक नहीं पहुँचती तब तक शुक्लध्यान की प्राप्ति नहीं होती है। कषाय की ताकत विद्यमान हो या तो साधक खुद कषायाधीन बनता हो तो इस ध्यान की भूमिका किस तरह प्राप्त की जा सकती है ?

दशवें गुणकस्थानक में यदि अणु जितना भी कषाय विद्यमान हो तो भी साधक को खतरा हो सकता है। तो फिर जहाँ कषाय की प्रचुरता हो, उदीर्ण हो, तथा प्रवृत्ति हो वहाँ धर्म ध्यान दुर्लभ होता है, तो शुक्लध्यान की तो बात ही क्या करनी ?

इन सब कारणों को लेकर जो चरमभवी हो और ११, १२, १३ और १४ के अंतिम गुणस्थानक में पहुँच गये हों वे भाग्यशाली ही इस ध्यान को पा सकते हैं। ११ और १२ गुणकस्थान का मालिक यद्यपि वीतराग कहलाता है तो भी वे छद्मस्थ है फिर भी कषाय उनके नीरस और अल्पकालीन समय की मर्यादावाले होने से सर्वथा ताकतरहित होते हैं, इसलिए वे साधक ही इस ध्यान को स्वाधीन करने के लिये संपूर्ण समर्थ हैं।

इस वक्त महाविदेह क्षेत्र को छोड़कर भरत-ऐरावत के एक भी साधक को इस ध्यान की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये मोक्ष के द्वार भी उनके लिये बंद है। क्योंकि केवलज्ञान के बिना

मोक्ष की प्राप्ति सर्वथा अशक्य है और शुक्लध्यान में प्रवेश किये बिना केवलज्ञान की प्राप्ति व्यक्ति विशेष के लिये भी हर हालत में असंभव है। इस ध्यान को पद्मासन, उत्कटासन, वीरासन या शीर्षासनादि तथा हीरा-मोती तथा रुद्राक्ष की माला सर्प-वाघ-सिंहादि से भयंकर जंगल के साथ कोई संबंध नहीं है।

शुक्लध्यान के भेद कितने ?

भगवंत के कहा है कि, हे गौतम ! यह ध्यान चार प्रकार का है।

(१) पृथक्त्ववितर्क विचार (२) ऐकत्व वितर्क, (३) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपात (४) व्युपरत क्रिया निवृत्ति।

शुद्ध और सर्वथा सफेद स्फटिक के पास लाल-गुलाबी या श्याम पदार्थ पड़े हों तो भी उनके सहवास से वह स्फटिक कोई काल में भी लाल, गुलाबी या श्याम नहीं बनते हैं और लाखों देवी के प्रयत्न के बाद भी उसकी स्वच्छता और शुद्धता में फरक नहीं पड़ता है। इस प्रकार श्रेणी सम्पन्न आत्मा या चौद पूर्व का पूर्ण ज्ञाता भी उस प्रकार की भूमिका में पहुँच गये होते हैं, जहाँ संसार के अनंत द्रव्यों की उनके पर्यायों की एक भी माया उन्हें स्पर्शती नहीं है। कषायमोह के एक-एक परमाणु को नष्ट करने की पूर्णशक्ति प्राप्त होने से उन्होंने यथाख्यात नाम के चारित्र द्वारा शम, संवेग निर्वेद आस्तिक्य और अनुकंपा की चरम सीमा प्राप्त की होती है।

पवन के स्पर्श बिनाका दीपक जिस तरह से स्थिर होता है उस प्रकार अपने आत्मा की अनंत शक्ति द्वारा वे भी

आत्मा में पूर्ण स्थिर रहते हैं। काया की स्थूल और सूक्ष्म माया नष्ट हो गई हो, मन वचन की माया का भी नाश हो चुका हो, ऐसे महापूज्य-पवित्र भाग्यशाली जीव ही शुक्लध्यान में प्रवेश कर सकते हैं और जीवन का अंतिम और पवित्र लक्ष्य ही केवलज्ञान है, उसे पा कर मुक्ति के भोक्ता बनने के अधिकारी बनते हैं। उपरोक्त चार भेद में से प्रथम दो भेद केवलज्ञान के लिए और उसके बाद के दो भेद मुक्ति पाने के लिए हैं।

चार भेदों का तात्पर्यार्थ।

(१) पृथक्त्व वितर्क विचार :—मन, काया और वचन के तीन योगों के मालिक जो ग्यारहवें गुणस्थानक में विराजमान हो उन्हें ही यह ध्यान होता है। लेकिन वह गुणस्थानक अचरम शरीरी उपशम श्रेणीवालों के लिए पतन-स्वभावी भी होता है। अतः इस भव में ही मोक्ष पाने की योग्यता रखनेवाले यद्यपि प्रारंभ में उपशम पद्धती से आगे बढ़े और ग्यारहवें गुणस्थानक में जा के गिरे। लेकिन कर्मरूपी हाथी के गंडस्थल को भेदने के लिए पूर्ण समर्थ यह महापुरुष आठवें गुणस्थानक में पहुँचकर फिर से कमर कस के कर्मरूपी हाथी के गंडस्थल को भेदने के लिए क्षपकश्रेणी में आगे बढ़ते हैं और जब तक इन तीनों योगों की विद्यमानता है तब तक वे शुक्लध्यान के प्रथम भेद में रहते हैं, क्योंकि आगे बढ़ सकने की तैयारी करने की क्षमता उन्होंने प्राप्त नहीं की होती है।

यद्यपि कार्मण शरीर के सशक्त विकार लगभग समाप्त हो गये होने से तीन योगों में रही और पोषी गई

पापोत्पादकता सर्वथा नष्ट हो चुकी होती है। लेकिन गुंडा आदमी कभी भी सज्जन या महाजन नहीं बन सकता है, इसलिए वे वितर्क और विचार सहित होने से अर्थ-व्यंजन और योग में पूर्णरूप से निस्पंदन रह नहीं सकते।

(१) अर्थ :—ध्यान के विषयभूत जो ध्येय होता है उसे अर्थ कहते हैं।

और वह द्रव्यात्मक व पर्यायात्मक ही होता है। कर्मों का समूचा नाश करने के लिए तथा केवलज्ञान को प्राप्त करने की चरमसीमा तक पहुँचने के लिए पूर्ण समर्थ होने के बावजूद भी निस्कंपनता के अभाव से एक द्रव्य के ध्यान में और एक पर्याय के चिंतवन में से दूसरे पर्याय के चिंतवन में जाते देर नहीं लगती, उसे अर्थ संक्रांति कहते हैं।

(२) व्यंजन यानि श्रुतज्ञान है, जिससे अर्थ विशेष की अभिव्यक्ति हो, ऐसे एक श्रुतवाक्य में से दूसरे में और दूसरे में से तीसरे में जो पलट जाते हैं उसे व्यंजन संक्राती कहते हैं।

(३) योग यानि मन-वचन और काया के तीन योग में जो पलटते रहते हैं उसे योग की संक्राति कहते हैं।

उपर्युक्त तीनों कारणों से सपृथकत्व वितर्कत्व (श्रुतज्ञान) और विचारत्व (संक्रांति-परिवर्तना) इन तीनों विषय का ध्यान प्रथम ध्यान है, जो चौद पूर्व के ज्ञाता को ही होता है। आचारांगादि के ज्ञाता को नहीं होता है। चौद पूर्व के अभाव में शुक्ल ध्यान नहीं है, और उसके अभाव में केवल-ज्ञान नहीं है। यह शास्त्र प्रमाण सिद्ध वस्तु होने के बावजूद भी मरुदेवी माता या मारुष मातुष (मास्तृद मुनि) आदि

महामानव केवलज्ञान को पा सके हैं । वे शुक्ल ध्यान के आधार पर नहीं बल्कि धर्मध्यान की आराधना के बल पर ऐसा कर सकते हैं क्योंकि वे चौद पूर्वक ज्ञाता थे ही नहीं। (मरुदेवी ज्ञाता गृहस्थ होने के कारण चौद पूर्व के ज्ञान का प्रश्न नहीं रहता है और मास्तुष मुनि को अक्षरज्ञान नहीं था यह भी स्पष्ट है।)

(२) एकत्व वितर्क :—मोहकर्म क्षीण हो जाने के कारण बारहवें गुणस्थानक की क्षपकश्रेणी में बीराजमान मुनि को यह ध्यान होता है और वह भी तीन योगों में से एक योग में होता है। इस ध्यान में निस्पंदनता (स्थिरता) बढ़ गई होने से अर्थ-व्यंजन और योग की संक्रांति का संभव नहीं है, और बारहवें गुणस्थानक के अंत में मोहनीयकर्म का क्षय होने से ज्ञानावरणीय, और अंतरायरुप घातीकर्म भी सर्वथा नष्ट होने पर तेरहवें स्थानक में पदार्पण करनेवाला वह साधक केवल-ज्ञान का मालिक बनता है। जो सब ज्ञानों में सर्वोत्कृष्ट है। कर्मों के नाश के बाद प्राप्त हुआ होने से उसका कोई भी प्रदेश किसी काल में भी प्रतिपाति बनता नहीं है। या किसी विशेष शक्ति से भी उस ज्ञान पर आवरण नहीं आता है।

इस वजह से तीनों लोक के द्रव्य और प्रत्येक द्रव्य के अनंत पर्याय को प्रत्यक्ष करता है और सर्वथा शुद्ध क्षायिक भाव, क्षायिक दर्शन और क्षायिक चारित्र आदि अनंत भाग में प्राप्त होता है। ऐसा ज्ञान संसारवर्ती चक्रवर्ती या वासुदेव या इन्द्र को भी प्राप्त नहीं है। इसलिये द्रव्य और भावदया का सागर जिसके हृदय में उछलता होगा ऐसे भाग्यशालियों ने तीसरे भव में तीर्थंकर गोत्र बांधा होगा तो केवलज्ञान के बाद तीर्थंकर नामकर्म का उदय होते ही वह तीर्थंकर केवली

कहलायेगा। उसके बाद वह सब अतिशयों से युक्त बनता है और देव-देवेन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि नररत्नों को भी पूज्य, उपास्य, ध्येय, आदरणीय, वंदनीय और सदैव संस्मरणीय बनता है और समवसरण में बीराजमान होकर चतुर्विध (तीर्थ) संघ की स्थापना करता है। संसारवर्ती जीवों को सम्यग्ज्ञान का उपदेश देता है, जिससे वे जीव पाप, दुःख, अपराध से मुक्त बनते हैं।

जो सामान्यकेवली है, वह अपने आयुष्य में आठ साल कम यावत् पूर्वकोटि वर्ष पर्यंत केवलीपर्याय में विहरमान होकर भव्य जीवों को प्रतिबोध करता है और तीर्थंकर परमात्मा मध्यम आयुष्यवाले होने से केवलज्ञान में कुछ कम एक लाख पूर्व तक विहार करते हैं। ८४ लाख को ८४ लाख से गुणने के बाद जो संख्या आये उसे १ करोड़ से गुणने से जो संख्या आती है उसे पूर्वकोटि कहते हैं और एक लाख से गुणने से एक लाख पूर्व वर्ष होते हैं। सारांश यह है कि सामान्य केवलीओं की केवलज्ञान की स्थिति लाख पूर्व तक होती है। तभी तो ऋषभदेव परमात्मा ८३ लाख पर्व गृहस्थाश्रम में रहे और आयुष्य का एक लाख पूर्व शेष रहे तभी संयम का स्वीकार किया। इस प्रकार सीमंधरस्वामी के लिये भी जानना।

अतिशयों का वर्णन आगे किया जायेगा।

(३) सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान :—तेरहवाँ गुणठाणा केवली भगवंतों के लिये ही नियत है। जब आयुष्य-कर्म अन्तर्मुहूर्त शेष रहे और केवली समुद्घात से निवृत्त हो चुके हो तब मन, वचन और काया की स्थूलक्रियाओं का अवरोध करने के लिए इस ध्यान की परमावश्यकता है। क्योंकि तीनों योगों का आत्मा के साथ अनादिकाल से संबंध

है, उसे ध्यान विशेष की प्रक्रिया के द्वारा तोड़े बिना मुक्ति सुलभ नहीं है। तथा आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा प्राप्त हुए बिना किसी भी काल में टूटता नहीं है। केवलज्ञान के लिए जिस प्रकार घातीकर्मों का क्षय अनिवार्य है उस प्रकार मुक्ति के महल में जाने के लिए मन, वचन, और काया की सूक्ष्म या स्थूल क्रियाओं का अवरोध तेरहवें गुणस्थानक के अंत में होता है, उसकी प्रक्रिया निम्नलिखित जाननी।

केवली भगवंत सबसे पहले अपने सूक्ष्मकाय योग में स्थिर होकर मन और वचन की स्थूलता का निरोध यानि उसकी बादरता को समाप्त करके सूक्ष्म बनाने की क्रिया करते हैं, अर्थात् मन, वचन, के सूक्ष्म योग में खुद विशेष प्रकार से स्थिर होकर काया के स्थूल योग को नामशेष करके उसे सूक्ष्म करता है और फिर काया की सूक्ष्मता के आधार पर मन, वचन की सूक्ष्मता यानि उनके सूक्ष्म योग को देशवटा देकर मुक्तिद्वार में आने के लिए भाग्यशाली बनते हैं।

नोट :—केवली भगवंत केवली पर्यायों में देशोनपूर्वकोटि-प्रमाण आयुष्य रहते है और आयुष्य का चरम चरण यानि अन्तमुहूर्त प्रमाण आयुष्य शेष रहे तब तीसरे शुक्ल ध्यान का प्रारंभ करते हैं। इसके बीच के काल को 'ध्यानान्तरिकाकाल' कहते हैं, यानि ध्यान रहित काल ध्यानान्तरिका है। यद्यपि उनके योग अत्यंत विशुद्ध-विशुद्धतम ही होता है। फिर भी मुक्ति में जाने का तीसरा ध्यान उनके लिये शेष रहता है।

आयुष्यकर्म की बेड़ी तोड़ने के लिए ध्यान काम में नहीं आता है' इसलिए इतना वक्त योगस्थ रहने की फरज पड़ती है। आयुष्य कर्म के भोगवटे के साथ उत्कृष्टतम पुण्यकर्म के योग से प्राप्त तीर्थंकर नामकर्म को भी निर्जरित करना पड़ता

है। साथ-साथ भाषा वर्गणा का नाश किये बिना या यश-नाम कर्म को भुगते बिना कैसे चलेगा? क्योंकि कर्म सत्ता स्वतंत्र है। इसी कारण तीर्थंकर देवाधिदेव का त्रिकरण योग शुद्ध मार्ग से होकर करोड़ों मानवीओं को मिथ्यात्व से दूर करके सम्यक्तत्व के प्रकाश में लाता है, संसारगर्त में से बाहर लाकर निर्वाणपद के अनंत सुख के साथ मैत्री करता है। जगत पर का यह उपकार कैसे भुलाया जा सकता है? इस प्रकार जगत कल्याण के काम कर लेने के बाद जब आयुष्य-कर्म का अंत नजदीक आता है तब मदोन्मत हाथी के दंतशूल से व्याकुल बना और उत्तेजित बना शेर छलांग मारकर जिस तरह हाथी का गंडस्थल फाड़ देता है उसी प्रकार अनंतकाल से कर्मरुपी हाथी से संसार के चक्कर में पड़ा आदमी जब उसके पंजे से छूटना चाहता है, तब शरीर के स्थूल योग को तथा मन वचन के स्थूल और सूक्ष्म योग को सर्वथा समाप्त कर देता हैं।

(४) व्युपरतक्रिया निवृत्ति :—तेरहवें गुणस्थान के अंत में होनेवाले चौदहवें गुणस्थानक की मर्यादा केवल पांच ह्रस्व अक्षर बोले उतनी ही होती है। उतने ही समय में शेष बचे सूक्ष्म कर्मयोग का भी अंत करने के लिये पूर्ण तैयारी करनेवाले महापुरुष अपने आत्मा की स्थिति को "शैलेश" यानि मेरु-पर्वत जैसी स्थिर और निश्चल बनाते हैं। छोटी मोटी आंधी से क्वचित् छोटे पर्वत को नुकसान होता होगा लेकिन "किं मन्दरादि शिखरं चलितं कदाचित्" मेरुपर्वत को चलायमान होते हुये किसने सुना है? इसी प्रकार आत्मा शैलेशीकरण यानि मैरुपर्वत जैसी स्थिरता का अनुकरण करते हुये पांच ह्रस्वाक्षर बोले जायें इतने समय में ही सूक्ष्मकाय का विच्छेद

करके अयोगी गुणस्थानक प्राप्त करके शिद्धशीला में वास करता है, यानि कि अघाती कर्मों का छेद करके शरीरमुक्त होता है। इस प्रकार आभ्यांतर तप का ध्यानभेद पूर्ण हुआ।

व्युत्सर्ग नामक आभ्यांतर तप यानि क्या ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, व्युत्सर्ग यानि त्याग, अनादिकाल से भोग्य पदार्थ की ओर जो मोह-माया बंधी रहती है उसका त्याग करना, यानि कि उसके भोगवटे की आसक्ति या अत्यासक्ति छोड़ देनी, छोड़ने का प्रयत्न करना, यथासमय एक-एक को छोड़ना उसे व्युत्सर्ग तप कहते हैं। जिसके दो भेद हैं :—

(१) द्रव्य व्युत्सर्ग और (२) भाव व्युत्सर्ग। द्रव्य व्युत्सर्ग के निम्नलिखित चार भेद हैं :—

(१) गणव्युत्सर्ग :—आध्यात्मिकता पाने के लिए परिहार विशुद्धि या जिन कल्प के आचरण के लिए गण-समुदाय का त्याग करना।

(२) शरीरव्युत्सर्ग :—शरीर की आसक्ति का त्याग करना।

(३) उपधिव्युत्सर्ग :—हिंसा, संयम और तपोधर्म की आराधना के लिए वस्त्र, कामली, पात्र तरपणी, रजोहरण आदि साधन की माया छोड़ देनी चाहिए।

(४) भोजन-पानी व्युत्सर्ग :—अन्न-पानी अनिवार्य है फिर भी जीभ के स्वाद का त्याग करना।

भावत्युत्सर्ग कितने प्रकार से है।

भगवंत ने निम्नलिखित तीन प्रकार बताये हैं :—

(१) कषायव्युत्सर्ग :—संसार की वृद्धि करनेवाले इन्द्रिय-रुपी घोड़े को बहकानेवाले क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय को मर्यादित करना।

(२) संसार व्युत्सर्ग :—पानी में से मक्खन निकालने की आशा जैसी संसार की माया का क्रमशः त्याग करना।

(३) कर्म व्युत्सर्ग :—कर्मों के आने के मार्ग बंध करना।

(शतक २५ : उद्देशक ७ समाप्त)



शतक २५ : उद्देशक-८

नारक नरकगति में कैसे उत्पन्न होते हैं ?

हे प्रभो नरकगति में जानेवाला जीव उस गति में कैसे जाता है ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम जब कोई आदमी छलांग लगाने के लिए एक छोर से प्रयत्न विशेष करके छलांग लगाने का उत्साह दिखाता है तब छलांग लगाकर दूसरे छोर पर पहुँच जाता है उस तरह मनुष्य या तिर्यंच गति में से नरक में जाने के लिए आयुष्यकर्मवाला जीवात्मा अपने मानसिक जीवन में "मैं नरक में जाता हूँ, मैं नरक में जाता हूँ" जैसे अध्यवसाय उत्पन्न करके छलांग लगानेवाले की तरह नरक में पहुँच जाता है। जाने की गति इतनी तेज होती है कि, तीन समय में वहाँ पहुँच जाता है।

नरकभूमि में जाने की योग्यता रखनेवाले को अपने वर्तमान अवतार में भी सहचारी, मित्र संबंधी, परिवारजन पड़ोशी, अभ्यास, रहन-सहन, व्यापार-रोजगार पुत्र-पुत्री, मां-बाप, भाई-भाभी आदि भी ऐसे ही मिलेंगे। इसकी वजह से नरक जैसे ही विचार पैदा होंगे। कषायक्लेश में २४ घंटे पूरे होते हैं। आर्तध्यान-रौद्रध्यान भाग्य में शेष रहता है। इत्यादि कारण से जीवात्मा के अध्यवसाय कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोत लेश्यावाले होकर रौद्रध्यान में प्रवेश होने में देर नहीं लगती है और उसमें मरनेवाला आदमी नरक का अतिथि बनता है।

जीवों का गत्यन्तर कैसे होता है ?

हे प्रभो। इस संसार में परिभ्रमण करते जीव को एक भव में से दूसरे भव में किस कारणवश जाना पड़ता है ?

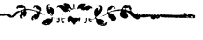
जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम। अनादिकाल से प्रवाहबद्ध चले आते जैन शासन में मुझसे पूर्व बहुत सी चौबीसी हो गई है। ऐसे जैन शासन में रिश्वत, या व्यक्ति विशेष का कुछ भी चलता नहीं है, भवांतर में ईश्वर, अवतारी के शाप या आशीर्वाद की आवश्यकता जरा भी नहीं रहती है। क्योंकि निरंजन, निराकारी शुद्ध स्वरुपी, ईश्वर, परमात्मा को संसार के संचालन में हस्तक्षेप करना या ईश्वर हस्तक्षेप करता हैं ऐसा मानना ईश्वरीय तत्व का घोर अपमान या क्रूर मजाक है। ईश्वरीय तत्व की मजाक होने से संसार में मांसाहार, शराबपान, भांग, गांजा, अफीम आदि पाप रूपी दुर्व्यसन ईश्वर के नाम से या उनके कथित शास्त्र से प्रचलित हुये हैं और बढ़े हैं। विष्णु की रासलीला के अनुकरण के रूप में, धर्म के नाम से रंगराग और महिलाओं के साथ नाचना, कूदना, रास गरबे गाना आदि तथा शंकर के नाम से गांजा-अफीम जैसी नशीली चीजों का व्यसन भी बढ़ा है और मानव समाज के पंडितों ने उनपर धर्म की मुहर लगा दी और उसके साथ शिकारकर्म, जुगारकर्म वेश्यागमन, मांसभोजन जैसे मानवता को बिगाड़नेवाले कर्म बढ़ते गये और मानव समाज ने धर्म के नाम से उनका स्वीकार भी किया। यह सब काम भगवान के कैसे हो सकते हैं ?

ऐसी परिस्थिति में एक भव का त्याग करके दूसरे भव में जाने के लिए जैनशासन का मंतव्य क्या है ? यह जान लेना

श्रेयस्कर है। क्योंकि, तत्वदर्शी, यथार्थवादी और संसार के प्रत्येक भावों को प्रत्यक्ष करनेवाले केवली भगवंत की वाणी ही सत्यदर्शिनी होने से मानव के यथार्थ ज्ञान को बढ़ाती है।

संसार का संचालन ईश्वाराधीन नहीं बल्कि कर्माधीन है। क्योंकि जीव की तरह कर्म में भी अनंत शक्ति है जिसकी संख्या आठ की है। उसमें विद्यमान आयुष्यकर्म को हथकड़ी की उपमा दी गई है। चोर, बदमाश या व्यभिचार करनेवाले आदमी के हाथ में सिपाही बेड़ी डाल देते हैं और उसका एक छोर अपने हाथ में पकड़के रखते हैं और उसे चौकी में ले जाते हैं वहाँ चोकी की बेड़ी हाथ में पड़ने के बाद ही पहले डाली गई बेड़ी निकाली जाती है। उसी प्रकार जीव की इस भव की बेड़ी टूटने से पहले वह दूसरे भव में नहीं जा सकता है। ३३ करोड़ देव भी उसे मदद नहीं कर सकते। इसलिए सातवें माले से गिरनेवाला या समुद्र में गिरनेवाला भी बच जाता है। इसलिए जीव अपनी शक्ति विशेष से ही गत्यन्तर करते हैं, दूसरे की शक्ति से गत्यन्तर नहीं करते हैं। वैमानिक तक के सब जीवों की प्रक्रिया ऐसी ही है। तीन समय और एकेन्द्रिय जीवों की चार समय की विग्रह गति जाननी।

(शतक २५ : उद्देशक ८ समाप्त)



शतक २५ : उद्देशक–९–१०–११–१२

इन चार उद्देशक में भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक, सम्यग्-दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव जब नरकगति में जाते हैं तब ऊपर दिये गये क्रम के अनुसार ही नरक में जाते हैं।

(१) भवसिद्धिक :—मोक्ष में जाने की योग्यतावाले को तथा क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करके तीसरे भव में मोक्ष पाने की लायकातवाले को भी निकाचित किये गये नरक गति के कर्मों की वजह से नरक में जाने के सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है। देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी की आत्मा अपने २७ वें भव के अन्तवर्ती अठारहवें भव में तीन खंड के राजा वासुदेव के अवतार में से सातवीं नरक में गई है। ब्रह्मदत्त और सुभुम चक्रवर्ती भी नरक में गये हैं। रावण जैसा प्रति-वासुदेव भी नरक में गया है और रावण राजा की हड्डीपसली तोड़नेवाला लक्ष्मण भी नरक में गया है। मतलब कि, राज्य खटपट, तीव्र विषयवासना, परिग्रह की अतीव मूर्च्छा आदि के कारण नरक गति का आयुष्य बंध जाने से नरक में ही जाना पड़ता है। क्योंकि कर्मसत्ता बलवान है। आठ कर्म में से सातकर्म प्रतिसमय पर बंधते हैं और आयुष्यकर्म जिंदगी में एकबार बंधता है। जिसको भुगते बिना छुटकारा नहीं है। भव सिद्धिक मोक्ष में ही जानेवाले होते हैं। लेकिन अनुष्ठान के बिना मोक्ष गति प्राप्त नहीं होती है। अतिनिकाचित नियाणे में फंसे जीवों को सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता है, तो चारित्र के अणिशुद्ध अनुष्ठान तो उनके भाग्य में कहाँ ?

(२) अभवसिद्धिक :—संसार में बहुत में पदार्थों का स्वभाव दुरतिक्रम होने की वजह से जिस प्रकार खड़ा मूँग खाने लायक नहीं बनता है, सूर्य की मौजूदगी में भी घुबड़ अंधा ही रहता है, बारीश में भी केरके वृक्ष को पते नहीं आते या बिल्व को चौथा पत्ता नहीं आता, तो उसमें सूर्य या बारीश को कैसे दोष दिया जाता है ? तभी उनके स्वभाव का ही दोष दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार अभवसिद्धिक भी मोक्ष की योग्यता प्राप्त नहीं कर सकते हैं। क्वचित् दीक्षा लेकर देवलोक में जा सकते हैं, लेकिन दीक्षित होने के बाद शिक्षित नहीं होने से चारित्र की आराधना में कोरे ही रहते हैं। इसलिए उनको बार-बार नरक में जाना पड़ता है।

(३) सम्यगदृष्टि :—सम्यक्त्व प्राप्त होने से पहले मोह मिथ्यात्व के कारण नरकायुष्य बंध गया हो अथवा सम्यक् चारित्र की आराधना शक्य न बनी हो अथवा चारित्रधारी बनने के बाद भी चारित्र पालन में शिथिलता रही हो तब नरकायुष्य ही शेष रहता है।

मिथ्यादृष्टि :—जिनके जीवन में सम्यक्त्व, सद्बुद्धि और सद्विवेक का प्रकाश न हुआ होने से हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह में जीवन यापन करनेवाले ये जीवात्मा वैर का बदला लेने के लिये या देने के लिये नरक में जाते हैं।

(शतक २५ : उद्देशक १२ समाप्त)



'समाप्ति वचनम'

अमरपतिमहित, चरमजिनपति-चरणयुगल मधुकर, मदन मदशमन, कुशल-जिनवचन समित कर-चरण-नयन-रसन हृदयधर, अमित मन-वचन बल सहित, व्रत चरण फलित मतियुत, करणविजयसमवहत, अधरहित, शास्त्र विशारद, जैनाचार्य, १००८ श्री विजयधर्म सूरीश्वरजी महाराज बीसवीं सदी के प्रखर चारित्र सम्पन्न, आंतरराष्ट्रीय ख्याती प्राप्त महापुरुष थे। उनके बहुत से शिष्यों में शासन दीपक मुनीराज श्री विद्याविजयजी म० विध्यासंगी, और ब्रह्मव्रतसंगी होने से अहिंसा तथा संयम के नीडर प्रचारक थे। उनके शिष्य न्याय, व्याकरण काव्यतीर्थ पंन्यास पूर्णानन्द विजय ने (कुमार श्रमण) परम पवित्र भगवतीसूत्र सारसंग्रह के चौथे भाग के २५ वाँ शतक अपनी यथामति तथा यथाशयोपशम् से विवेचित किया है।

'शुभ भूयात् सर्वषां जीवानाम्'

'नैर्ग्रन्थ्य सारतत्वं सर्वे जीवाः प्राप्नुयुः'

॥ शतक २५ वां समाप्त ॥

शतक २६ : उद्देशक–१

प्रारभ्यते :

इस शतक के प्रारम्भ में चतुर्दश पूर्व की लब्धि के धारक चारज्ञान से देदीप्यमान, द्वादशांगी के रचयिता तथा देवाधिदेव चरम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी द्वारा स्थापित चतुर्विधसंघ के, पट्टप्रभावक गणधर, श्रीसुधर्मास्वामी खुद ने इस शतक के प्रारंभ में श्री श्रुतदेवता को नमस्कार किया है, क्योंकि भावश्रुत वंदनीय है और उसे पानेवाला द्रव्यश्रुत भी अश्वमेव वन्दनीय, नमस्करणीय और आदरणीय है। इसलिए द्रव्यश्रुत और उसकी अधिष्ठात्री देवी भी सत्करणीय है। इसके कारण अच्छे कार्य में विघ्न नहीं आते हैं।

शतक में ११ उद्देशक है और सामान्य तथा नारक आदि २४ दंडकों को आश्रय करके निम्नलिखित ११ द्वार द्वारों की चर्चा की गई है। ११ द्वार इस प्रकार है :

(१) जीव (२) लेश्या (३) शुक्ल और कृष्णपाक्षिक (४) दृष्टि (५) अज्ञान (६) ज्ञान (७) संज्ञा (८) वेद (९) कषाय (१०) योग (११) उपयोग।

संसारवर्ती अनंतानंतजीव चार प्रकार के होने से गौतम स्वामी उसके बारे में सवाल करते हैं कि, हे प्रभो !

(१) जीवों ने भूतकाल में पापकर्म और ज्ञानावरणादि कर्म बाँधे हैं ? वर्तमानकाल में बाँध रहे हैं ? भविष्य में बांधेंगे ?

(२) कितने जीवों ने क्या भूतकाल में पाप किया है ? वर्तमान में करते हैं ? भविष्य में करेंगे ?

(३) भूतकाल में पाप किया हो, वर्तमान में नहीं करता हो तो क्या भविष्य में करेगा ?

(४) कितने जीवों ने भूतकाल में पाप किया हो, वर्तमान में नहीं किया हो तो क्या भविष्य में भी नहीं करेंगे ?

उपरोक्त प्रश्नों से यह जानना सरल रहता है कि, जीवात्मा ने अनंतबार शरीर धारण किया है और अनंतबार शरीर को छोड़ा भी है। अनंत बार की इस क्रिया में आत्मा एक है इसलिए सबको शंका होती है। भूतकाल में जिस जीवात्मा ने पापकर्म बांधे हैं, वह आत्मा वर्तमान और भविष्य में पापकर्म बांधता भी है और नहीं भी बांधता है।

यह फरक और तफावत क्यों ? सब जीव एक समान है तो फिर पापकर्म बांधने की प्रक्रिया में भेद क्यों ? भेद पाड़ने वाला कौन ?

जवाब मे महावीर स्वामी ने कहा कि, हे गौतम। संसार के कोई भी सवाल या उपस्थित प्रश्न को केवल संग्रहनय से ही निर्णय किया जाये तो मानव अपने ज्ञान का विकास कभी भी नहीं कर सकता है और उसके बिना संसार को देखने की या देखे गये संसार का यथार्थ निर्णय करने की रागद्वेष रहित या क्लेशरहित कला हस्तगत नहीं होती है, इसलिए संग्रहनय की बात चाहे कितनी भी सच्ची क्यों न हो फिर भी व्यवहार, नैगम या ऐवंभूत में यह बात सच्ची नहीं रहती है, क्योंकि किसी भी बात पर दूसरे नयों को अंगूठा दिखाकर केवल संग्रहनय की छाप दूसरों को क्यों मान्य रहेगी ? इसलिए केवल द्रव्यनय की अपेक्षा रखकर बोलने वाला

संग्रहनय उसमें रहे पर्यायों की ओर बेध्यान रहेंगा तो संग्रहनय खुद ही अप्रमाणिक या नया भासरुप सिद्ध होगा।

पठित और अपठित सबके लिए प्रत्यक्ष इस संसार में, जीव, शरीर, उनके कर्म तथा स्वभाव भी एक दूसरे से अल्पांश से या सर्वांश से भिन्न-भिन्न स्पष्ट दिखते हैं। इन सब जुदाई के कार्यों में ईश्वर की लीला की कल्पना करनी यह तो ईश्वर के ईश्वरत्व को भरे बाजार में नीलाम करने जैसा होगा, जो किसे भी मान्य नहीं है। इसलिए जुदाई का कारण जाँचना यही पढ़ाई-लीखाई का फल है। क्योंकि सच्ची पढ़ाई संसार को संवाद की बत्तीस और मिथ्या पढ़ाई विवाद की बत्तीस देती है। हम सब अनादि काल से बात-बात में विवाद के कीड़ बनकर कल्पना न की जाये ऐसे झगड़े मोल लेते हैं और उससे संसार को विषमय बनाने में कारण भूत होते हैं। इस भव में ऐसा न हो इसलिए सम्यग्ज्ञान को पाना और बढ़ाना ही श्रेयस्कर है।

पानी की भरी बाल्टी में राखोडी डालेंगे और एक घंटे के बाद उसमें से पानी के चार घड़े भरेंगे तो एक में ज्यादा स्वच्छ, दूसरे में थोड़ा और तीसरे में कम थोड़ा और चौथे में राखोडी वाला पानी होगा। इस प्रकार पापकर्म भी राखोडी जैसे हैं और आत्मा पानी जैसा है अनादिकाल से दोनों साथ हैं और संसार की नाटकशाला में भिन्न-भिन्न नाटक करते हुये भवभ्रमण कर रहे हैं। इसलिए कर्ममल के तारतम्य के कारण जीव भी चार भाग में बंट गये हैं। प्रश्नों के जवाब में भगवंत ने कहा कि—

(१) उपरोक्त चार भांगा में से प्रथम भांगा में अभव्य

जीवों का समावेश होता है। क्योंकि उनके आत्मप्रदेश में बसनेवाले मिथ्यात्व मोहनीय और अनंतानुबंधी कषाय किसी भी काल में नाशवंत नहीं होते हैं। दब नहीं जाते हैं और कम भी नहीं होते हैं। इसलिए उन्होंने भूतकाल में कर्म बांधे हैं, वर्तमान में बाँधते हैं और भविष्य में बाँधेंगे।

(२) दूसरे भांगे में क्षपक अवस्था को प्राप्त करनेवाले जीव हैं, जिन्होंने सम्यक्त्वपूर्वक, सद्गुरु और सत्शास्त्र के माध्यम से अपनी अदम्य पुरुषार्थ शक्ति के जरीये भूत, वर्तमान में पाप बाँधे होने के बावजूद भी भविष्य में वे पाप-कर्मों को अवरोधने के लिए समर्थ रहते हैं। आत्मा में जब क्षपक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है तब अनंतानंत पापकर्म का उत्पादक और वर्धक मिथ्यात्व मोहनीय और अनंतानुबंधी आदि कषाय का समुचा नाश होने से भविष्य में पापबंधन से दूर रहने की योग्यता प्राप्त होती है।

(३) उपशमक जीवों का तीसरा भांगा समझना। क्योंकि, सद्विचारण और सम्यग्ज्ञान पूर्वक की शक्ति उनको प्राप्त होने से उतने समय तक उनके पापकर्म रुक जाते हैं। भविष्य में यद्यपि पापकर्म को रोकने की शक्ति उनके पास नहीं होती है फिर भी वर्तमान में यह शक्ति प्राप्त होने से पाप का अवरोध किया जा सकता है। मानव यदि थोड़ा जागृत बने तो जिस मार्ग से पाप आते हों उसे बंध कर सकता है और जीवन में उसे परेशानी नहीं होती है।

जैन धर्म के संवर और सामायिक धर्म की आचरणा इसलिए ही को गई है। जिससे घड़ी दोघड़ी भी मानव अपने मन चक्षु जीभ और कान को संयमित करे तो उतने समय के लिए वह पापकर्म करने से बच पाता है।

(८) चतुर्थ भांगे में क्षीण मोहकर्मी आत्मा है? जिन्होंने शक्ति संपन्न मोहकर्म को अपनी अनंत शक्ति द्वारा नष्ट किया है और इसलिए भूतकाल में पापकर्म किये हों तो भी वर्तमान-काल में पापमार्ग सर्वथा बन्द होते हैं।

(२) लेश्याद्वार :—लेश्यावाले जीवों को चार भाग जानना। कृष्ण, नील, कापोत, तेज और पद्म इन पाँच लेश्याओं के मालिकों के प्रथम के दो भांगे कहे गये हैं। क्योंकि वे उपशम या क्षयभाव पाने के लिए समर्थ नहीं है। जबकि शुक्ललेश्यागत जीव का चार भांगा शक्य है। क्योंकि उनको उपशम या क्षयभाव की प्राप्ति सुलभ है। लेश्यारहित मानव वर्तमान काल में पापकर्म नहीं बांधता है और भविष्य में में भी नहीं बांधेगा।

(३) पाक्षिक द्वार :—३० दिन के महीने में कृष्ण और शुक्ल नामक दो पाक्षिक होते हैं। चंद्रमा की कला घटती जाती है और रात्रि अंधकारमय बन जाये तो वह कृष्ण पक्ष है और चन्द्रमा की कला खिलती जाये और प्रकाश बढ़ता वह शुक्ल पक्ष है। इसी प्रकार जीवात्माओं में बहुत से कृष्णपक्षी या शुक्लपक्षी होते हैं। सम्यगदर्शन की प्राप्ति के पूर्व यानि कि संसार परिमित न होने से जो अभी अर्धपुदगल-परावर्त (चरमावर्त) में प्रवेश नहीं पा सके हैं वे जीव कृष्ण-पाक्षिक कहलाते हैं और सम्यक्त्व के प्रकाश में आनेवाले जीवों का संसार केवल अर्धपुदगलपरावर्त जितना ही शेष रहने से उनके बहुत से पाप, पाप प्रकार, उनकी वृत्तियाँ तथा तथा प्रवृत्तियाँ मर्यादा में आ जाने से भाव लब्धि और काल लब्धि का समय परिपाक होने से उस भाग्यशाली को उपशम या क्षयक श्रेणी की सहायता मिलने से मुक्तिनगर में जाने की

लायकात प्राप्त होती है ? उसे शुक्लपाक्षिक कहते हैं। कृष्ण-पाक्षिक जीवों को प्रथम के दो भांगा और शुक्लपाक्षिक को चार भांगा होता है।

(४) दृष्टि द्वार :—मिथ्या और मिश्रदृष्टि को प्रथम के दो भांगा जानना और सम्यग्दृष्टि को चार भांगा जानना। क्योंकि मिथ्यात्व का अंधकार इतना गहरा होता है कि उसमें खो जाने वाला जीव मोहकर्म का उदय उपशय या क्षय करने के लिये समर्थ नहीं होता है। इसलिए उनको पिछले दो भांगा नहीं है।

(५) ज्ञान-अज्ञान द्वार :—प्रथम क्षायोपशमिक ज्ञानी को चार भांगा होता है। अज्ञानी को प्रथम के दो भांगा और केवलज्ञानी को अंतिम एक भांगा जानना। अज्ञानी का अज्ञान ही मोह का उपशम या क्षय होने नहीं देता है। इसलिए उनको प्रथम के दो भांगा है।

(६) संज्ञा द्वार :—यहाँ आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा का संग्रह होने से जो जीवात्मा इन चार संज्ञा में अत्यंत आसक्त होते हैं उनके भाग्य में मोह का उपशम या क्षय न होने से आदि के दो भांगा जानना।

(७) वेद द्वार :—वेद का उदयकाल जितना समय रहे उतने काल तक उस जीव का मोहकर्म जलता होने से मोहकर्म का उषशम या क्षय संभवित नहीं बनता है। इसलिए उनके लिए प्रथम के दो भांगा जानना। दशवें गुणस्थानक में वेद शांत होने से चार भांगा होते हैं। क्वचित दसमें से पतित हो जाये तो पापबंधन करने वाला होता है। वेद तीन

है। पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद। जो दूसरे भाग में चर्चित हो गया है।

(८) कषायद्वार :—कषायात्मा को तथा लोभ कषायी को चार भांगा में जानना। क्रोध, मान और माया के मालिकों को अबन्धकत्व अवस्था न होने के कारण पापकर्मों का बंधन चालू है।

(९-१०) योग-उपयोगद्वार :—मन, वचन और काया के योगी को तथा साकार या निराकार उपयोगी को चार भांगा होता है। जबकि योगरहित अयोगी को अंतिम भांगा जानना। सयोगी यानि योगवाला अभव्य, भव्य विशेष उपशम या क्षयक होने से चार भांगा अनिवार्य है।

नारकों को उपशम या क्षयक श्रेणी न होने से उनके दो भांगा जानना, तथा कृष्ण, नील, कापोत लेश्या या शुक्ल-पाक्षिक, तीन दृष्टि, तीन ज्ञान, अज्ञानी, चार संज्ञा, नपुंसक वेद, कषाय, सयोगी आदि में रहते नारक प्रथम और दूसरे भांगा में समाविष्ट है। असुरकुमार, तेजोलेश्या, पुरुष स्त्रीवेदवालों को दो भांगा, पृथ्वी-कायिक यावत् पंचेन्द्रिय तीर्यंच योनि को दो भांगा होता है। ज्ञानावरणीय के लिए यह जानना कि कषाय के उदयकाल में जीव अबन्धक न होने से उनके दो भांगा हैं।

वेदनीय कर्म के लिए यह जानना कि, अभव्य के लिए प्रथम भांगा यानि कि उन्होंने पहले वेदनीय बांधा था, अब बांधते हैं और भविष्य में भी बांधेंगे। भव्य का निर्माण होगा, इसलिए दूसरा भांगा तेरहवें गुणस्थानक में संभव नहीं है। जबकि अयोगी केवली को चौथा भांगा जानना। लेश्या की

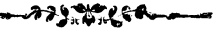
विद्यमानता में तीसरा भांगा नहीं है। लेश्यारहित अयोगी को चौथा भांगा तेरहवें शुक्ललेश्या होने से सातावेदनीय का बंध है :—

"शाता बांधे केवली रे मिता, तेरहवें भी गुणठाणे"

आदि के पांच लेश्यावालों को अयोगी अवस्था प्राप्त नहीं होती है। इसलिए वेदनीय कर्म का अबंधक न होने से उनके आदि के दो भांगा जानना। लेश्या रहित जीव शैलेशी गत या सिद्ध हो तो चौथा भांगा जानना। इस प्रकार आहारादि संज्ञा में आसक्ति बिना का संज्ञी, वेद सहित, अकषायी तथा दोनों उपयोगवालों को तीसरा भांगा छोड़कर शेष दो तीन जानना।

अयोगी को अंतिम और दूसरे जीवों को प्रथम तथा दूसरा भांगा जानना।

(शतक २५ : उद्देशक-२ समाप्त)



अनंतरोपपन्नक जीवों के लिए :

हे गौतम। अनंतरोपपन्नक नारक, नरकभूमि में तत्काल ही उत्पन्न हुआ हो उसे अनंतरोपपन्नक कहते हैं। उनके लिए प्रथम के दो भांगा जानना। यह नारक अपर्याप्त होने से मिश्रदृष्टि, मनोयोग और वचनयोगवाले नहीं होते हैं। असुरकुमार से लेकर स्तनित देवों की भी अपर्याप्त अवस्था में जो प्रथम समय में ही होते हैं, उनके लिए भी दो भांगा कहा है। विकलेन्द्रियों को वचनयोग का अभाव है। पंचेन्द्रिय, तिर्यंच, अपर्याप्त अवस्था में मिश्रदृष्टि, अवधिज्ञान, विभंग-ज्ञान, मनोयोग और वचनयोग यह पांच पद नहीं होते हैं और अनंतरोपपन्नक मनुष्यों को लेश्या, मिश्रदृष्टि, मनः पर्यवज्ञान, केवलज्ञान, विभंगज्ञान, नोसंज्ञोपयोग, अवेदक, अकषायी, मनोयोग, वचनयोग और अयोगित्व पद नहीं होते हैं। नारक की तरह वाणव्यंतर ज्योतिष और वैमानिक देवों को मिश्रदृष्टि, मनोयोग तथा वचनयोग नहीं होता है। एकेन्द्रिय जीवों को सब पदों में दो भांगा जानना।

परंपरोपपन्नक जीवों के लिए :

हे गौतम ! नरकगति में उत्पन्न दो समय या उससे ज्यादा समयवाले को परंपरोपपन्नक नारक जानना तथा वे दो भांगा में होते हैं। क्योंकि अमुक नारकों ने भूतकाल में पापकर्म तथा ज्ञानावरणीयादि कर्म बांधे थे, वर्तमान में बांधते हैं और भविष्यकाल में भी बांधेंगे, जबकि अमुक भविष्यकाल में नहीं बांधते हैं। शेष प्रथम उद्देशक की तरह जानना।

अनंतरावगाढ और परंपरावगाढ जीवों के लिए :

हे गौतम ! एक भी समय का अंतर किये बिना ही

उत्पतिस्थान में पहुँचकर नरक भूमि में अवस्थित अर्थात् स्थिर रहे उसे अनंतरावगाढ जानना और दो से ज्यादा समय हो गये हों उनको परंपरावगाढ जानना।

सूत्रक्रमानुसार से यह दोनों नारक अगले दो भांगा में कहे हैं।

चरम और अचरम जीवों के लिए :

हे गौतम ! चरम यानि अंतिम। जिन भाग्यशालियों को इस नरक गति में से निकलकर फिर से नरक भूमि में जाने का नहीं हैं वे चरम नारक हैं। उनसे विपरीत जो है यानि कि मोक्ष में जाने से पहले एक बार नरक भूमि में फिर से जाते हैं वे अचरम नारक हैं। जैसे कि, महावीर स्वामी का आत्मा अठारहवें भव में वासुदेव का अवतार पूर्ण करके सातवीं नरक में गया इसलिए वह अचरम हुआ क्योंकि; निकाचित कर्मों के दुर्भाग्य से इक्कीस भव में चौथी नरक में जाना था और चौथी नरक का सफर करके आनेवाले महावीर स्वामी के लिए वह नरक चरम थी, क्योंकि, अकुशलानुबंधी पापकर्म बांधने की योग्यता सर्वथा नष्ट हो गई होने से फिर से नरक में जाने का सवाल नहीं था। इस प्रकार दोनों नारक के लिए दो भांगा ही हैं।

जबकि अचरम मनुष्य को आदि का तीन भांगा जानना। क्योंकि वर्तमान में पाप का बंधन न हो ऐसा चौथा भांगा संभव नहीं है। इसलिए तीन भांगा है। सलेश्य अचरम मनुष्य तथा शुक्ल पाक्षिक, सम्यगदृष्टि, ज्ञानी, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, नोसंज्ञोपयुक्त. वेद, कषाय, लोभकषाय, तथा सयोगी-उपयोगी के लिए भी पूर्व के लिए तीन भांगा ही

जानना। जबकि केवलज्ञानी और अयोगी अचरम नहीं होते हैं। ज्ञानावरणीयादि कर्मों के लिये भी प्रथम दो भांगा जानना।

अनंतआरारक और परंपरआराहक जीवों के लिए :

हे गौतम ! जो नारक नरकभूमि में उत्पति के समय पर ही आहार करते हैं वे नारक अनंतआहारक और उसके बाद के समय में जो आहार करते हैं वे परंपराहारक कहलाते हैं। उपर्युक्त मुताबिक इन दोनों को प्रथम के दो भांगा जानना।

अनंतरपर्याप्तिक और परंपरपर्याप्तिक जीवों के लिए :

हे गौतम ! पर्याप्त अवस्था प्राप्त होने से पहले के समय में जो नारक हो उसे अनंतरपर्याप्त कहते हैं और उसके अलावा जो नारक होते हैं उसे परंपरापर्याप्तिक कहते हैं। उन दोनों को प्रथम के दो भांगा जानना।

पृथ्वी, अप और वनस्पतिकायिकों को केवल तीसरा भांगा वही समय पर जानना। जबकि देव का जीव इन तीनों में अवतार लेता है और अपर्याप्त होता है क्योंकि उस वक्त उनको तेजोलेश्या का सद्भाव होता है।

(शतक २६ : उद्देशक-१ समाप्त)

शतक २७वां

गौतमस्वामी के पूछने पर भगवंत ने कहा कि, हे गौतम ! अगले शतक में जो कहा वह इस शतक के लिए भी जानना। यानि कि जीवों के चार भांगा होता है। सारांश यह है कि अगले शतक में पाप बांधने का और इस शतक में पाप करने का कहा है। जीव जिन कर्मों का बंधन करता है वह स्वयंकृत यानि कि जीवकृत ही है। ईश्वर, काल, प्रकृति और स्वभावकृत नहीं हैं।

(शतक २७वाँ समाप्त)

'समाप्ति वचनम'

अपनी अद्वितीय प्रतिभा द्वारा पौर्वात्य और पाश्चिमात्य महापंडितों को स्याद्वाद, नयवाद, प्रमाणवाद, निक्षेपावाद का अभ्यास करानेवाले, शास्त्र विशारद, जैनाचार्य १००८ श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज जैन शासन को शुक्र के तारे की तरह देदीप्यमान करने के लिए यशस्वी बने थे। उनके शिष्य शासनदीपक, मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज के शिष्य पठन-पाठनशील न्या० व्याकरण-काव्यतीर्थ, पंन्यास श्री पूर्णानंदविजयजी ने (कुमारश्रमण) अपने मतिज्ञान विकास के लिए भवभवांतर में जैन शासन के संस्कार पुनः प्राप्त हो इसलिए भगवतीसूत्र जैसे आगमीय ग्रंथ को अपनी यथामति से गुजराती भाषा में विवेचित किया है। ("शुभं भूयात् सर्वेषां जीवानाम्"

शतक २८ : उद्देशक–१–११

जीवों ने कौन-सी गति में पापकर्म का उपार्जन किया था ?

ज्ञातव्य द्रव्य, तत्व, जीवों के कर्म तथा उन कर्मों के भोगवटे के स्थान अनेकानेक हैं। जीवन में यदि जिज्ञासा हो तो ही पदार्थों का यथार्थत्व जाना जा सकता है। क्योंकि ज्ञान अनंत है तो उनके विषयभूत द्रव्य भी अनंत है। इसलिए सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए, प्राप्त ज्ञान को बढ़ाने के लिए बढ़े ज्ञान को टिकाने के लिए और उसे स्थिर करने के लिए यानि कि धारणा में प्रवेश कराने के लिए मौलिक कारण जिज्ञासा है। जिन भाग्यशालीओं को जिज्ञासा ही नहीं है उनका श्रुतज्ञान कैसे बढ़ेगा और मतिज्ञान का विकास भी कैसे होगा ? इसलिए ही जिज्ञासा को ज्यादा महत्व दिया गया है।

गौतमस्वामी चार ज्ञान के मालिक हैं, कृतकृत्य हैं, लोक के अन्त में स्थित हैं, फिर भी उनका रोम-रोम, रक्त की बूंद-बूंद भाव दया से भरी होने से समवसरण में सबको समझ में आये ऐसी भाषा में पूछते हैं कि, हे देवाधिदेव। चार गतिरुप संसार की कौनसी गति में जीवों ने पापकर्म उपार्जित किये होंगे ? और उन कर्मों की हेतुभूत पापक्रियाओं का आचरण किया होगा ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम ! जीवों ने निम्नलिखित आठ स्थानों में पापकर्म बांधे हैं जो इस प्रकार हैं :—

(१) सब जीव तिर्यंच योनि में थे तब पापकर्म बांधे हैं।
(२) तिर्यंच गति में या देवगति में बांधे थे।
(३) तिर्यंच और नरकगति में बांधे थे।
(४) तिर्यंच और मनुष्यगति में पापकर्म बांधे थे।
(५) तिर्यंचगति, नरकगति या मनुष्यगति में बांधे थे।
(६) तिर्यंचगति, नरकगति या देवगति में बांधे थे।
(७) तिर्यंचगति, मनुष्यगति या देवगति में बांधे थे।
(८) या तो चारों गतियों में पापकर्म बांधे थे।

सब जीवों को पापकर्म का उपार्जन करने के लिए उपर्युक्त आठ स्थान कहे हैं। तिर्यंच से केवल दो या चार पैरवाले पशुपक्षी ही नहीं लेने के हैं, लेकिन अनंत संसार में बसते सब पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक वनस्पतिकायिक, सूक्ष्म निगोद, बादर निगोद, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चतुरीन्द्रीय, जमीन पर चलने वाले गाय, भैंस आदि, आकाश में उड़नेवाले कबूतर, चकला आदि, छाती से चलनेवाले साँप आदि हाथ से चलने वाले नोलिया आदि तिर्यंच गतिवाले होने से तिर्यंच कहलाते हैं। यह गति जीव-मात्र की माता समान इसलिए है कि, सब का मूल स्थान है। तिर्यंच योनि है, क्योंकि अनंत सुख के भोक्ता सिद्धशीला के जीव भी सबसे पहले तिर्यंच थे। वे सूक्ष्मनिगोद में अनंतकाल चक्र पूर्ण करके बादर निगोद में आने के बाद अनुक्रम से किसी काल में आगे बढ़ने से और कभी पीछे हटने से और पुरुषार्थ से फिर आगे बढ़कर उन्होंने संसार का अंत किया है।

दूसरी सब गतिओं के जीवात्माओं से तिर्यंच गति के जीव अनंतानंत हैं। उन्हें ऊपर-नीचे जाने के दो मार्ग है।

उत्क्रांति और अपक्रांति आम, रायण, बेर, जामफल, दाडम नारंगी या भाजीपाले के जीव कुल्हाड़ी, छुरी, पत्थर आदि का मार खायेंगे काटे जायेंगे, छेदे जायेंगे, बाफे जायेंगे तो भी प्रतिकार किये बिना सब सहन करेंगे। उसमें यदि भवितव्यता का योग मिला तो उत्क्राँति करके मरुदेवी माता की तरह मनुष्यभव पाकर मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं और मनुष्यअवतार पाने के बाद राग-द्वेष, मोह-माया, लोभ-प्रपंच या परिग्रहादि की माया यदि लगेगी तो अपक्राँति करके फिर से निचले स्थानों में यावत् ऐकेन्द्रियअवतार को भी पा सकेंगे।

लेश्यावाले, लेश्यारहित यावत् अनाकार उपयोगवता जीवों ने उपर्युक्त आठ स्थानों में पापकर्म बाँधा था, ज्ञानावरणीयादि कर्मों के उपार्जन के लिए भी यही स्थान है।

२४ दंडकों के जीवों के लिए भी यही जानना। अनंतरोपपन्नक, परंपरोपपन्नक, अनंतरावगाढ, परंपरावगाढ, अनंतराहारक परंपराहारक और चरम या अचरम आदि जीव भी ऊपर के मुताबिक जानना। तथा जिस जीव की जितनी योग्यता हो उतना ही जानना। जैसे कि अनंतरोपपन्नक नारक को मिश्रदृष्टि, मनोयोग और वचनयोग नहीं हैं। इस प्रकार अन्यत्र भी जानना।

आठ भांगा की समझ :—सब जीव पहले तिर्यंच योनि में थे तब वहाँ पापकर्मों की उपार्जना की थी। क्योंकि इस योनि को छोड़े बिना नारकादि की प्राप्ति नहीं होती है।

सब जीव जब तिर्यंच या नरक में थे तभी वहाँ पापकर्मों की उपार्जना की थी और मनुष्य या देवयोनि में उनके विपाक भुगत रहे हैं।

सब जीव तिर्यंच या मनुष्य योनि में थे तभी पापकर्म की उपार्जना की थी।

सब जीव तिर्यंच या देव योनि में थे तभी पापकर्म किये थे और विवक्षित योनि में कर्म भुगत रहे हैं।

सब जीव तिर्यंच, नरक या देव में थे तभी . . . .
सब चारों गति में थे तभी . . .

'समाप्ति वचनम्'

शास्त्र विशारद, जैनाचार्य १००८ श्रीमद् विजय धर्म सूरीश्वरजी महाराज के शिष्यरत्न, शासनदीपक, मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज के शिष्य, न्याय-व्याकरण-काव्यतीर्थ, पंन्यासपद विभूषित, श्री पूर्णानंद विजयजी (कुमार श्रमण) ने अपने मतिज्ञान के विकास के लिए तथा भवांतर में भी श्रुतज्ञान की सुलभता रहने पाये इसलिए द्वादशांगी में सर्वश्रेष्ठ भगवतीसूत्र सारसंग्रह के २८ शतक का विवेचन किया है।

"शुभं भूयात् सर्वेषां जीवानाम्"



शतक २९ : उद्देशक–१

प्रश्नोत्तर की पूर्वभूमिका :

(१) संसार अनादि है, क्योंकि किसी भी काल में जिसकी उत्पति नहीं होती है, वह अनादि है और जिसकी उत्पत्ति है वह आदि है। "संसार था ही नहीं और बाद में किसी ने बनाया था" ऐसी मान्यता शास्त्र, तर्क और अनुभव से मानने लायक न होने से असत्य बनती है, इसलिए संसार अनादि है।

(२) संसार अनंत है, क्योंकि उसका अंत शक्ति विशेष से भी नहीं होता है। किसी के स्थानानंतर मात्र से उसका नाश हो जाने की कल्पना करनी सर्वथा अज्ञान को आभारी है। आज भी हम देखते हैं कि कभी किस जगह पर समुद्र लहराता था लेकिन आज वहाँ बड़े मकान खड़े हैं और हजारों मोटरें दौड़ती है, इसका मतलब यह नहीं है कि समुद्र के नाश की कल्पना की जाय। कालचक्र के प्रभाव से आज भरत और ऐरावत क्षेत्र में तीर्थंकर परमात्मा या केवली भगवंत नहीं है, इसलिए संसार में उनका अस्तित्व ही नहीं है, ऐसा सोचने से कैसी दशा होगी? क्योंकि महाविदेह क्षेत्र में आज भी हजारों, लाखों और करोड़ों की संख्या में केवलज्ञानी हैं और बीस की संख्या में तीर्थंकर परमात्मा भी विद्यमान हैं, इसलिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावना के कारण द्रव्य तथा पर्यायों का स्थानानंतर होने मात्र से शंकर के डमरु-वादन से संसार का नाश हुआ यह मानना गलत है। ३३ करोड़ देवता भी साथ मिलकर संसार का नाश नहीं कर सकते इसलिए संसार अनंत है।

(३) चौदह राजलोक प्रमाण ब्रह्मांड में द्रव्य (पदार्थ) एक, दो या तीन नहीं बल्कि अनंत है और प्रत्येक द्रव्य के पर्याय भी अनंत हैं। जिसकी चर्चा प्रथम और दूसरे भाग में की गई है। इस प्रकार अनंतानंत पर्याय और गुणों से पूर्ण अनंत द्रव्यों का संसार में कभी भी नाश नहीं होगा और उनसे संसार खाली भी नहीं होगा। उनका पर्यायान्तर और स्थानांतर तो जैन शासन को भी मान्य है। आज का मनुष्य कल हाथी, मेंढक, कौआ या नरक भूमि का कीड़ा भी बन सकता है। आज का नारकजीव कल तीर्थंकर, परमात्मा केवली, महाव्रतधारी या राजाधिराज भी बन सकता है। इसलिए संसार का नाश हो गया यह मानना सर्वथा अज्ञान है। एक वक्त मानव शरीर पाँच सौ धनुष्य प्रमाण का था। आज हम सातवेंतीया हैं और छठे आरे में मानव दो वेतीया शरीर में पहाड़, नदी, नाला और जंगल में रहेगा। इसलिए मानव पर्याय का नाश कह सकते हैं लेकिन मानवजात का नाश कहना गलत बात हैं। आज का विद्वान, पंडित-महा-पंडित मस्तिष्क की कमजोरी के कारण बुद्धु बन सकता है और आज का बुद्धु और निरक्षर कल साक्षर भी बन सकता है। इसलिए उसके गुणों के परिवर्तन करने में कोई हर्ज नहीं है। कल मांडवगढ, पाटण तथा कृष्ण की द्वारका और रावण की लंका को देखकर देवों की अमरावती भी लज्जित होती थी, आज यह शहर मृतप्राय हो गये हैं और कल जहाँ समुद्र और खाड़ी थी वहाँ आज बम्बई नगरी अपनी सुन्दरता से सबको आकर्षित करती है, इन सब दृष्टांतों से संसार के बारे में यथार्थ निर्णय लेने में देर नहीं लगती।

(४) संसार में परिभ्रमण करनेवाला जीव जब अनादि

काल का है, तो उस परिभ्रमण में मूल कारणरुप कर्म भी अनादिकाल के क्यों न हों ? यानि कि जीव के असंख्य प्रदेश में रहनेवाले कर्म भी अनादि के हैं और शक्तिसंपन्न हैं । फिर भी जीवात्मा चेतन होने से अनादि है और उसे लगे कर्म जड़ होने से और जीव द्वारा उपार्जित होने से अंतवाले हैं, लेकिन अपनी स्थिति (मर्यादा) पूर्ण होने पर वे कर्म आत्मा के प्रदेश से विमुख होते हैं और फिर से नये-नये कर्म जीव को लगते हैं इसलिए प्रवाह को लेकर कर्मों को भी अनादि कहे हैं। आठ रुचक प्रदेशों को छोड़कर आत्मा के शेष प्रदेश और उसमें भी एक-एक प्रदेश में अनंत कर्मों की वर्गणा (राशि) लगी होने से आत्मा भी स्वभाव से हलका (अगुरु लघु) होने के बावजूद भी कर्मों के भार से बहुत वजनदार बना हुआ है।

पूर्वोपार्जित कर्मों के उदयकाल में जीव का स्वभाव बहुत प्रकार से विचित्र बनता होने के कारण फिर से लगते नये कर्म भी विचित्र होते हैं। जिसके कारण से जीव का स्वभाव (अध्यवसाय-परिणाम-लेश्या) भी समय-समय पर बदलता रहता है। इस प्रकार कर्मों का उदयकाल भी सब जीवों के लिए एक समान नहीं रहता है।

[१] अपने कर्मों को भुगतने के लिए बहुत से जीवों का प्रारंभ और अंतकाल क्या एक होता है ?

[२] कर्मों को भुगतने के लिए प्रारंभ एक काल में करे तो क्या उनका अंत भिन्न काल में करता है ?

[३] कर्म भुगतने का समय भिन्न हो तो क्या उसके अंत का समय एक होता है।

[४] कर्म भुगतने के लिए प्रारंभ भी भिन्न काल में करे और अंत भी भिन्न काल में करता है ?

उपरोक्त प्रश्नों का सारांश यह है कि, १४ राजलोक के कोई भी क्षेत्र में या भिन्न-भिन्न क्षेत्र में बसते जीवों को किये गये कर्मों का भोगवटा सर्वथा अनिवार्य है । इसलिये कर्मों का विपाक (रसानुभव) का प्रारंभ करने के बाद ही वह कर्म फल देनेवाले बनते हैं और उनका भोगवटा होने के बाद ही उनका अंत होता है। अर्थात् आत्मप्रदेशों से निर्जरित होते हैं। क्वचित् अनिकाचित या साधारण निकाचित किये गये कर्म तपस्यारुपी अग्नि में अपने रसानुभव का चमत्कार जीवात्मा को दिखाये बिना भी निर्जरित हो सकते हैं तो भी उन कर्मों का प्रदेशानुभव किये बिना छुटकारा नहीं है।

प्रश्नोत्तर का हार्द यह है कि, बहुत से जीव अपने कर्मों को भुगतने के लिये प्रारंभ एक ही समय पर करते हैं और कर्म भुगतने के बाद उसका अंत (निर्जरा) भी एक समय पर करते हैं। जैसे कि महाविदेह क्षेत्र के एक गांव में एक महिला ने एक समय पर पुत्र को जन्म दिया और दूसरे समय पर वह प्रसूति वेदना से मुक्त हो गई । जबकि जम्बुद्विप के भरत क्षेत्र में खंभात नगर के एक खेत में एक भैंस ने पाड़े को जन्म दिया और दूसरे समय पर प्रसूति वेदना से मुक्त हो गई इस प्रकार भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में इन दोनों जीवों ने यानि कि महाविदेह क्षेत्र की महिला और खंभात की भैंस ने एक ही समय में प्रसूति की वेदना भुगती और दूसरे समय में वेदनीय कर्म का अंत किया इस प्रकार दूसरे विकल्प को भी कल्पना कर लेनी चाहिये। तीनों लोक और तीनों काल के जीव और उनके कर्म

तथा वेदना का साक्षात्कार करनेवाले केवलज्ञान के मालिक भगवान महावीर स्वामी ने कहा कि अमुक जीवों का :—

(१) कर्म भोग और निर्जरा का समय एक है।

(२) कर्मभोग का समय एक और निर्जरा का दूसरा हो।

(३) भोग समय भिन्न और निर्जरा का एक हो।

(४) दोनों भिन्न-भिन्न हों।

इन सब तफावत के कारण में भगवंत ने कहा कि,

(१) अमुक जीव आयुष्य कर्म का बंध और भवांतर की प्राप्ति एक समय पर करते हैं इसलिए भोग और अंत का समय समान कहा है।

(२) आयुष्य कर्म का बंध एक समय पर और भवांतर की प्राप्ति का समय भिन्न हो तभी कर्मभोग का प्रारंभ एक समय और अंत भिन्न काल में हो सकता है।

(३) आयुष्य बंध का काल भिन्न और भवांतर की प्राप्ति एक साथ हो तभी कर्म का भोग भिन्न-भिन्न समय पर होगा और निर्जरा एक समय पर होगी।

(४) दोनों भिन्न-भिन्न हों तभी प्रारंभ और अंत भिन्न-भिन्न होता है। इस प्रकार लेश्यावाले जीवों को यावत् नारक से लेकर वैमानिक दंडक तक के जीवों को जान लेना। कर्मभोग शुभ और अशुभ दो प्रकार जानना।

(१) एक ही काल में आयुष्य बांधता है और एक ही काल में उत्पन्न होता है; इसलिए भोग और निर्जरा का समय भी एक ही जानना।

(२) बंध का समय एक और नरक में उत्पति दूसरे समय पर हो तभी प्रारंभ और अंत में भी जुदाई मालूम पड़ेगी।

इस प्रकार शेष बचे परंपरोपन्नक, परंपरावगाढ, अनंतरावगाढ, परंपराहारक, अनंतराहारक, चरम और अचरम आदि पदों के प्रत्येक उद्देशक का विषय उपरोक्त जानना।

'समाप्ति वचनम्'

नवयुग प्रवर्तक, सम्यग्ज्ञान प्रचारक शास्त्रविशारद जैनाचार्य १००८ श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी म० के शिष्य शासन दीपक, मुनिराज श्री विद्याविजयजी म० के शिष्य पंन्यास श्री पूर्णान्दविजय (कुमार श्रमण) ने भगवतीसूत्र का २९ वाँ शतक समाप्त किया है।

"भद्रं भूयात् सर्वेषां जीवनाम्"

॥ शतक २९ वां समाप्त ॥



शतक ३०

शतक का उपक्रम :

इस संपूर्ण शतक में क्रियावादी अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी के लिए सविस्तर चर्चा की गई है, जो खास जानने लायक होने से और भारतदेश की धर्मान्धता का भूतकालीन इतिहास दिखलाती होने से हम विस्तारपूर्वक उसकी चर्चा करेंगे।

"क्रिया है उस प्रकार बोलने वाला क्रियावादी"

"क्रिया नहीं है उस प्रकार वहाँ बोलनेवाला अक्रियावादी"

"ज्ञान रहित जीव के अस्तित्व को माननेवाला और उस प्रकार बोलनेवाला अज्ञानवाद"

"निश्चयात्मक रूप से विनय से ही मोक्ष को माननेवाला विनयवादी है"

शुक्र के तारे की तरह चमकनेवाले और सूर्य की तरह महातेजस्वी केवलज्ञान के मालिक, देवाधिदेव, पतितपावन, भगवान महावीरस्वामी अपने चतुर्विध संघ के साथ जब (जिस काल और जिस समय में) भारत भूमि को पवित्र कर रहे थे तब कमनशीब भारतभूमि छोटे मोटे पंडितों की वागजाल में तथा उनकी जीहुकमी से भरी पंडिताई में बँट गई थी। परिणामस्वरुप "पंडित, बाह्मणो ब्राह्मणं, साधुः साधुं दृष्ट्वा श्वानवत् घूर्घूरायते" यानि कि, कलिकाल में एक पंडित दूसरे पंडित को देखकर, जनोई, तिलक को देखकर इतिश्री माननेवाला था, एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण को

देखकर, एक संप्रदाय का साधु दूसरे संप्रदाय के साधु को देखकर परस्पर कुत्ते की तरह गुर्राते थे और भौंकते थे।

वफादार कुत्ते में अपनी जात की ओर ही असहिष्णुता का बड़े से बड़ा दोष होने से एक गली का कुत्ता दूसरी गली के कुत्ते का वैरी है और जब वे दोनों परस्पर भौंकते हैं तब उस गली में बसते आदमिओं की नींद हराम हो जाती है, शांति चली जाती है। उसी प्रकार इस कमनशीब देश के पंडित ब्राह्मण और साधु परस्पर एक दूसरे के शत्रु हों, आँख, कलम या डंडे से लड़ते हों तथा अध्यात्म के नाम से, शास्त्रों के नाम से, उसकी एक एक पंक्ति के नाम से, क्रियाकांडों के नाम से, कुत्ते की माफिक एक दूसरे पर हिंसात्मक, ईर्ष्यात्मक, द्वेषात्मक, दावपेंच खेलते हों और उसमें जब राजा-महाराजाओं की राजसत्ता और श्रीमंतों की श्रीमंताई का साथ हो तो देश और समाज को भाव-आध्यात्म की प्राप्ति से कौन उन्नत बनायेगा? कैसे बनायेगा फलस्वरुप हिंसात्मक जीवधारी की भाषा भी हिंसात्मक बनती है। इसलिए पंडितों की भाषा में या चर्चा में कहीं भी अपेक्षावाद यानि कि, सामनेवाली की अपेक्षा समझकर प्रत्युतर देने की पद्धती लगभग बुद्धदेव के शून्यवाद के समान बन गई थी। ऐसी परिस्थिति में धर्म के नाम, देव-देवी के नाम, संप्रदाय के प्रवर्तकों के नाम, तिलक जैसे क्रियाकांड के नाम भारत देश की गली गली में जो वाक्युद्ध जाहिर सभा एक दूसरे को परास्त करने के दावपेंच, व्यूहरचना, 'दंडादंडी आदि को रोकनेवाला कोई नहीं था। क्योंकि, देश के राजा-महाराजा भी भिन्न भिन्न संप्रदायों के भगतराम बनकर गले में उस संप्रदाय की माला पहन चुके थे। ऐसी विषम परिस्थिति में

बारीश के दिनों में जिस तरह मेंढ़क भागमभाग करते हैं उसी तरह एक संघाड़े में से दूसरे संघाड़े में, एक संप्रदाय में से दूसरे संप्रदाय में क्रियाकांड हो या पक्षांतर हो इन सब बातों को नकारा नहीं जा सकता।

द्वादशांगी में सर्वश्रेष्ठ भगवतीसूत्र, आचारांगसूत्र और सूत्रकृतांग सूत्र की साक्षी में उस वक्त एक दूसरे से अलग होकर भी एक दूसरे की ओर स्नानसूतक भी नहीं था ऐसे क्रियावादियों के ही १८० अखाड़े थे। प्रत्येक अखाड़े में पंडित, साधु, आचार्य, दूसरे अखाड़े के पंडितों के साथ व्यूहात्मकरुप से डंडाडंडी करने को तैयार बैठे रहते थे। केवल परम तारक गुरुदेव के आदेश की राह देख रहे थे।

क्रियावादिओं के मुख्य प्रवर्तक और अखाड़े :—

संभवतः निम्नलिखित चार प्रर्वतक मुख्य थे :

(१) त्रिदंडी अखाड़ा (२) कपिल मुनि का अखाड़ा (३) उलूकमुनि का अखाड़ा और (४) गार्ग्य ऋषि का अखाड़ा। ये सब क्रियावादी थे। लेकिन समय बीतते ही चार में से १८० अखाड़े बने।

(१) महावीरस्वामी की आत्मा अपनी २७ भव की अपेक्षा से तीसरे भव मे संयमधर्म की उत्कृष्टतम आराधना में अशक्त होने के कारण त्रिदंडी धर्म की प्ररुपणा और स्थापना की थी, वह त्रिदंडी का अखाड़ा था।

(२) कपिलमुनि का अखाड़ा, कपिल मुनि कौन से क्वचित् सांख्यकारिका के कर्ता हों अथवा मरिचि मुनि के शिष्य कपिल मुनि हों।

(३) उलूक मुनि जो जैनमुनि के वेष में मिथ्याभिमानी

बनकर केवल दूसरों की सभा को कुतर्क द्वारा जीतने के आशय से, जीव-अजीव और नोजीव की स्थापना की थी।

(४) गार्ग्यऋषि का अखाड़ा :—इस प्रकार भारतभूमि की बहुत सी करुणताओं में से एक करुणता यह है कि, धर्म के नाम, सिद्धांतों के नाम, परोक्ष तत्वों के नाम लड़ाई या दंगल होने में देर नहीं लगती। बहुत दफा ऐसा बनता है कि लड़नेवालों की जीभ पर मोक्ष का नाम होता है लेकिन उनके कदम नरक की ओर होते हैं। ऐसे विसंवादी जीवों के मालिकों को धर्म के नाम पर जहर पिलाने की अच्छी आदत होने के उनके लिए विच्छेद कराने का कार्य बहुत सरल होता है। लेकिन धर्म के नाम से हुये दंगे मिटाने के लिये और सब को एक झंडे के नीचे लाने के लिए सागरोपम जितना समय लग जाये तो भी दंगे फिसाद मिटते नहीं हैं।

मत का स्थापक चाहे आज, कल या दूसरे भव में भी बदल जाये या सिद्धशीला का वासी बने तो भी स्थापित मत तो वज्रलेप जैसा हो जाता है। त्रिदंडीय और महावीर स्वामी की आत्मा एक ही है, लेकिन बीच में कितना लंबा समय पसार हो चुका है? हिसाब किया है कभी? सुनो! तीसरे आरे के चरम चरण में मरिचि होने के बाद चौथा आरा जो ४२ हजार न्यून एक कोडाकोडी सागरोपम का था। यानि कि एक करोड़ सागरोपम को एक करोड़ सागरोपम से गुना जाये वह कोड़ाकोड़ी सागरोपम कहलाता है। बीच में २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव और ९ बलदेव हुये। मरिचि मुनि खुद २४ वें तीर्थंकर बन गये और मोक्ष में गये तो भी त्रिदंडी का मत आज भी वर्तमान है।

अक्रियावादी :—जिस समय क्रियावादियों के १८० अखाड़े थे उस वक्त अक्रियावादिओं के भी ८४ अखाड़े थे। जिसमें काठे विधि, कौशिक और कौशल मुनि के अखाड़े जोरदार थे। पक्ष और प्रतिपक्ष, मानव के कुत्सित मस्तिष्क की उपज है। इसलिए पक्षांतर हुये बिना नहीं रहते। क्रियावादी हों तो अक्रियावादी उपस्थित हुये बिना रह सकते हैं क्या? एक मानव कहता है जीव है तुरंत दूसरा कहता है जीव नहीं है। यद्यपि ऐसे पक्षांतरों में ईर्ष्या, हठाग्रह या विरोध की भावना ही काम करती है। लेकिन मौलिक कारण अज्ञान है यह भूलना नहीं चाहिये। सम्यगज्ञान के बिना अज्ञान ही मानव का दुश्मन साबित होता है। विपरितता, संशयिता, अनध्यवसिता, यह तीनों अज्ञान के ही पुत्र हैं। इससे मोहराजा भड़कता है और मानव दूसरे के साथ नहीं लेकिन सामने बैठता है। तभी सबके अखाड़े भिन्न पड़ते हैं। वर्तमान भारत में भी हम देखते हैं कि, बाप सफेद टोपी पहनता है तो बेटा लाल, भाई पीली टोपी पहनता है, इससे स्पष्ट होता है कि, तुम्हारे मेरे विचार भिन्न हैं।

एक भाई पंडित नेहरु का पुजारी है, दूसरा भाई इन्दिरा-गांधी का पुजारी है और तीसरा चरणसिंग का गुलाम है। यह तीनों स्थूल मन से इन व्यक्तियों के पूजक हैं लेकिन उनके सूक्ष्म मन दूसरी ओर ही सोचते हैं ये लोग आपसी बातचीत में कहते भी हैं कि, खादी की टोपी पहननेवालों से तो ब्रिटीश (अंग्रेज) लाख गुने अच्छे थे।

फिर भी सूक्ष्ममन से स्थूलमन कई बार बाजी जीत जाता है और अपने अखाड़े चलाने में ही जीवन पूर्ण करते हैं। यह अक्रियावादी भी क्रियावादिओं के पूर्ण वैरी, विरोधी और

मौका मिलने पर मारामारी करने के लिए सावध रहते हैं। सामनेवाला मर जाय उसकी परवाह किसी को नहीं है। लेकिन अपने सिद्धात के विरोध में बोलनेवाले को मार चखाने का सिद्धांत रहता है । अज्ञानवादिओं के सड़सठ अखाड़े थे, जिनमें जैमिनी, वसु, बादरायण, चारायण, और पीपलाद मुख्य थे ।

जबकि विशिष्ठ, पारासर, जानुकर्ण, वाल्मीकि, रोम, हर्ष, व्यास और इलापुत्र आदि विनयवादिओं के बत्तीस अखाड़े थे । इसके अलावा ईश्वरवाद, नियतिवाद, शून्यवाद विज्ञानवाद आदि के भिन्न भिन्न अखाड़े गली गली और मुहल्ले मुहल्ले जोर-शोर से हार-जीत की प्रतिज्ञा लेकर अस्तित्व में थे। इन चार प्रकार के मतमतांतरों में उस समय का भारत डूबा हुआ था। राजा-महाराजा पंडितों की वाक्-चातुरी में फँसे हुये थे और अपने अर्थ और कामदेव की उपासना में जो अखाड़ा अनुकूल हो उसके सदस्य बनते थे और उसकी माला पहन लेते थे। श्रीमंत भी अर्थ और काम के सेवक होने से जिसके पक्ष में लड्डु वही हमारा धर्म, जिसके तड़ में लड्डु उसके तड़ में हम' इस प्रकार पंडित, राजा और श्रीमंतों के एकीकरण में दलित या पतित लोगों के बोलने का या मत देने का अधिकार नहीं था। जबकि जगदम्बा जैसी औरत को भी पुरुष की दासी बनकर रहना पड़ता था, कभी भी उसका निलाम होने की शक्यता बनी रहती थी और बहुत बार मार भी भुगतनी पड़ती थी। जिससे जगदम्बा जैसी वह औरत सर्वथा लाचार होकर जीवन समाप्त कर देती थी।

शिकार, जुआ, शराब, माँसाहार, परस्त्रीगमन, वेश्या-गमन और चौर्यकर्म आदि पाप सर्वथा अमर्यादित थे । तभी

तो उस वक्त का सच्चा बयान एक कवि ने इस प्रकार किया है :—

अन्तर्शाक्ता बहिर्शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः।
नानारुपधराः कौलाः विचरन्ति महीतले॥

क्रियावादी यानि क्या ?

(१) क्रियामात्र कर्ता के बिना नहीं होती है और यह कर्ता आत्मा के सिवा दूसरा कोई नहीं है। बेशक, क्रिया की निष्पति में कर्म, करण, हेतु, संप्रदान, अपादान और अधिकरणरुप में कोई न कोई निमित्त बनते हैं फिर भी क्रिया का कारक तो आत्मा ही है। इसलिए आत्मा के अस्तित्व को माननेवाले क्रियावादी हैं।

(२) क्रिया ही प्रधान है, इसलिये क्रिया के प्रधान को माननेवाले क्रियावादी हैं।

(३) जीवादि नौतत्वों के अस्तित्व को स्वीकार करनेवाले क्रियावादी हैं। उपर्युक्तभी क्रियावादी हैं। उपर्युक्त क्रियावादी जीवादि नौ तत्वी को मानते हैं। लेकिन कदाग्रही होने से सत्यस्वरूप उन तत्वों में भी विसंवादिता हो जाती है या नवतत्व का पाठक (मास्टर पंडित) खुद ही उन तत्वों का यथार्थ ज्ञान नहीं समझता हो, अर्धदग्ध हो तो उसके शिष्य भी विसंवादी और हठाग्रही बनेंगे। फलस्वरुप मुख्य टोलकी में से विसंवायितता के कारण एक के बाद एक विभिन्न होते गये। उसके बाद तो यह परंपरा चल पड़ी तभी तो एक मत में से १८० मत, पंथ, मंडल अलग हो गये। यह सब महावीर स्वामी के समय में भी हाजिर थे। और—

"जीवाजीवा पुण्णं पावासव संवराय निझरणा ।
बंधो मुक्खोय तहा नवतता हुंति नायव्या ॥

यह गाथा कंठस्थ करनी सबको सर्वथा अनिवार्य थी । चलने फिरते या काम करते वक्त भी इस गाथा के तत्व सबकी जीभ पर रहते थे । उपरोक्त नौ तत्वों का सत्य स्वरूप जानने में सर्वथा एकांतवादी बनने वालों को दूसरों के साथ बात-बात में विरोध किये बिना चलता नहीं है । इस न्याय से वे कहाँ कहाँ और कैसे कैसे भिन्न पड़ते हैं उसको विस्तार-पूर्वक जानकारी प्राप्त करने की यथामति प्रयास किया गया है । यह क्रियावादी नौ तत्वों को माननेवाले होने से वे प्रायः सम्यक्त्व सम्पन्न हो सकते हैं ।

उनके १८० भेद कैसे पडे ?

मूल तत्व ९ हैं, वह इस प्रकार हैं :—जीवतत्व, अजीव-तत्व, पुण्यतत्व, पापतत्व, आश्रवतत्व, बंधतत्व, संवरतत्व, निर्जरातत्व और मोक्षतत्व ।

उपरोक्त क्रियावादियों को यह ९ तत्व मान्य है । श्रद्धेय है । इसलिये प्रारंभकाल में किसी को भी कहने का नहीं होने से सबका गुरु एक था । मठ एक था, लेकिन हुंडा अवसर्पिणी के अभिशाप से शंका होती गई, समाधान हुआ नहीं और रागद्वेष के चक्कर में आकर किसी ने इन नौ तत्वों को स्वतः सिद्ध माना जबकि दूसरों ने परतः सिद्ध माना और मान्यता में कदाग्रह का प्रवेश होता गया । परिणाम स्वरुप ९×२=१८ भेद बने । बबुल के बीज से बबुल ही उत्पन्न होता है अतः किसी ने इन भेदों को नित्य माना है, जबकि दूसरों ने अनित्य माना । इस प्रकार अमरवेल जब बढ़ती है तब समग्र वृक्ष को

अपने आलिंगन में ले लेती है, उसी प्रकार ३६ भेदों से कलह बढ़े, दंगे फिसाद बढ़े, मारामारी हुई ! ३६ भेद क्या कालकृत है ? नियतिकृत है ? स्वभावकृत है ? ईश्वरकृत है ? या आत्मकृत है ? इस प्रकार ५ विकल्पों का जन्म हुआ ? उसपर हठाग्रह बढ़ता गया। फिर अपने मत अनुसार प्रवर्तक भिन्न हुये, आचार्य भिन्न बने, मुनि भिन्न बने और उनके पक्षांध बनकर गृहस्थ भी भिन्न बने और ३६×५=१८० भेद देखते देखते बन गये।

देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी को केवलज्ञान होने के बाद भी १८० पाखंडी, धर्म के नाम, सम्यक्त्व के नाम, और जीवादि तत्वों के स्वरुप के लिए लड़ते थे, टंटा फिसाद करते थे फलस्वरुप भारत देश को "त्राहि मां त्राहिमां" जैसी अवस्था में लाके रख दिया था।

स्वतः, परतः, नित्य, अनित्य, काल, क्षणिक, नियति, ईश्वर आत्मा आदि शब्दों के अर्थ देख लें। नौ तत्वों की विशद व्याख्या प्रथम भाग में चर्चित हो गई है। फिर भी इन नौ तत्वों का तत्वार्थसूत्र, आर्हतदर्शन-दीपिका आदि ग्रंथों से जान लेना।

स्वतः यानि आत्मा अपने स्वरुप को लेकर विद्यमान है। लेकिन ह्रस्वत्व को जिस तरह दीर्घत्व की और ह्रस्वत्व की, ह्रस्वत्व को अपेक्षा रहती है ऐसी एक भी अपेक्षा आत्मा की नहीं होती है क्योंकि आत्मा स्वतः सिद्ध है। पुण्यपाप के फलों को भुगतने के लिए सर्वत्र स्वतंत्र है। जन्म मरण में भी आत्मा को किसी की अपेक्षा मान्य नहीं है।

नित्य यानि आत्मा खुद किसी से भी उत्पन्न नहीं होता है और नष्ट नहीं होता है। रुपांतर यानि धर्मास्तिकाय,

अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय या पुदगलास्तिकाय आदि में चार निकाय के देव यदि परिश्रम करके अपने सागरोपम के सागरोपम आयुष्य को समाप्त कर ले तो भी परिवर्तित कर नहीं सकते इसलिए आत्मा भूतकाल में भी था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। इसलिए उनकी नित्यता और शाश्वतता अबाध है।

अनित्यः—आत्मा को अनित्य माननेवाले क्षणिकवादीओं के अखाड़े के साधक, नित्यवादीओं को पड़कार फेंककर कहते थे कि, आत्मा किसी भी काल में नित्य था ही नहीं, तुम्हारा यह नित्यवाद एक बार नहीं लेकिन हजार बार झूठा है। क्योंकि संसार में आँख से दिखनेवाले सभी पदार्थ दीये की ज्योति की तरह प्रतिसमय नश्वर हैं, क्षणिक हैं, इसलिए आत्मा अनित्य है। मिथ्यात्व के जोरदार हमले के कारण उस वक्त द्रव्य मात्र को एकांत में नित्य और अनित्य माननेवालों के इन दो पक्षों के बीच में रोज टंटा फिसाद और वैर विरोध के अभिशाप से भारत देश के छोटे मोटे सभी किंकर्तव्यमूढ थे। आम जनता त्रस्त थी इसलिए बार-बार अपने हृदय की जलन बाहर निकालती थी। जो धर्मसिद्धांत देश को, समाज को, श्रीमंतों को, और सूत्रधारीओं को वैरझेर के चक्कर में डालकर बरबाद करे, खानाखराब करे वह धर्म किस काम का? लेकिन पंडितों का पांडित्य इतना गर्विष्ठ था कि, उसको रोकने के लिए किसी का भी भेजा काम नहीं करता था।

परतः इनके पक्षांधो का कहना है कि, आत्मादितत्व स्वतः सिद्ध नहीं है, यानि कि जीव की सिद्धी अपने आधीन नहीं है, लेकिन परतः यानि कि दूसरों के आधीन है। इस

प्रकार परतः सिद्धवादी डंके की चोट के साथ कह सकते थे कि, आत्मादितत्वों की सिद्धि परतः ही हो सकती है। जिस प्रकार नारंगी से बेर छोटा है और बेर से नारंगी का दीर्घत्व बेर की ह्रस्वता को लेकर है, तथा घटपट मकान आदि पदार्थ जड़ है। इसलिए उस जड़ से सर्वथा विपरीत चेतन स्वरुप आत्मा होना चाहिए। सारांश यह है कि, संसार के पदार्थों का अनुभव करने के बाद ही आत्मा की ओर लक्ष्य जाता है। इसलिये आत्मा की सिद्धि के लिये जड़ पदार्थों की अपेक्षा बनी रहती है। इसलिये आत्मा परतः सिद्ध है। ऐसी स्थिति में भी बहुत से परवादी आत्मा को नित्य तथा बहुत से अनित्य मानते हैं। इस प्रकार :—

(१) आत्मा स्वतः नित्य ही है।

(२) आत्मा स्वतः अनित्य है।

(३) आत्मा परतः नित्य है।

(४) आत्मा परतः अनित्य है।

अकेले जीवतत्व के यह चार मतांतर हुये। उसी प्रकार अजीवतत्व के स्वतः परतः, नित्य और अनित्य के रूप में चार भेद जानना। यावत् मोक्ष तक ४X९=३६।

जिवादि तत्व कालकृत हैं :

कालवादीओं का मंतव्य है कि, जीवादि सब तत्त्व कालकृत है यानि कि, जीवादितत्त्व है। उनके व्यापारों का अनुभव काल को लेकर ही होती हैं। इसलिये वे कालकृत हैं। द्रव्य मात्र की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय में काल का ही प्रत्यक्ष प्रभाव है। जीवों का जीवनमरण भी काल के अधीन

है। प्रसूति के समय से पहले, डाक्टर या नर्सों के लाख प्रयत्नों के बावजूद भी किसी को प्रसूति नहीं होती है। नहीं हुई थी और होगी भी नहीं। इस प्रकार मृत्यु भी ईश्वर के आधीन नहीं बल्कि काल के आधीन है। आँख से दिखने पर भी एक साथ चिरकाल या तत्काल में ठंड, गर्मी या वर्षाऋतु में कहीं भी ईश्वरादि का चमत्कार देखा गया है? और यदि दिखता हो तो पौष माह में सख्त गर्मी और वैशाख में सर्दी क्यों नहीं पड़ती है? तथा दिन, माह, वर्ष, युग, पूर्व, पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी आदि में काल का प्रत्यक्ष प्रभाव स्पष्ट दिखता है। स्त्री को ऋतुकाल के बिना गर्भाधान होते हुय सुना है? पुरुष के हजारों प्रयत्न से यदि ऋतुकाल लाया जाता हो तो दो साल की बालिका को ऋतुकाल क्यों नहीं आता? इसलिये काल के प्राधान्य को टाला नहीं जा सकता?

जीवादि तत्व नियतिकृत है :

जीवादि तत्वों को स्व-पर-नित्य और अनित्य रूप से मानने के बावजूद भी क्रियावादीओं में से भिन्न हुये नियतिवादी जोर शोर से प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि, कोई भी तत्त्व कालकृत नहीं है लेकिन नियति के आधीन है। पदार्थ सर्वथा स्वतंत्ररुप से जिन रुपांतरों में परिवर्तित होते हैं उसमें प्रयोजक रुप से जो काम करता है उसे नियति कहते हैं। जिसके आश्रय बिना शुभ या अशुभ प्राप्तव्य अर्थ किसी को प्राप्त हुआ नहीं है, होता नहीं है और होगा भी नहीं। ऋतुस्नाता स्त्री का गर्भधारण का काल है, पुरुष का पुरुषार्थ भी विद्यमान है फिर भी गर्भधारण न हो उसमें नियति के अलावा दूसरा कोई कारण नहीं है।

सारांश यह है कि, १८० भेद में से नियति को मानने-वालों के जुथ अलग थे, उनके मठ अलग थे, गुरु अलग थे, फिर भगत भिन्न हो उसमें आश्चर्य की कौन सी बात है ?

जीवादि तत्व स्वभावकृत है :

पदार्थ खुद ही स्वभाव से परिणाम में परिणित हो जाये तो काल या नियति को मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि संसार का संचालन ही स्वभावगत् है। अन्यथा बबुल के काँटे तीक्ष्ण क्यों हो ? मृग और पंखीओं के रंग भिन्न किसने बनाये ? कमल के पत्तों में सुन्दरता कैसे आयी ? हरिणीओं की आँखों में इतनी सुन्दरता किसने डाली ? खानदान मानवी को विनय विवेक किसने सीखलाया ? इत्यादि प्रसंगों में स्वभाव के अलावा है क्या ? हजार प्रयत्नों के बावजूद कोई भी असुन्दर को सुन्दर नहीं बना सकता। बंध्या स्त्री को गर्भधारण होता ही नहीं है इसलिए दुनिया भर के मंत्र, जंत्र, उपासना, वासनिक्षेप या आशीर्वाद हजार बार निष्फल हो जाते हैं। इसलिए जीवादि तत्व कालकृत नहीं है, नियतिकृत नहीं है लेकिन स्वभावकृत है।

ईश्वरकृत :

एक मत में से जब दूसरा मत उत्पन्न होता है तब सब की बुद्धि में :—

साम्यभाव मिटता है और वैषम्यभाव आता है।

हितबुद्धि घटती जाती है और स्वार्थवृत्ति बढ़ती जाती है।

सहनशक्ति विदाय लेती है और रागद्वेष की मात्रा बढ़ जाती है।

अपेक्षा बुद्धि अलविदा लेती है और एकांत बुद्धि का आगमन होता है।

समता प्रधानता रूठ जाती है और तामस प्रधानता का प्रवेश होता है।

हृदयमंदिर में से ईश्वर चला जाता है और असुरदेव की प्रतिष्ठा होती है।

इत्यादि कारणों को लेकर जीवादि तत्व स्वतः, परतः, नित्य या अनित्य चाहे क्यों न हों पर उन सब में ईश्वर का हस्तक्षेप अनिवार्य होने से जीव की सब क्रियाएँ ईश्वराधीन है। यानि जड़ या चेतन में ईश्वरीय लीला का निर्विवाद माने बिना चलता नहीं है। छोटा-मोटा मकान भी कारीगर के बिना नहीं बनता है तो फिर इतने बड़े संसार का संचालन ईश्वर के बगैर हो नहीं सकता। वे कहते हैं कि 'जीव अज्ञान है, अपने सुख-दुःख के लिये समर्थ नहीं है तभी ईश्वर उसे स्वर्ग या नरक में धकेल देता है। यानि ईश्वर की आज्ञा के बिना पीपल का पत्ता भी नहीं हिलता है।

आत्मकृत :

जीवादि तत्व काल, नियति स्वभाव या ईश्वर के आधीन नहीं है लेकिन वे आत्मा के आधीन हैं, यह आत्मकृतवादीओं का मंतव्य है। इस मंतव्य के मुताबिक संसार में केवल आत्मा के सिवा दूसरे एक भी पदार्थ की कल्पना करनी केवल अज्ञानता है। दृष्टांत के साथ वे कहते हैं कि, आकाश में चंद्र एक की संख्या में ही है भिन्न भिन्न पानी से भरे पात्रों में वह भिन्न भिन्न दिखता है। इस प्रकार सब पदार्थों में आत्मा एक है लेकिन वह नए नए रूप धारण करता रहता है।

उपरोक्त प्रकार से क्रियावादिओं के १८० अखाड़े हमने देखे और जाने, जो सब एक दूसरे के सर्वथा विरोधी, बैरी और बात बात में लड़नेवाले वे भारतभूमि के आदमियों के लिए सर्वथा अभिशापरुप थे। जिस देश में, समाज में धर्म के नाम पर पाखंड चलानेवालों का क्लेश, कंकास रहता हो वहाँ मानव समाज को शाँति और समाधि कौन दिलायेगा ?

अक्रियावादी यानि क्या ?

अब हम अक्रियावादिओं को समझने का प्रयास करेंगे। जो ८४ की संख्या में है। इन सब अखाड़ों के अखाड़ाबाज, जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर निर्जरा और मोक्ष यह सात तत्वों को नास्तिरुप से मानने वाले हैं। वे स्वतः नहीं या परतः नहीं है इसलिए ७X२ = १४ भेद हुये।

काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर, और आत्मकृत यह छः प्रकार से १४X६ = ८४ भेद हुए।

इन वादियों का कहना है कि, जीव नहीं है, अजीव नहीं है, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष नाम के सात तत्व है ही नहीं वह स्वतः नहीं है अ र परतः नहीं है, कालकृत यदृच्छाकृत, नियतिकृत स्वभावकृत, ईश्वरकृत तथा आत्मकृत भी नहीं है। इस वजह से ही जीवादि के नास्तित्व को मानने-वाले होने से इन ८४ अखाड़ों के प्रवर्तक और उनके सभ्य नास्तिक और मिथ्यात्वी हैं। जीवादि के नास्तित्व को मानने-वाले ये लोग कहते हैं कि, जीवादी नहीं है क्योंकि उसको सिद्ध करने के लिये उनका एक भी लक्षण नहीं है, जिससे उसके अस्तित्व को मानने की फरज पड़े। लक्षण बिना के लक्ष्य की सिद्धि कैसे बनेगी ? और जीव के एक भी कार्य का

निर्णित नहीं है क्योंकि अणु से पर्वत की सिद्धि जिस प्रकार शक्य नहीं है उस प्रकार जिसका कार्य दृष्टिगोचर नहीं होता हैं उन जीवादि तत्वों को मानने की आवश्यकता नही है।

इसलिये आकाशकुसुम की तरह जिसकी सिद्धि स्वतः से न हो उसकी परतः से हो ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर और आत्मकृत की व्याख्या की गई है। केवल यदृच्छा की व्याख्या जान लें।

यदृच्छा :—जिसमें इच्छा बिना अर्थ की प्राप्ति हो उसे यदृच्छा कहते हैं। इन पंथ के लोगों का कहना है कि मानव को सुख दुःख आदि की प्राप्ति सर्वथा अतर्कित है, कल्पनारहित है। जैसे वृक्ष की डाल पर बैठे कौए से जब डाल गिरती है, तब उसे यह मालूम नहीं होता है कि उसके बैठने से डाल गिरी, डाल को भी यह पता नहीं है कि मैं कौए से गिर रही हूँ। इस प्रकार के यदृच्छापूर्वक होते काम में जन-मानस कहता है कि "काग का बैठना और डाल का गिरना" उसी प्रकार 'हम पिशाच हैं, जंगल में रहते हैं, ढोल को हम स्पर्श भी नहीं करते हैं' फिर भी संसार का आदमी कहता है कि जंगल में पिशाच भेरी बजा रहे हैं। इस प्रकार जन्म लेना, मरना आदि कार्य यदृच्छापूर्वक ही होते हैं, उसमें किसी की बुद्धि या बल की जरुरत नहीं है। इस प्रकार अक्रियावादियों के चौरासी भेद हुये।

अज्ञानवादी यानि क्या ?

यह मतवादी, जीवादि नवतत्वों को तथा उत्पत्ति नाम के दसवें तत्त्व को सद्रुप में, असद्रुप में, सदसद्रुप में अवक्तव्य रुप में, सद्वक्तव्यरुप में, असद्वक्तव्यरुप में तथा सदसद्-

वक्तव्यरुप में माननेवाले नहीं होते हैं। वे कहते हैं कि जीव सद्रुप में दिखता नहीं है, असद्रुप में भी दिखता नहीं है, अन्य किसी प्रकार में भी उसका अनुभव नहीं होता है। जीवादि की जानकारी का प्रयोजन भी क्या है? उसका फल क्या है? जीव है, उसकी जान कारी किसी ने की नहीं है या तो जानकारी होने पर भी उसका फल क्या? इस प्रकार जीव नही है. इस बात को भी किसी ने नहीं जाना और नहीं जाना है तो हानि भी क्या है? भावों की उत्पत्ति होती है, उसको भी किसी ने नहीं जाना और यदि जाना भी है तो क्या हो गया?

जीव अतीन्द्रिय होने से उसके बारे में किसी को भी ज्ञान नहीं है, जिससे आत्मा को जाना जाय। या तो आत्मा को सर्वगत, मूर्तज्ञानादि गुणोपेत स्वरुप में या उससे रहित किसी ने जान लिया हो तो भी जाननेवाले को क्या फायदा? इसलिए प्रत्येक प्रसंग का अज्ञान ही सर्व श्रेयस्कर है। आत्मा को नित्य माननेवाले, अनित्यवादीओं के कट्टर दुश्मन हैं और अनित्यवादी, नित्यवादीओं के दुश्मन हैं। दोनों के अखाड़ों में हररोज लड़ाई, मारामारी होती है और मध्यमवर्ग बेचारा द्विधा में शून्यमनस्क बनकर अपना जीवन पसार करता है इसलिए अज्ञान सर्व श्रेयस्कर है।

कोई भी बात की इच्छा बिना किए कार्यों में अपराध मुख्य हो तो भी उसका दोष कम माना गया है। जब उसी कार्य को मुनि, पंन्यास, उपाध्याय या आचार्य करेगा तो उससे लगा हुआ दोष उतरोत्तर ज्यादा माना गया है यानि कि मुनि की भूल से पंन्यास की भूल ज्यादा महत्व की होने से मुनि से पंन्यास ज्यादा दंडनीय है। उससे उपाध्यायजी

और उससे ज्यादा आचार्यजी दंड के पात्र है। आचार्यकी भूल सर्वथा अक्षम्य होने से ज्यादा दंडनीय बनती है।

और तुल्य अपराध में मुनि को जो प्रायश्चित होता है उससे ज्यादा पंन्यास को, पंन्यास से ज्यादा उपाध्याय को और उपाध्याय से ज्यादा आचार्य को होता है। इस न्याय से जीवादी तत्वों को जानने के बाद जो पाप करता है उससे हमारा अज्ञान लाख गुना अच्छा है इस प्रकार अज्ञानवादी सोचा करते हैं। इस प्रकार जीवादी नौ तत्व सद् आदि रूप में सात प्रकार से गिनती करते हुए ६३ भेद हुए और भावोत्पति, सती, असती, सदसती और अवक्तव्या चार प्रकार से ६३—४=६७ भेद अज्ञानीओं के बने।

वैनयिक यानि क्या ?

भारत भूमि पर जब क्रियावादी, अक्रियावादी और अज्ञानवादी जीवादी तत्वों के लिए भिन्न भिन्न प्रकार से लड़ रहे थे तब ये वैनयिकवादी भी जोरशोर से कह रहे थे कि हे मानवों! हे पंडितों हे महापंडितों! थोड़ी देर के लिए आप अपनी आंखें बंद करके और छाती पर हाथ रखकर सोचिये कि जीवादी तत्वों को आप जिस प्रकार मान रहे हैं और जिस प्रकार नहीं मानते हैं इत्यादि प्रसंगों में लड़ाई या टंटा फिसाद करके तुम तुम्हारा नाश क्यों कर रहे हो। जब से जागे तब से जीवादी परोक्ष तत्वों की चर्चा, मारामारी आदि करके तुम्हारे रात-दिन गुजर रहे हैं, इसलिए हमारा विनय-धर्म जिसमें कोई लड़ाई नहीं मारामारी नहीं है चर्चा नहीं है वह लाख गुना अच्छा है। इस प्रकार यह वादी विनय द्वारा ही मोक्ष को माननेवाले हैं इसलिए इनको वैनयिक कहा गया है।

अपने अखाड़े के धर्म के मुताबिक वे सामने आनेवाले देव, राजा, मुनि, माता पिता या जानवर आदि को मन, वचन और काया से नमस्कार करते थे। आसनादि देते थे और यह मानते थे कि, विनय से ही ज्ञान-दर्शन, चारित्र और मोक्ष की प्राप्ति सुलभ बनती है। फिर भी उनके ३२ भेद पड़े। देव, राजा, यति, ज्ञाति स्थविर, अधम, माता और पिता जैसे ८ प्रकार के लोगों का मन, वचन और काया से और दानादि से विनय करना। इस प्रकार ८X४=३२ भेदों में वैनयिक एक दूसरे से भिन्न थे।

इस प्रकार :—

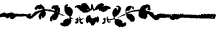
क्रियावादीओं के	१८० भेद
अक्रियावादीओं के	८४ भेद
अज्ञानवादीओं के	६७ भेद
और विनयवादीओं के	३२ भेद

३६३ भेद हुये।

भगवान महावीर स्वामी के छद्मस्थ काल में और केवली काल में भी ये पाखंडी थे। दूसरे मतवादी भी थे। पंडितों की परस्पर की वादविवाद की चर्चा से भारत भूमि सर्वथा त्रस्त थी। क्योंकि जीवादि तत्वों को नहीं माननेवाले अक्रियावादी और उनके अभिशाप से सर्वत्र फैले अज्ञानवादीओं के कारण मांसाहार, शराबपान, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन, शिकार आदि महाव्यसन देश के प्रत्येक स्थान में व्यापक बन चुके थे। तभी तो कालसौकरिक आदि कसाईओं के कसाईखाने में हजारों की संख्या में पाड़े, गायें, घेटे बकरे और मुर्गे आदि की क्रूर हत्या से देश की आबादी पर खतरा पैदा हो गया था।

ऐसी परिस्थिति में भगवान महावीर स्वामी ने स्याद्वाह, अनेकांतवाद का आश्रय करके पांडित्य के गर्विष्ठ पंडितों को, मिथ्याभिमानी महापंडितों को, राजनीति के घमंडी राजाओं को, सुरापान करते श्रीमंतों को पवित्र रास्ते पर लाकर खड़ा कर दिया था।

इतनी पूर्व भूमिका के बाद हम अब मूलसुत्र के आधार पर विचार करेंगे।



शतक ३० : उद्देशक-१

जीव क्या क्रिया आदि को मानते है ?

हे प्रभो ! समवसरण (जिसमें अनेक प्रकार के परिणाम-वाले जीव बैठते हैं) यानि मतमंतातर कितने कहे हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम समवसरण (मत मतांतर) निम्नलिखित चार प्रकार से हैं :

(१) क्रियावादी, (२) अक्रियावादी (३) अज्ञानवादी और वैनयिकवादी। जीवों में बहुवचन का आश्रय करके भगवंत ने फरमाया कि, हे गौतम ! अनंतानंत जीवों में से कितने क्रियावादी हैं, बहुत से अक्रियावादी, अज्ञानवादी और वैनयिकवादी भी हैं। वह इस प्रकार :—

कृष्णादि छः लेश्या के मालिकों के लिए भी जानना। जबकि लेश्या बिना के अयोगी (१४ वें गुणस्थानक में रहने-वाले) और सिद्ध भगवंतों को केवल क्रियावादी जानना।

कृष्णपाक्षिक जीवों का संसार लंबा होने से वे क्रियावादी नहीं होते हैं लेकिन अक्रियावादी अज्ञानवादी और विनयवादी होते हैं।

शुक्लपाक्षिक जीव परिमित संसारी होने से कोई क्रियावादी भी हैं यावत् चार प्रकार से हैं।

सम्यगदृष्टि जीव केवल क्रियावादी ही हैं। जब कि मिथ्यादृष्टि जीव कृष्णपाक्षिक की तरह जानना।

मिश्रदृष्टि (सम्यग्मिथ्यादृष्टि) वाले अज्ञानवादी और विनयवादी जानना।

पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञानी केवल क्रियावादी जानना। जबकि तीन प्रकार के अज्ञानी जीव कृष्णपाक्षिक जैसे हैं।

आहारादि चार संज्ञा में आसक्त जीव चार प्रकार के हैं और अनासक्त (नोसंज्ञोपयुक्त) जीव केवल क्रियावादी ही होते हैं, क्योंकि सब क्रियाओं में अनासक्तत्व सम्यग्दर्शन के बिना शक्य नहीं हैं।

तीन वेद के मालिक चार प्रकार के हैं और वेदरहित प्रथम भेद में जानना। इस प्रकार सकषायी और अकषायी योगी और अयोगी साकार और अनाकार उपयोगवालों का भेद जानना। कापोतलेश्या तक के नारक चार प्रकार के हैं। शेष आगे की तरह जानना।

पृथ्वीकायिक, मिथ्यादृष्टि होने से अक्रियावादी और अज्ञानवादी होते हैं। विनयवादी को योग्य परिणाम न होने से वे विनयवादी नहीं होते हैं। वचन का अभाव हो फिर भी वे बाद के परिणामों से मुक्त नहीं हैं। इस प्रकार यावत् चार इन्द्रियवाले जीवों तक जानना।

पंचेन्द्रिय तिर्यंचों से लेकर वैमानिक देवों तक चार प्रकार की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के जीव कौन सी गति का आयुष्य बांधेंगे ?

हे प्रभो ! जो क्रियावादी है, यानि जीवादि नव तत्त्वों का जानकार है, वह कौन सी गति का आयुष्य बाँधेंगे ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम ! जो नव तत्त्वों का ज्ञाता है, वह क्रियावादीओं के १८० पाखंडीओं में से किसी भी पंथ का होगा तो भी देवगति और मनुष्य गति का आयुष्य बाँधेगा। परमात्मा देवाधिदेव की स्पष्ट वाणी

से हम सब जान सके हैं कि केवल श्रद्धा की ही कितनी बड़ी ताकत है, जिससे वह जीव नरकगति या तिर्यंचगति में जा नहीं सकता है। टोर्च (बैटरी) में जो सेल होता है वह चाहे कितना ही सुन्दर क्यों न हो, यदि उसमें पावर नहीं है तो उसे फेंकने के अलावा और कोई चारा नहीं है। और पावर होगा तो सेल पर का कागज फट गया होगा तो भी उसे रखना पड़ेगा। इस प्रकार श्रद्धा की ताकत को पावर कहा गया है, जिसकी हयाति में मानव के दुर्गति के द्वार बंध होते हैं। ऐसी परिस्थिति में सम्यग्ज्ञान और चारित्र का मिश्रण किया जाये तो मुक्ति के द्वार तक पहुँचने में देर नहीं लगती है।

अज्ञानवादी, अक्रियावादी और विनयवादी के लिए चारों गति के द्वार खुले हैं। यानि कि वे दुर्गति में भी जा सकते हैं, क्योंकि अक्रियावादी आत्मादि तत्वों को नहीं जान सकते और जो अपने आत्मा को नहीं जान सकता वह पाप और पाप के द्वारों को कैसे जानेगा ?

खड्डे को नहीं देखनेवाला अंधा जिस प्रकार कुंए में गिर सकता है, उसी प्रकार नव तत्वों का अज्ञानी आत्मा अपनी अज्ञानदशा में जो पाप करता है इतने भयंकर होते हैं कि एक में से दूसरा और दूसरे में से तीसरा पाप उसे छोड़ता नहीं हैं।

अज्ञानवादिओं का आत्मा ही उनका दुश्मन होने के कारण उनके लिए धर्म-कर्म का कोई भी अर्थ नहीं है। क्योंकि जो अपने आत्मा के ही शत्रु बनकर बैठे हैं वे परमात्मा के शत्रु बने उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। पूरा संसार सबके लिए प्रत्यक्ष है।

विनयवाद में भी जहाँ तक सम्यग्ज्ञान और चारित्र का मिश्रण न हो वहाँ तक सिर्फ विनय ही आत्मा का उत्थान कैसे करेगा ? इसलिए इन तीनों के लिए चारों गति खुली है।

कृष्णलेश्या का मालिक यदि क्रियावादी है तो केवल आस्तिक्य के बल से वह मनुष्यगति का आयुष्य बांधेगा, क्योंकि, कृष्णलेश्या देवगति नहीं देती है और वह यदि क्रियावादी नहीं है तो चारों गति का आयुष्य बांधेगा।

नील और कापोत लेश्या के लिए भी पूर्ववत् जानना।

तेजोलेश्यावाला जीव मनुष्य और देव में भी वैमानिक देव बनेगा, जबकि लेश्यारहित जीव अयोगी होने से उनके लिए चार गति के द्वार बंद है।

तेजोलेश्यावाले जीव यदि अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी होंगे तो नरक को छोड़कर दूसरी गतिओं का आयुष्य बांधेगे। इस प्रकार पद्म, और शुक्ल लेश्यावालों के लिए भी जानना। क्योंकि इन तीनों लेश्याओं में मरनेवाले जीव नरकगति में नहीं जाते हैं।

कृष्णपाक्षिक, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी चार गति का आयुष्य बांधते हैं।

सम्यग्दृष्टि, क्रियावादी, ज्ञानी, मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी जीव देव और मनुष्य का आयुष्य बांधते हैं। मनः पर्यवज्ञानी वैमानिक देव का आयुष्य बांधनेवाले हैं।

अज्ञानी, विभंगज्ञानी को कृष्णपाक्षिक की तरह जानना।

नरक गति के जीव यदि क्रियावादी होंगे तो मनुष्य का आयुष्य बांधेगे और यदि अक्रियावादी, विनयवादी या

अज्ञानीवादी होंगे तो तिर्यंच तथा मनुष्यगति की उपासना करेंगे।

पृथ्वीकायिक यदि अक्रियावादी वा अज्ञानवादी होंगे तो तिर्यंच और मनुष्य का आयुष्य बांधेंगे। यह जीव इन्द्रिय प्राप्ति के पूर्ण होने के पूर्व तेजोलेश्यावाले हों उस वक्त आयुष्य बांधते नहीं हैं, लेकिन इन्द्रिय प्राप्ति के पूर्ण होने के बाद आयुष्य बांधते हैं।

क्रियावादी जीव भवसिद्धिक हैं लेकिन अभवसिद्धिक नहीं है, जबकि अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक भी होते हैं। सलेश्याजीवों के लिए ऊपर की तरह जानना।

(शतक ३० : उद्देशक-१ समाप्त)





शतक ३० : उद्देशक–२

तत्काल उत्पन्न हुए नारक चार प्रकार के वादी हैं तथा क्रियावादी अनंतरोपपन्नक नारक भवसिद्धिक है।

इस प्रकार शेष तीन से ग्यारह उद्देशक मूल सूत्र से जानना।

इस शतक को पूर्ण करें उससे पहले उपरोक्त ३६३ मत-मतमतांतर के बारे में जैन शासन क्या कहना चाहता है और स्याद्वाद विचार द्वारा उस समय के कोलाहल को कैसे शाँत किया जाता है; उसके बारे में जानें। क्योंकि यह विषय अगत्य का होने से अब हम जीव, नित्य, अनित्य, स्याद्वाद आदि के विषयों को जैन शासन की दृष्टि से जानें।

प्रस्तुत प्रश्नोत्तर की पश्चात भूमिका :

ऊपर के मुताबिक उस वक्त के ३६३ पांखडीयों के मंतव्यों को हम जान सके हैं।

क्रियावादी कहते हैं कि जीव है, अजीव है, पुण्य, पाप, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष है। इस बात को अक्रियावादी विपरीत बताते हैं, वे कहते हैं कि जीव नहीं हैं, अजीव नहीं है और मोक्ष भी नहीं है। जब पदार्थ के यथार्थ को जानने जितनी क्षमता नहीं होती है अथवा पूर्वग्रह के कारण भी सत्यार्थ समझा नहीं जाता हैं, उसके लिए बात-बात में, पंक्ति-पंक्ति में विवाद पैदा है, बढ़ता है और उसमें से मुन्डे मुन्डे मतिर्भिन्नता' इस न्याय से एक पंथ में से दूसरा और दूसरे में से तीसरा पंथ जन्मता है। जो मूल मत से सर्वथा भिन्न होता है। जीव अजीव के अस्तित्त्व या नास्तित्व

में से अज्ञानवाद का जन्म होते कितनी देर लगती है ? क्योंकि संसार के श्रीमंतों को, राजाओं को, रानीओं को, सेठानिओं को या उनके पुत्र, पुत्रीओं को धर्म की मर्यादा तथा सदाचार की मर्यादा अच्छी नहीं लगती होने से स्वैच्छिक खानपान, रहनसहन आदि की अनुकूलता कर दे ऐसे पंथ या धर्म की ओर का आकर्षण हो यह स्वाभाविक है।

अनादिकाल का जीवात्मा मोहमिथ्यात्व के नशे में बेहोश, बेहाल, बेमर्याद, बेशरम, बेरहम, बेकरार और बेईमान बना होने से धर्म की एक भी मर्यादा उसकी समझ में नहीं आती और वह ऐसी मर्यादा को पाल भी नहीं सकता, यह हकीकत है। इस परिस्थिति में राजा महाराजा तथा श्रीमंत आदि को अपने पंथ में लेने के लिए "स्वयं नष्टः परान् नाशयति" इस न्याय से वे मठाधीश कहते हैं कि जीव अजीव नहीं है, पुण्य पाप नहीं है, स्वर्ग-नरक नहीं है इसलिये खाओ पिओ और मौज मनाओ। सब संसार तुम्हारे लिए भोग्य है और तुम भोक्ता हो। इस प्रकार क्रियावादी तथा अक्रियावादी के अभिशाप से अज्ञानवाद का जोर बढ़े और फूले फले यह संभवित है। फलस्वरुप संसार को जुआ, शिकार, शराबपान, परस्त्रीगमन और वेश्यागमन जैसे अनिष्ट तत्वों की बक्षिस मिली। और वे अनिष्ट तत्व बढ़ते गये और व्यापक बने।

इन महापंडितों को अपने पंथ को बहला के स्थिर करने की इतनी धुन थी कि वे यह भी भूल गये कि मानव की मानवता समाप्त होगी तो संसार में सब एक दूजे के शत्रु बनेंगे और मानवजात को कुरूप बनाने का पाप अपने मस्तिष्क पर चढ़ेगा।

मानव जब वितंडावाद, विवाद या रागद्वेषमय होता है तब उसका मतिज्ञान अविकसित रहता है और जीव है यह हकीकत होने के बावजूद भी वह कैसा होगा ? उसका स्वरुप कैसा होगा ? वह परिणामी है या नित्य है उसका गत्यंतर होगा तो कैसे होगा इन सब बातों की यथार्थता के बारे में सोचने के लिए अवसर नहीं रहता है। या तो कुरुप, मलिन, मतिज्ञान के फल ही हठाग्रही हैं, कदाग्रही हैं, वितंडावादी हैं, रागांधता या द्वेषांधता हैं। इस प्रकार ३६३ मतों के प्रवर्तक उनके आचार्य मुनि और उन मतों के भक्तों के पास दूसरे मतवालों को हराने या तो उन्हें नष्ट करने के अलावा दूसरी कोई बात ही नहीं थी।

फिर भी यह सब भक्त आपस में लड़ कर, मारामारी करके ज्यादातर शक्तिहीन बन गये थे। परायी, खूबसूरत कन्या या स्त्रीओं को अपने घर में गुलाम बनाकर श्रीमंत या राजा जरुर खुश हुये होंगे। लेकिन कड़वी तुंबड़ी के बीज में से कड़वा तुंबड़ा ही जन्म लेता है। उसी प्रकार गुप्त दुराचार के अभिशाप से खुद की बहन बेटीओं में गुप्त व्यभिचार पलने लगता हैं तब वे पश्चाताप करने लगते हैं। दधिवाहन राजा को शतानिक राजा ने हराया तो उसको मालवा के राजा चंडप्रद्योत ने हराया। जबकि कोणिक ने अपनी प्रचंड शक्ति से उस वक्त के सब राजा-महाराजाओं को हराया था, फल-स्वरुप व्रतधारी तपस्वी चेड़ा महाराजा (भगवान महावीरस्वामी के मामा और गणतंत्र के अधिनायक) को भी किंकर्तव्य-मूढ की अवस्था में पहुँचा दिया था। इतिहास को साक्षी रखकर हम कह सकते हैं कि उस वक्त सब एक दूसरे के दुश्मन

थे । इसलिए 'मत्स्य गलागल' का न्याय तांडव नृत्य करता था ।

उसी वक्त ही क्षत्रियकुंड नगर के सिद्धार्थराजा की त्रिशलारानी ने देखे १४ सपने की बात, जब बाहर आई तब सब अपने अपने मन में आश्वासित हुये, कि इन सपनों से सूचित तीर्थंकर या चक्रवर्ती ही होता है लेकिन चक्रवर्तीओं की १२ की संख्या पूर्ण हो गई होने से सबको लगा कि, त्रिशलारानी का पुत्र २४ वां तीर्थंकर बनेगा । क्योंकि पार्श्वनाथप्रभु के निर्वाण बाद २४ वें तीर्थंकर महावीरस्वामी होंगे यह बात सबको मालूम थी । चैत्र सुद १३ के दिन रानी पुत्र को जन्म दिया और ६४ इन्द्र और करोड़ों देवदेवीओं ने तत्काल जन्मे प्रभु को मेरुपर्वत पर ले जाकर अभिषिक्त किया तब सबको विश्वास हो गया कि, यह बालक हम सब के लिये 'तिन्नाणं तरयाणं' और मुत्ताणं मोअगाणं' बनेगा । पुत्र का नाम वर्धमानकुमार रखा गया, जो आगे जाकर अपनी दिव्यशक्ति और मूलातिशय द्वारा केवलज्ञान पायेगा और देवाधिदेव, तीर्थंकर सर्वज्ञ, भगवान महावीर स्वामी के नाम से प्रसिद्ध बनेगा । ३० वर्ष की भरी जवानी में संसार और संसारीओं की बेहाल अवस्था देखकर वर्धमान कुमार ने दीक्षा ले ली और १२॥ वर्ष तक अखंड, घोरातिघोर, सर्वथा-अद्वितीय, सम्यक् तपस्यारुपी अग्नि में कर्मक्लेशों को जलाने के बाद केवलज्ञान के मालिक बने और स्याद्वाद का आश्रय लेकर पदार्थों की प्ररुपणा की ।

तीर्थंकर परमात्माओं के धर्म के प्राण समान अहिंसा, संयम और तप यह तीन धर्म आकाश में रहते सूर्य और चंद्र

की तरह अनादिकाल से और अनंतकाल तक शाश्वत रहेंगे। अहिंसा धर्म की सुरक्षा के लिये प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह का संपूर्ण या अल्पांश त्याग करना आवश्यक है।

संयम धर्म की आराधना के लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत तथा तपोधर्म की सेवना के लिए सम्यक्चारित्रान्तर्गत बार प्रकार से सम्यक्तपश्चर्या का विधान है। इन तीन धर्मों में दुनिया के सब धर्मों का समावेश हो जाता है। इससे विपरीत अधर्म है।

जबकि स्याद्वाद धर्म नहीं है लेकिन एक दूसरे की अपेक्षा रखकर किया जाता वचन व्यवहार स्याद्वाद है। "अनंतधर्मात्मक वस्तुनि सापेक्ष रीत्या यो वचन-व्यवहार सः स्याद्वादः" यानि कि, द्रव्य मात्र में अनंत धर्म प्रत्यक्ष गोचर होने से दूसरे किसी धर्म का (पर्यायों का) अपलाप किये बिना भाषा-व्यवहार करना स्याद्वाद है। इसमें दो पद हैं। 'स्यात् और वाद्" स्यात् अव्यय होने से उसका अर्थ अमुक अपेक्षा स होता है और वाद यानि बोलना। भाषा व्यवहार के वक्त बोलनेवाले, लिखनेवाले को, सामनेवाले का आशय समझने के बाद जवाब देना चाहिये, क्योंकि द्रव्यमात्र में स्वअपेक्षा से (अस्तित्वरुप में) और पर अपेक्षा से (नास्तित्व रुप में) अनंत धर्म (पर्याय) विद्यमान हैं। अपना मतिज्ञानावरणीय कर्मों का जोर ज्यादा होने से क्वचित् अपनी बुद्धि में अनंत धर्मों का प्रत्यक्षीकरण न हो इसलिए उस द्रव्य के गुण और पर्याय का निषेध करना था भाषा व्यवहार करना यह जानबूझकर कर्म क्लेशों में फँसने जैसा है। मध की कटोरी में गिरनेवाली मक्खी को मरना ही पड़ता है। उसी प्रकार कर्मक्लेशों में फंसने के

बाद उसकी मिथ्याप्रतिष्ठा में भी फंसा जाता है । जहाँ से बाहर निकलना सर्वथा अशक्य है। क्योंकि अनादिकाल से कुसंस्कारों के कारण अपवाद के सिवा मानवमात्र को सत्य-प्रतिष्ठा से मिथ्याप्रतिष्ठा की माया ज्यादा होती है। तभी तो अपने मतानुयायीओं को आशीर्वाद या निंदकों को शाप देते वक्त अवतारीओं को भी मिथ्याप्रतिष्ठान की माया नड़ती है। तब अपन जैसों की बात करने का कोई अर्थ नहीं है। इसलिए अध्यात्ममूर्धन्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने कहा था कि, मानव ! वाद, विवाद, वितंडावाद तथा छल आदि का त्याग करके संवाद को ग्रहण करना चाहिये । जिससे संसार को तेरे जरिये अहिंसा और संयम की अच्छी बक्शिस मिले।

दर्शनशास्त्र या तर्कशास्त्र के ग्रंथ प्रत्यक्ष दिखते संसार के साथ यदि सुसंगत नहीं है तो वे भी अप्रतिष्ठित होने के कारण उसमें उपदिष्ट तत्व केवल बुद्धि की कसरत के अलावा किस काम में आयेंगे ? और धर्मशास्त्रों की अवगणना करके केवल तर्कवाद के जोर से डंडाडंडी या आपस में वाग्युद्ध करके, एक दूसरे का बैरी बनने से क्या फायदा ?

यद्यपि संसार में दृश्यमान और अदृश्यमान दोनों पदार्थ विद्यमान हैं। अदृश्यमान पदार्थ चाहे हमें आँखों से न दिखे लेकिन उसके कार्य तो प्रत्यक्ष दिखते हैं। इसलिए पूर्वग्रह को बीच में लाये बिना उन पदार्थों का यथार्थ निर्णय करने में ही मनुष्य अवतार की सफलता है। सब धर्मशास्त्रों ने मनुष्य अवतार को देव दुर्लभ कहा है, क्योंकि देव अवतार केवल भोगी होता है, योगी नहीं होता, इसलिए भोगासक्त देवों से भी मानव अवतार दुर्लभतम हैं।

मनुष्य बुद्धिशाली है और बुद्धि उभयग्राहिणी होने से मिथ्यात्व को तथा सम्यक्त्व को भी ग्रहण करने के लिए समर्थ बनती है। आंख बंद करके भी थोड़ा सोचा जाय तो मिथ्यात्व के ग्रहण से भी सम्यक्त्व का ग्रहण आत्मा को ज्यादा लाभदायी है और उसमें भी अपने-अपने शास्त्रों के आधार पर निर्णय करने से पूर्व अपनी सम्यग् बुद्धि के आधार पर निर्णय किया जाये तो कुछ नुकसान नहीं है। क्योंकि संसार के दृश्यमान और अदृश्यमान द्रव्यों के कार्य मानव मात्र को प्रत्यक्ष अनुभव गम्य हैं। आत्मा खुद चाहे अदृश्यमान रहा हो या अपनी छद्म अवस्था के दौरान अदृश्य ही रहे। उसकी चिंता करने के अलावा उसके जो प्रत्यक्ष कार्य हैं उसका निर्णय यथार्थ करना चाहिए।

जड़ और चेतन का मिश्रण यह संसार जिस रूप में है उस रुप में सबको प्रत्यक्ष है। मतलब कि, संसार में सिर्फ जड़ पदार्थ ही नहीं है, केवल चेतन पदार्थ भी नहीं हैं लेकिन चैतन्यस्वरुप जीव को जन्म लेने का स्थान ही जड़ है, इसलिए संसार के छोटे-मोटे जो जड़ पदार्थ हैं वे सब जीवाश्रित हैं या जीव से रखे हुए हैं और सिद्धात्मा को छोड़कर जो जीव हैं वह नियमा जड़ बिना का नहीं है यानि जड़ मिश्रित है इसलिए संसार को, जीव को, उसके कर्मों का तथा उसके भिन्न भिन्न फलादेशों को देखने के बाद यदि निर्णय किया जाये तो वह निर्णय सत्य स्वरुपवाला होने से आपस में बैर-झेर, क्लेश, विरोध जो मिथ्याज्ञान के फल हैं, उनका अवकाश नहीं रहता है।

वह जड़ और चेतन चाहे दृश्यमान हो या न हो तो भी उनके गुण हैं और पर्याय भी हैं। मतलब कि कोई भी द्रव्य,

गुण या पर्यायरहित नहीं है। एकांत नित्य भी नहीं है, अनित्य भी नहीं हैं लेकिन नित्यानित्य है। अब जब आत्मा में रहे नित्यत्व या अनित्व का निर्णय करने का है तभी एकांत बुद्धि से किये जाते निर्णय में कितना खतरा है वह बात बात में होती लड़ाई से स्पष्ट हो जाता है।

इसलिए स्याद्वाद-अनेकांत और अपेक्षा बुद्धि से यदि निर्णीयमान तत्व को देखें तो प्रत्येक द्रव्य में गुण और पर्याय सर्वथा साफ दिखते हैं। इसलिए पर्यायों की ओर न देखने से केवल द्रव्य तत्व का निर्णय भी अधुरा रहेगा। क्योंकि जिस द्रव्य का निर्णय करने का है वह पर्याय रहित नहीं है, इसलिए आत्मा नित्य है लेकिन एकांत से नित्य नहीं है। उसी प्रकार पर्यायों की ओर देखा जाये तो आत्मा अनित्य है, क्योंकि पर्याय अस्थायी है। फिर भी वह एकांत से अनित्य नहीं है, इसलिए पर्यायास्तिक नय के मुताबिक आत्मा को अनित्य कहने में तथा द्रव्यास्तिकनय को नित्य कहने में हरज नहीं है, क्योंकि ये दोनों धर्म वहाँ विराजमान हैं।

एकांत नित्य में बसे दूषण :

आत्मा में सर्वथा यानि किसी से, कभी भी रतिमात्र फरक न हो उसे नित्य माना जाये तो "अप्रच्युता-नुत्पन्न-स्थिरैकस्वरुप नित्यम्" इस न्यायसूत्र से आपके सिद्धांत के अनुसार आत्मा में किसी प्रकार का भी रुपांतर बन नहीं सकता। लेकिन इस प्रकार का एकांत पदार्थ संसार में किसी ने देखा नहीं, दिखता भी नहीं और हजार प्रयत्नों के बावजूद भी दिखेगा नहीं। उसी प्रकार एक भी पदार्थ सर्वथा अनित्य

भी नहीं है, क्योंकि आंखों से देखें पदार्थ का नाश या अदृश्य होने के बाद दूसरे या उसी स्वरुप में न दिखे वह अनित्य है लेकिन ऐसा कभी बना नहीं और ३३ करोड़ देव-देवीओं के परिश्रम से भी बनेगा नहीं।

ऐसी परिस्थिति में किसी भी द्रव्य का यथार्थ निर्णय करना हो तभी उसमें द्रव्यास्तिक और पर्यास्तिक नय की दो दृष्टिओं का उपयोग करना ही सम्यग्ज्ञान है, जो संसार के सब क्लेशों को समाप्त करने के लिए समर्थ है। द्रव्यमात्र में यह दो दृष्टियाँ विद्यमान होने के बावजूद भी केवल अधूरे या भ्रमित ज्ञान के कारण पदार्थ को एक ही दृष्टि से देखने में परस्पर विरोध किसी काल में नहीं मिटेंगे। जिसके कड़वे फल मानव समाज भुगत रहा है। एकांत नित्यवादिओं के कट्टर दुश्मन अनित्यवादी हैं और अनित्यवादीओं के दुश्मन नित्यवादी हैं। जबकि पदार्थ एकांत से नित्य भी नहीं है और अनित्य भी नहीं है।

केवलज्ञान के स्वामी, भगवान महावीर स्वामी समवसरण में बिराजमान होकर चारों ओर बैठी अन्य मतावलंबीओं की पर्षदा को संबोधते कहा कि, हे पंडितो! आप अपने कल्पित और मनघड़ित सिद्धांतों के बल से कषायकलेषित होकर जितने प्रमाण में कुरुप बने हों उससे कई गुना ज्यादा मानव समाज को कुरुप और मलीन बनाने में तथा समग्र भारत देश को मनकल्पित सिद्धांतों में फंसाने का द्रोह किया है, अब आप अपने हृदय का उपयोग कीजिये और पदार्थ में रहे असली तत्व को समझिए।

जैन शासन की दृष्टि से द्रव्यों की वक्तव्यता :

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशस्तिकाय, पुदगलास्तिकाय, काल और जीवास्तिकाय, इन छः द्रव्यों से व्याप्त यह संसार है। उसमें जीव चेतन है, और शेष पाँच द्रव्य जड़ हैं। पुद्गल को छोड़कर सब अरुपी हैं! छः द्रव्य अपने स्वभाव में सर्वथा नियत हैं। यानि नित्य और अवस्थित हैं। इसकी चर्चा प्रथम भाग में की गई है। यहाँ तो सिर्फ जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय की बातें करनी हैं। क्योंकि जीव और पुद्गलों का संबंध अनादिकाल का है। जो केवलज्ञान प्राप्त होने पर सिद्धावस्था के बाद छूट सकेगा। इन द्रव्यों को सत् कहा जाता है। इसलिए जानना जरुरी है कि, 'सत्' यानि द्रव्यों का लक्षण क्या हैं? क्योंकि लक्ष्य के साथ संगत न हो वह लक्षण नहीं बनता और यथार्थ लक्षण के बिना सत् की सिद्धि नहीं होती हैं।

जैन शासन में उत्पाद् व्यय और ध्रौव्य (स्थिरता) ये तीन, द्रव्य मात्र का लक्षण है, अर्थात् तृण से लेकर आत्मा, आकाश या सिद्धशीला में बिराजमान परमात्माओं में भी तीन लक्षण विद्यमान हैं। अदृश्यमान आकाश को भी घटाकाश, पटाकाशरुप में उत्पाद और व्यय नकारा नहीं जा सकता। इसी प्रकार एक देव अपने चालू देवलोक को छोड़कर मनुष्य अवतार में आया और फिर वही जीव मनुष्य अवतार छोड़कर नारक बना। इत्यादि नूतन भवग्रहण में उत्पाद और पहले भव का त्याग करने में व्यय (विनाश है और इस प्रकार अनंत भव के उत्पाद और विनाश में आत्मा की ध्रुवता सर्वथा स्पष्ट दिखाई देती है। जीव को जो

अनुभवज्ञान. और स्मरणज्ञान हैं वही उसकी साक्षी देता है कि, यह जीवात्मा इस भव से पहले दूसरे भव में रह चुका है।

इस प्रकार देवत्वादि भवों के पर्यायों को छोड़ता तथा मनुष्यादि भवों के पर्यायों को स्वीकारती आत्मा अगले पर्यायों के व्यय में और बाद के पर्यायों के उत्पाद में दोनों बार द्रव्य रुप में स्थिर (ध्रौव्य) है। जिस प्रकार सुवर्ण की कंठी में से कंदोरा बनाया तो कंठी का व्यय और कंदोरे का उत्पाद हुआ, इन दोनों में सुवर्णत्व अपने रंग और वजन से भी कायम रहेगा।

इस प्रकार सब द्रव्यों में ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय का प्रत्यक्षीकरण आबाल गोपाल सबको समान हैं। इसलिए आत्मा आदि पदार्थों में ध्रौव्य अवस्था की तरह उत्पाद और व्यय अवस्था को भी स्वीकारना चाहिए। क्योंकि आत्मा में ध्रौव्य का स्वीकार किया जाये तो ही उत्पाद और व्ययरुपी कार्यों से आत्मा आदि पदार्थों की ध्रुवता स्वीकार्य बनेगी। अन्यथा ध्रौव्य बिना के उत्पाद और व्यय गधे के सींग की तरह साबित होंगे।

गुण पर्याय रहित कोई द्रव्य होता नहीं है और संसार के व्यवहार के लिए वह सर्वथा अकिंचितकर होने से व्यवहार की भाषा के लिए उपयुक्त बन नहीं सकता। संसारी या सिद्धशीला के परमात्मा भी अपने अपने गुण पर्याय रहित जैन आगम को मान्य नहीं हैं। आकाश में भी, जीव तथा पुद्गल को अवकाश देने का गुण है और घटाकाश, पटाकाश पर्याय है, यावत् काल द्रव्य को भी भूत, भविष्य और वर्तमान के विशेषण लगाये बिना नहीं चलता। जैसे कि

किसी ने कहा है कि, घड़ा है, कंठी है कमीज है, मकान है, मनुष्य आदि हैं।

ऐसे शब्द प्रयोगों में अपना पूर्वग्रह रहित शुद्धज्ञान कहता है कि, मिट्टी, सुवर्ण, तांबा, पीतल आदि द्रव्य का और पानी भरने के लिए काम में आता बर्तन घड़ा कहलाता है। मिट्टी के घड़े में मिट्टी द्रव्य साक्षात् है क्योंकि, आकार बिना की मिट्टी में पानी भरा नहीं जाता और पीया नहीं जाता। मिट्टी जब कुम्हार के हाथ में आती है तब प्रयोग विशेष से वह उसे घड़े का आकार देता है। यह घड़ा सबको यानी वादीओं को, प्रतिवादीओं को, क्षणिकवादी और नित्यवादीओं को और जगत् को मिथ्या माननेवालों को भी काम में आता है। इस प्रकार मिट्टी द्रव्य घड़े के आकार को पाकर 'घडा' शब्द बनता है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ में द्रव्य और पर्याय दोनों हैं इसलिए भाषा में बोलते वक्त घड़ा नित्य भी है और अनित्य भी है। नित्य इसलिए है कि, पर्याय बदलने के बाद भी मिट्टी आदि द्रव्य नष्ट नहीं होते हैं और अनित्य इसलिए कि, घड़ा (मिट्टी आदि का पर्याय विशेष) कायम नहीं रहता है। स्याद्वाद की भाषा में द्रव्यास्तिक नय से घड़ा नित्य है और पर्यायास्तिक नय से घड़ा अनित्य है।

इस प्रकार दूसरे भी आकार जैसे कि, स्वर्ण की कंठी का आकार रुई का बना शर्ट का आकार, पत्थर चूने से बने मकान का आकार और जीवात्मा का मनुष्य आकार यह सब बदल के भविष्य में घड़े की ठीकरी, शर्ट का रुमाल, कंठी का कंदोरा, और मनुष्य का देव कहलायेंगे। इस प्रकार हजारों पर्यायों में द्रव्य घूमता रहेगा तो भी उसकी ध्रुवता को बाध नहीं आयेगी और पर्याय स्थिर नहीं है इसलिए उत्पाद और व्यय-

युक्त ध्रौव्य का सिद्धांत ही संसारवर्ती पदार्थ मात्र का यथार्थ निर्णय करने में पूर्ण समर्थ है । क्योंकि ऐसा कोई ध्रौव्य पदार्थ है ही नहीं जिसका उत्पाद और व्यय न हुआ हो जैसे कि तुमको मान्य अवतारी पुरुष प्रथम रामावतार को पाकर 'राम' का कार्य समाप्त करके जरूर पड़ने पर कृष्णावतार धारण किया है ।

इस प्रकार कूर्मावतार, शेषावतार, मत्स्यावतार आदि जन्मों के बाद भी अवतारी का आत्मा तुम्हारे मत के हिसाब से एक ही है । सारांश यह है कि अवतारी के आत्मा की ध्रुवता कायम रही और समय समय पर पर्याय बदलते गये । यह सब बातें शास्त्रमान्य और प्रत्यक्षगम्य होने के बावजूद भी पदार्थ कूटस्थ नित्य कैसे माना जाये ? और तुम्हारे न्यायशूत्र में उसकी परिभाषा "प्रतिनियतस्वरुपाच्युतिरुपत्वं कौटस्थयम्" जैसी की गई है । यानि कि, प्रतिनियत अर्थात् निर्णीत किये गये स्वरुप का सर्वथा यानि कि, किसी भी जात की तबदीली के बिना कायम रहना उसे कौटस्थ्य कहते हैं । लेकिन संसार का व्यवहार देखते हुए ऐसा कौटस्थ्य किसी भी पदार्थ में हो नहीं सकता इसलिए द्रव्य मात्र का शुद्ध लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है ।

आत्मा को एकांत ध्रौव्य मानने से उस आत्मा का स्वभाव भी निर्णीत हुए स्वरूप से तबदिली न होने के कारण आत्मा का अवस्था भेद स्वर्ग, मोक्ष या गत्यंतर किसी भी काल में नहीं होगा । मतलब कि, देव का जीव देवअवतार में, मनुष्य का मनुष्यअवतार में और नारक का नारकअवतार में अनंतकाल तक रहेगा । जो आपके कथानकों से सर्वथा

खिलाफ हकिकत है। जैसे कि तुम्हारे मत के हिसाब है ब्रह्मा भी प्रत्येक युग में बदलते हैं, इन्द्र भी लाखों बार जन्में और चलित हुये, नरक का कीड़ा भी नारद जैसे ब्रह्मचारी के दर्शन से नरक में से निकलकर तोते का बच्चा बना उसके बाद संतदर्शन से गाय का बछड़ा बना और वहां से राजा का कुंवर बना, इत्यादि दृष्टांतों से ब्रह्मा जैसे ब्रह्मा भी कुटस्थ नित्य नहीं रहे हैं, इन्द्र भी नहीं रहे हैं और कीड़े के भी कितने अवतार हुये, तब क्या आप ही अपने सिद्धांत को झूठा करोगे ? उपरोक्त बात को कल्पित अर्थात् स्वर्ग-नरक के भेद कल्पित है ऐसा मानने से आत्मा का स्वभाव ही अस्वीकार्य होगा और आत्मा जैसा आत्मा जिसके पर्याय संसार के शब्दकोषों में दिये हैं वे सब झूठे साबित होंगे, जैसे कि स्वभावरहित पदार्थ किसी भी काल में नहीं रहता है और सब द्रव्य अपने स्वभाव से ही दिखते हैं और उनका अनुभव होता है और शास्त्रों में चर्चित होते हैं। उसकी लाखों-करोड़ों श्लोकों में व्याख्या होती है यह सब बातें बेकार हो जायेगी। ऐसी स्थिति में आप क्वचित् जल्दबाजी नहीं दिखाओगे और आत्मा के स्वभाव को स्वीकार करोगे तो उसके उत्पाद और व्यय को भी स्वीकारना पड़ेगा और ऐसा होते ही तुम्हारा एकांत ध्रौव्य का सिद्धांत हवा में उड़ जायेगा। क्योंकि आत्मा खुद ही अपने किये कर्मों के कारण गत्यन्तर करनेवाला है इसलिए गतिओं में घूमते आत्मा की उपलब्धि स्वतः सिद्ध है, यानि कि अरुपी आत्मा भी स्वभाव के कारण भिन्न-भिन्न कार्यों द्वारा प्रत्यक्ष है।

क्वचित् हठाग्रह-पूर्वग्रह तथा मिथ्यात्ववासित बुद्धि के कारण उपरोक्त सब बातों को तुम भ्रांत मानोगे तो उसमें

प्रमाण कौन सा दोगे ? क्योंकि कार्य से प्रत्यक्ष दिखते संसार के अनंतजीव, भिन्न भिन्न शरीरों में, भिन्न भिन्न आकारों में, एक दूसरे से सर्वथा निराले, कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई हंसता, कोई रोता, कोई पंडित, कोई मूर्ख, कोई जनोईधारी, कोई जनोई रहित, कोई ब्राह्मण, कोई संडास साफ करने वाला, कोई गाय को बचाने वाला कोई मारनेवाला, कोई शाकाहारी, कोई मांसाहारी, कोई वेदवेदांत का माननेवाला, कोई उसे हबंग कहनेवाला, कोई जनक, कोई जनेता आदि सब आकारों में प्रत्यक्ष दिखते आत्मा को भ्रांत कहने का तुम्हारे पास प्रमाण है ही नहीं, इससे हताश होकर आप योगियों के ज्ञान को अभ्रांत कहोगे, तो हे पंडित राजाओं! जरा कान खोलकर सुन लो कि, तपस्या और शुद्ध ब्रह्मचर्य से ज्ञानी बने योगी क्या कहते हैं ? उन्होंने जोरदार तरीके से कहा है कि, जीव है, पाप है, पुण्य है, कर्मबंधन है, मोक्ष है, पुण्यात्मा स्वर्ग में जाता है, पापकर्मी नर्क में जाता है, जो एक काल में स्वर्ग में था वही दूसरे में मनुष्य बनता है और वहाँ बुरे कर्म करके नरक में जाता है। जो आत्मा देवलोक में कपूर की गोटी जैसी देवीओं के साथ मौजमजा करता था, अत्तर के कुंड में स्नान करता था और अमृत का भोजन करता था वही आत्मा वहाँ से निकलकर नरकगति में यमदूत का डंडा खाता है, गटर के पानी जैसा पानी पीता है, बार-बार उसका छेदन और भेदन होता है और कर्म के फल भुगत कर समय निकालता है। इन कारणों को लेकर तुम्हारे मान्य पूज्य पतंजली जैसे महर्षि ने भी :—

"अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहाः यमाः"

"शौच संतोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमः"

यह दो सूत्र आपको दिये गये हैं, जिसका भावार्थ इस प्रकार है :—

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह पाँच यम हैं। जिसकी आराधना करने से जीवात्मा सद्गति को पाता है और उससे विपरीत हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह के पापों से भारी बना आत्मा दुर्गति पाता है। शौच यानि आत्मा को पवित्र रखना, संतोष यानि जो मिला है उससे आनंदित रहना, तप यानि मन, वचन, और काया को पवित्र रखना, स्वाध्याय यानि आत्मा का चिंतवन करना और प्रणिधान यानि आत्मा को ही परमात्मा बनाने के लिए ईश्वर की अष्ट प्रकार से द्रव्य और भावपूजा करनी, यह नियम है जिनसे यम सुरक्षित रहते हैं, यह सब बातें आत्मा को द्रव्यास्तिक नय से नित्य और पर्यायास्तिक नये अनित्य मानने से ही सत्य होंगी।

एकान्त अनित्य में दूषण :

आत्मा को एकान्त अध्रुव मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि संसार का कोई भी पदार्थ एकान्ते (सर्वथा) क्षणिक हो ऐसा ज्ञान तथा अनुभव किसी को हुआ नहीं है, तभी तो ५ या २५ साल पहले की गई लेनदेन, सुकृत्य और दुष्कृत्य आदि अपने को याद रह पाते हैं। क्षणविनश्वर आत्मा को मानने से संसार के सब व्यवहार में गड़बड़ होगी और वह गड़बड़ मूंछ पर लींबू रखकर घुमनेवालों से भी मिटेगी नहीं तथा संसार के दृश्यमान पदार्थ सर्वथा अदृश्य हुये हों ऐसा भी किसी ने सुना नहीं है। और ऐसा अनुभव होने वाला

भी नहीं है। इसलिए संसार को प्रत्यक्ष देखने के बाद तार्किक बने हों तो अपना और संसार का भला होते देर नहीं लगती। लेकिन भारत देश की बड़ी कमजोरी और करुणता यह है कि, इस देश के गरीब, अनपढ़ और शूद्रों का संगठन होता है लेकिन पंडित, महापंडित, योगी, महायोगी, श्रीमंत और सत्ताधारीओं का एकीकरण लगभग असंभवित रहा है। और ऐसा होने में विपरीत ज्ञान, मिथ्याज्ञान, मिथ्याप्रतिष्ठा, जातिमद, कुलमद, ज्ञानमद, ऐश्वर्यमद, बलमद और तपोमद ही मुख्य कारण बने हैं।

आत्मा आदि पदार्थों को एकांत में अध्रौव्य मानने से उत्पाद और व्यय किसका होगा ? यानि द्रव्य रहित दोनों कौन से आधार पर रहेंगे ? क्योंकि हेतु के बिना किसका भी उत्पाद नहीं होता है और व्यय भी नहीं होता है और संसार में व्यय और उत्पाद तो होता ही रहता है। तब क्षणिकवाद में जब द्रव्य खुद ही क्षणविनश्वर हो तब उत्पाद और व्यय कैसे होगा ? क्योंकि द्रव्य के बिना उत्पाद और व्यय है ही नहीं। सारांश यह है कि, द्रव्य बिना उत्पाद और व्यय का स्वीकार करनेवाले को आत्मा की एक अवस्था में से दूसरी अवस्था निर्हेतुक माननी पड़ेगी या तो वे अवस्थाएँ निर्हेतुक सिद्ध होगी। परिणामस्वरुप हेतु बिना ही उत्पाद और व्यय मानने गये तो सत् का अभाव असत् की उत्पति होने का प्रसंग आयेगा या आत्मा की हरदम सद्भाव या अभाव की स्थिति उत्पन्न होगी। क्योंकि जिस प्रकार सत् की उत्पति में निर्हेतुकता है उस प्रकार असत् की उत्पति में भी है।

इस प्रकार ध्रौव्य द्रव्य के अभाव में उत्पाद और व्यय को निर्हेतुक मानने से संसार का सब व्यवहार लुप्त होने का प्रसंग आयेगा और जिन सूत्रों से, तर्क और अनुमान से संसार को केवल लड़ाई-टंटा-फिसाद-बैर-विरोध की बत्तीस मिलेगी तो आगमशास्त्रों की शांति-समाधि आदि की व्याख्या का अर्थ क्या ?

उपरोक्त दलीलों से यदि आप उत्पाद और व्यय को सहेतुक मानने जायेंगे यानि कि यदि आप ऐसा मानेंगे कि, ध्रौव्य की विद्यमानता में उत्पाद और व्यय भी सुसंगत हैं तो आपके खुद के हाथ से ही आपका एकांत अध्रौव्य (क्षणिक-वाद) सिद्धांत की मृत्यु होगी, क्योंकि एक के बाद एक दूसरे भाव की उत्पति मानने वाले दोनों पर्याय यानि उत्पाद और व्यय में अन्वयी अर्थात् दोनों का अनुसंधान करनेवाले आत्मा को भी ध्रौव्य मानना पड़ता है, क्योंकि अन्वयी आत्मा ही अपने एक पर्याय रखकर दूसरा स्वीकारता है, इससे उत्पाद और व्यय दोनों की एक साथ सिद्धि होती है, यानि कि, जिस समय उत्पाद होता है उसी वक्त दूसरे पर्याय का व्यय होता है, जैसे कि तराजू की एक डंडी ऊपर जाती है तो दूसरी नीचे जाती है और एक तरफ की नीचे जायेगी तो दूसरी ऊपर जायेगी, इससे विपरित कभी नहीं होता है इसलिए दोनों का समय एक ही है। उसी प्रकार ध्रौव्य द्रव्य में उत्पाद हो और व्यय न हो या तो व्यय हेतु है तो उत्पाद फल है, कारण मिलने पर कार्य (फल) हुये बिना नहीं रहता।

हेतु से फल या सत् से उसकी अवस्था सर्वथा भिन्न है? अभिन्न है ? इस तर्कजाल में फंसकर तुम बात करना चाहते

हो तो तुम्हारे सामने अनेक दोष आयेंगे, जिनसे आपकी मुक्ति सरल नहीं होगी। जैसे कि हेतु से फल सर्वथा भिन्न मानने में कौन किसका कारण बनेगा ? क्योंकि हेतु और फल आप भिन्न मान रहे हैं। ऐसी अवस्था में उत्पाद, व्यय का कारण बनेगा या व्यय, उत्पाद का कारण बनेगा ? आपके पास एक भी जवाब नहीं है।

क्वचित् दोनों को अभिन्न मानने गये तो दोनों एक ही सिद्ध होंगे। अर्थात् जो हेतु है वही फल है और जो फल है वही हेतु है। इसके अलावा दूसरे दूषणों से बचना भी मुश्किल है और देवत्वादि से मनुष्यत्वादि में भी परेशानी होगी और ऐसा होने से शास्त्रों में दिये गये यम, नियम, तप, प्राणायम आदि सत्कार्यों से कौन सा फल मिलेगा ? उसी प्रकार आपके मत के मुताबिक सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यग्वाग आदि तुम्हारे बौद्ध शासन के सूत्र भी निरर्थक रहेंगे या तो वाणी विलास तक ही सीमित रहेंगे। इसलिए एकांत ध्रौव्य में जो दूषण थे वही एकांत अध्रुव्य में आये बिना नहीं रहेंगे।

इसलिये सत्त मात्र, उत्पाद व्यय और ध्रौव्य युक्त ही मानना ज्याद सत्य है और संसार में उसका प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है, जैसे कि पापकर्मी आत्मा नरक में गया और और आत्मा में ध्रौव्यत्य होने से मनुष्य अवतार में किये गये पाप को नरक में वही आत्मा भुगतेगा और ध्रौव्य है तो उत्पाद और व्यय तो आबाल-गोपाल प्रत्यक्ष है। सिद्धांत और सूत्र ऐसे होने चाहिये कि, संसार के प्रत्येक व्यवहार के साथ कार्य कारण का निर्णय कर सके और व्यवहार में कहीं असंगति का प्रवेश न होने पाये।

ऊपर के मुताबिक आत्मा को सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य माननेवालों को दया के सागर, अरिहंत परमात्मा ने कहा है कि, तर्क एक बात है और पाप-पुण्य से जिसे हम भुगत रहे हैं वह संसार अलग बात है। तर्क सूत्र या सिद्धांत-सूत्र जब जब संसार की यथार्थता के साथ संबंधित नहीं होते हैं तब संसार की बेहाल अवस्था होती है। तर्क के पाप से महापंडितों में से छोटे पंडितों का जोर बढ़ता है और वर्षा ऋतु में मेंढक की बढ़ती संख्या की तरह ऐसे पंडितों की संख्या बढ़ती जाती है। सबके बाजे भिन्न, भठ भिन्न, शास्त्र भिन्न, चेले शिष्य भिन्न और भगतराम भी भिन्न। परिणामस्वरुप तुम्हारे जैसे शास्त्रों की दुहाई देनेवाले पंडितों के सामने ही लाखों करोड़ों मुक प्राणियों की कत्ल की जाये, उसका माँस तुम आराम से खाओ, उसे पचाने के लिए शराबपान करो, और वेश्यागमन, व्यभिचार, दुराचार, पापाचरण आदि का बोलबाला हो उसमें आश्चर्य की बात क्या है और एक पंडित दूसरे का, एक राजा दूसरे का, एक आचार्य दूसरे आचार्य का बैरी होकर अपने व्यक्तित्व का समाज का और देश का दुश्मन बनता है। तुम चाहे कैसा भी अकाट्य तर्क या अनुमान करो छल, प्रपंच करो लेकिन संसार का चक्र किसी काल में बदला नहीं जा सकेगा।

इसलिए हठाग्रह कदाग्रह, मिथ्या प्रतिष्ठा तथा संसार में विजेता बनने की मिथ्या लालसा को त्याग दोगे तभी आंतर जीवन में सम्यगज्ञान यथार्थज्ञान और स्वपरप्रकाश ज्ञान का भव्य प्रकाश पाने की तक हाथ लगेगी। अनादिकाल से मिथ्याज्ञान, अयथार्थज्ञान और स्वपर नाशक ज्ञान तो पाते आये हैं लेकिन वह ज्ञान कुत्सित ज्ञान होने से किसी को भी

खास करके सम्यग्दृष्टाओं को किसी काल में भी मान्य नहीं होता है। इसलिए तुम स्याद्वाद को, अपेक्षावाद को और संसार के प्रत्येक पदार्थ में द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक नयों की विद्यमानता को समझो। जिसे तुम्हारा भाषा व्यवहार भी सुन्दर बनेगा और संसार को अमृत मिलेगा।

देवाधिदेव का अंतिम उद्बोधन :

आँख से दिखते या न दिखते पदार्थ पर्यायात्मक होने के कारण एक समान रहते नहीं हैं, इसलिए उसमें प्रत्येक क्षण अन्यत्व-भिन्नत्व होता रहता है (अन्यत्व का अर्थ सर्वथा नाश नहीं लेकिन रुपांतर समझना) क्योंकि चिति (वृद्धि) अपिचिति (ह्रास) या उत्पाद और व्यय दोनों का हमेशा सद्भाव रहने से उन पदार्थों में आकृति यानि आकार विशेष रुप व्यक्ति और जाति यानि सामान्य नाम के दोनों धर्मों का सदैव वहाँ आवास है, यानि कि जिस वक्त उत्पाद होता है तब उस पदार्थ में सामान्यत्व और विशेषत्व की स्थिति होती है, इस प्रकार व्यय में भी समझना, जिस प्रकार सफेद टोपी को लाल की तो सफेद पर्याय का व्यय और लाल पर्याय का उत्पाद हुआ और वस्त्र की ध्रुवता कायम रही, फिर भी नाम, जाति, आदि के विशेषण लगाये बिना जो शब्द व्यवहार किया जाता है वह सामान्य है और अमुक नाम, जाति, आकार आदि विशेषणपूर्वक जो भाषा व्यवहार होता है वह विशेष कहलाता है। सारांश यह है कि, पदार्थ मात्र में वे दोनों धर्म दूध और शक्कर की तरह स्वतः बसे हैं, इसलिए समवाय संबंध से पदार्थ में सामान्य और विशेष की कल्पना करनी सर्वथा निरर्थक और निष्फल है।

स्वतः सिद्ध चीज में तर्क लगाने का अर्थ इतना ही है कि, जानबूझकर संसार के प्रपंच में फंसकर जीवन बरबाद करना।

घट में घटत्व सामान्य की सिद्धि स्वतः सिद्ध है इसलिए समवाय को बीच में लाने से क्या फायदा। इस प्रकार मिट्टी का घड़ा विशेष है, मनुष्य में मनुष्यत्व सामान्य है और क्षत्रिय 'वह' विशेष हैं। शर्ट में वस्त्रत्व सामान्य है और लाल शर्ट विशेष है। कंदोरे में सुवर्णत्व सामान्य है और कंदोरा आकार विशेष होने से विशेष इत्यादि तृण से लेकर इन्द्र महाराज तक सब पदार्थों में सामान्य विशेष रहते हैं। घड़ा तूटा और उसके ठीकरे हुये उसमें भी माटीत्व सामान्य है और ठीकरे विशेष हैं।

इस प्रकार पदार्थमात्र में स्वभावानुसार नरकादिगतिओं के भेद और संसार मोक्ष के भेद भी स्वतः सिद्ध है। हिंसा, आरंभ, बहुपरिग्रह आदि नरकादि गतिओं का कारण है और सम्यक्त्वादि मोक्ष का कारण है। मनुष्य गति में यदि आदमी दुर्बुधिवश होकर हिंसादि कार्यों में जीवन पूर्ण करेगा तो चालु पर्याय का त्याग करके नरक की ओर जाना पड़ेगा और यदि सम्यक्त्वादि की आराधना करेगा तो सिद्धशीला की ओर जाने को मिलेगा।

यह सब बातें तृण से लेकर इन्द्रपद तक के पदार्थों में उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य इन तीनों को मानने से ही सिद्धि होगी। क्योंकि उत्पादादिरहित चीज को मानने से चीज का अभाव ही सिद्ध रहेगा और ऐसा होने से गतिओं के भेद और उनके कारण जो तुम्हारे शास्त्रों में दिये गये हैं वे निरर्थक साबित होंगे।

उपादान को माने बिना किसी भी पदार्थ में उत्पाद और व्यय घट नहीं सकते। आंख से दिखते प्रत्यक्षपदार्थ में उपादान को मानना सर्वथा अनिवार्य है, जैसे कि मानव शरीर में आत्मा उपादान है, घडादि में मिटी उपादान है, वनस्पति आदि कीड़ों में जीव उपादान है। संसार संचालन के यह मौलिक तत्त्व को ही यदि माना न जाये या उसे एकांत ध्रौव्य और क्षणिक मानने में आये तो आंख से दिखता और जिसके अनुभव में हम खुद प्रत्यक्ष कर रहे हैं वह संसार कैसा दयनीय बन पायेगा? इसलिए जिस तरीके से संसार दिखता है और उसका अनुभव होता है उसमें ध्रौव्य- उत्पाद और व्यय को मानने के अलावा दूसरा कोई मार्ग है?

मोक्ष पानेवाले जीव को सिद्ध पर्याय का उत्पाद और मनुष्य पर्याय व्यय तथा दोनों में जीव की ध्रुवता माननी ही पड़ेगी। इसलिए केवल उत्पाद या व्यय ही नहीं है बल्कि उसमें अन्वय जैसा ध्रौव्य भी सिद्ध है और इन तीनों का समाहितत्त्व सहचारित्व भी समझ लेना।

इसलिए आत्मा एकांत में नित्य नहीं है अनित्य नहीं है लेकिन नित्यानित्य है।

द्रव्य खुद स्वअपेक्षा से सत् है और पर अपेक्षा से असत् है।

चेतन होने के कारण आत्मा, जड़ शरीर से भिन्न है और कर्मोपाधि के कारण अभिन्न होने से आत्मा में भिन्नाभिन्नत्व भी है।

उपरोक्त वक्तव्यकता के कारण समवसरण में बैठे बहुत मानवों ने धर्म की यथार्थता समझकर अपनी जात को,

मिथ्यात्व को तथा वेष को त्याग दिया था और देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी के चरणों में सम्यक्त्वी, महाव्रतधारी और देवविरतिधारी बने थे। मनमंतातर में से बहुत से भाग्यशाली जैन शासन का स्वीकार करके धन्य बने थे।

अक्रियावादी, अज्ञानवादी, तथा वैनयिकवादी के मत को मानकर मांसाहार, शराबपान तथा परस्त्री गमन में मस्त बने बहुत से राजा, राजपुत्र, राजकारणी, उनकी पुत्रियाँ, श्रीमंत, शेठाणीयां, उनके पुत्र-पुत्री आदि ने संसार का त्याग किया और महावीर प्रभु के अंतवासी बने।

गृहस्थाश्रम में रहकर भी बहुत से राजा और उनके परिवारों ने मांसाहारादि का त्याग किया और शुद्ध व्रत-धारी बने।

यज्ञों के कुंड ठंडे पड़े, गुलामी प्रथा के माध्यम से व्यभि-चार, दुराचार तथा कुकर्मों का अंत आया।

गली गली का वाग्युद्ध और मठाधीशों की डंडाडंडी समाप्त हुई।

पंडितों और महापंडितों का जोर सर्वथा कमजोर पड़ा।

श्रीमंतों का विलासी जीवन वैरागी बना। उनकी पत्नीयाँ और पुत्रीओं ने कामदेव की स्कूल का त्याग किया और वे चंदनबाला की अन्तेवासीनी बनी और जीवन कृतार्थ किया।

जातिमद और कुलमद को माननेवाले मेतारजमुनि तथा हरिकेशीमुनि के चरणोपासक बने और उनकी मदांधता शिथिल बनी।

सर्वस्व त्याग को अपनानेवाली मृगावतीरानी ने कामदेव

के नशे में अंध बने मालवाधिपति चंडप्रधोत राजा को महावीर स्वामी के चरणों में भाव-श्रावक बनाकर संसार को रणभेदान बनाने से बचानेवाली भाग्यशाली बनी।

तीन दिन की भूख और प्यास से उत्पन्न हुई असहय वेदना को उसके रोष को सद्विवेक द्वारा अपने में समा लेने-वाली चंपानगरी के दधिवहन राजा की पुत्री चंदनबाला, गुलामी प्रथा के पाप से श्रीमंतों में और राजाओं में मलेरिया के जंतु की तरह फैले व्यभिचार को समाप्त करने में मौलिक कारण बनी थी।

धन्ना और शालीभद्र जैसे लक्ष्मी के लाडले श्रीमंताई के नशे में से मुक्त होकर संयमधर्मी बने।

उदायी राजा, प्रसन्नचंद्र राजा और अनाथिमुनि जैसे राजा अपने राजवैभव को लात मारकार वैराग्य को पोषने-वाले महावीर स्वामी के संयमी वेष का स्वीकार करके कृत-कृत्य बने।

चार बुद्धि के स्वामी, पांच सौ मंत्रीओं के अधिनायक, अभयकुमार जैसे जैन शासक के रक्षक बने।

इत्यादि अगणित व्यक्ति, अहिंसा, संयम, और तपोधर्म स्वरुप जैन शासन को स्वीकारने के लिए भाग्यशाली बनी हैं।

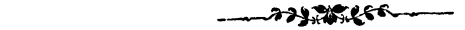
(शतक ३० : उद्देशक-२ समाप्त)



'समाप्ति वचनम्'

चरमतीर्थंकर, देवाधिदेव, श्री महावीर स्वामी की ७४ वीं पाटको द्रव्य तथा भाव से शोभाने वाले, स्याद्वाद दृष्टि संपन्न, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य १००८ श्रीविजयधर्मसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, शासन दीपक, मुनिराज श्रीविद्याविजयजी म के शिष्यरत्न, न्याय, व्याकरण, काव्यतीर्थ, पंन्यासपद विभूषित गणिवर्य श्री पूर्णानंद विजय (कुमार श्रमण) ने भगवतीसूत्र के ३० वें शतक को यथामति विवेचित किया है और सबके मतिज्ञान के विकास में काम आये ऐसी लेखक की शुभेच्छा है।

॥ शतक ३० समाप्त ॥



शतक ३१ : उद्देशक–१

क्षुद्रकृतयुग्मादि प्रकार से नारकों का वर्णन :

हे प्रभो! क्षुद्रयुग्म कितने हैं?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम! क्षुद्रयुग्म चार प्रकार के हैं।

(१) क्षुद्रकृतयुग्म (२) क्षुद्रत्र्योजयुग्म (३) क्षुद्रद्वापरयुग्म (४) क्षुद्रकल्पोजयुग्म।

राजगृही नगरी में चतुर्विधसंघ के साथ देवाधिदेव, भगवान महावीर स्वामी पधारे हैं। समवसरण में विराजित प्रभु को, गौतम स्वामी ने उपरोक्त प्रश्न पूछे हैं और परमात्मा ने उसके जवाब दिये हैं। यहाँ युग्म का अर्थ संख्या वाचक है और क्षुद्र से छोटी संख्या समझनी है। काल्पनिक संख्या

को चार से भागने के बाद शेष चार बचे उसे कृतयुग्म कहते हैं, जैसे कि चार, आठ, बारह, सोलह ।

चार से भागने के बाद शेष तीन बचे उसे त्र्योज संख्या कहते हैं जैसे कि, सात, ग्यारह, पंद्रह ।

चार से भागने के बाद, शेष दो रहे उसे द्वापर संख्या जाननी, जैसे कि छः दस ।

और शेष एक रहेगा वह कल्योज कहलायेगा । जैसे कि पांच, नौ, तेरह आदि ।

क्षुद्रकृतयुग्म नारक कहां से आकर उत्पन्न होते हैं ?

हे प्रभो ! क्षुद्रकृतयुग्म संख्या संपन्न नारक नरकभूमि में कहाँ से यानि कौनसी गति का त्याग करके नरक में जन्म लेते हैं ?

जवाब में भगवंत ने फरमाया कि हे, गौतम ! वे पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनि और गर्भज मनुष्यों की योनि में से मरकर नरकभूमि में आते हैं । यानि देवगति या नरकगति का एक भी जीव नरकभूमि में नहीं आता है । क्योंकि नरकगतिवाले जीव को तुरंत नरकगति का आयुष्य नहीं बांधना पड़ता है और देवगति के देवों को भी नरकभूमि के प्रायोग्य पापकर्म नहीं होते हैं । इसलिए नरक जीव चालु भव से सीधा दूसरे भव में नरक में नहीं जाता है और देवलोक का देव भी सीधा नरक में जन्म नहीं लेता है ।

तिर्यंच और मनुष्य ही नरक में क्यों उत्पन्न होतें है ?

जवाब में भगवंत ने फरमाया कि, पूर्वभव में किये गये पाप को लेकर प्राप्त तिर्यंचावतार में प्रायः करके अविवेक,

खानपानादि की पराधीनता और विशिष्ट सम्यग्बुद्धि का अभाव होने से भूत भविष्य की विचारणा उनमें होती नहीं है। इसलिए वे तिर्यंच कभी भी पाप कर्मों का सेवन करके नरकगति के योग्य कर्म बांध लेते हैं। बहुत से पंचेन्द्रिय हिंसक अवतार पानेवाले सिंह, बाघ, चीता, नाग, बिल्ली, कौआ, गीध आदि जानवरों की हिंसकवृति सहज होने से उनको परजीवों की हत्या भी स्वाभाविक होती है।

जीव हत्या चाहे पेट भरने के लिये हो या मजाक के लिए, हत्या तो हत्या ही रहती है।

जबकि ८४ लाख जीवयोनियों में मनुष्य अवतार श्रेष्ठतम होने से उसकी शुभ या अशुभ सभी क्रियाएँ बुद्धिपूर्वक ही होती हैं। जिसके दुर्बुद्धि तथा सद्बुद्धि नामक दो प्रकार हैं।

मानव जीवन में मिथ्यात्व और मोह का जोरदार हमला होता है तब वह कुबुद्धि का मालिक बनकर हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह के पाप की ओर आसक्त बनता है और अवसर आने पर उनका क्रूरतापूर्वक आचरण करता है। इसमें शक नहीं है कि व्यवहार के लिये ही ये लोग धर्म का स्वांग, धार्मिकता का ढोंग और भाषा का प्रयोग सुंदर ढंग से करते हैं। लेकिन आन्तरिक जीवन में वे स्वार्थांध, लोभांध, कामांध, और मदांध होने से अपने स्वार्थ के अलावा, दूसरे एक भी सत्यकार्य, दीन दुःखी की मदद, अनाथ, दरिद्र, गरीब की सेवा या उनके बच्चों को शिक्षण आदि देने में उन्हें कोई रस नहीं होता है। अर्थ और अपने काम का जहाँ स्वार्थ हो वहाँ ही दान ब्रह्मचर्य तप या भाव का उपयोग करने में वे प्रविण होते हैं और उसकी साधना होने के बाद जैसे पहले थे वैसे कठोर, कटुभाषी बन जाते हैं। क्योंकि उनके आत्मा पर

कुबुद्धि की जोरदार परछाई पड़ी हुई है।

फलस्वरुप उनकी भाषा, व्यवहार, व्यापार, तौलनाप आदि में हिंसकवृत्ति होने से नरकगति के योग्य कर्मों का बंधन उनको सुलभ होता है। इसलिए तीर्थंकर परमात्मा ने कहा है कि, तिर्यंच और मनुष्य नरक में जाने की योग्यता रखते हैं।

क्षुद्रकृत युग्म नारक चार, आठ बारह, या संख्यात, असंख्यात की संख्या में नरक में उत्पन्न होते हैं। कूदनेवाला आदमी जैसे कूदकर गत्यंतर करता है, उसी प्रकार अपना पूर्वभव छोड़कर नारक जीव नरकभूमि में आते हैं। वे अपने प्रयोग से गति करनेवाले होते हैं।

'ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गंवा श्वभ्रं वा' इस उक्ति का खंडन भगवतीसूत्र से हो जाता है। जैसे कि अंतिम तीन समय में ही नरकवाला जीव खुद अपने ही प्रयोग से नरक में जाता है।

नरकभूमि में जाने के लिए ईश्वर किसी को भी पापबुद्धि नहीं देता है। लेकिन मनुष्य खुद अशुभ और अशुद्ध अव्यवसाय, दुष्ट बुद्धि, कुकर्म, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन, शराबपान, मांसाहार, चोरी जुआ आदि के कारण हजारों जीवों के साथ बैर की गांठ बांध लेता है और नरक में जाता है। 'तामसा वै अधो गच्छान्ति' इस गीता सूत्र के आधार पर भी तामसिक और राजसिक स्वभाव के आदमी नरकभूमि को प्राप्त करते हैं।

उस भूमि में जाने से पहले चालु भव का आयुष्य क्षीण होने से तुरंत नरकायुष्य का उदय होता है और नरकानुपूर्वी

नामक कर्म की बेड़ी जीवात्मा के हाथ में पड़ती है। इस चालु मनुष्य भव में मोहमाया से प्रेरित होकर शुशोभित बंगला, फर्नीचर, मच्छरदानी, पलंग, सोफा, हीरामोती की चूड़ियों से सुशोभित की गई प्राण प्यारी, लाडले पुत्रपुत्री, सगा संबंधी, तथा अन्य परिवारवालों को रुलाकर जीवात्मा अकेली नरक की ओर प्रस्थान करता है। उपरोक्त कथन रत्नप्रभा आदि नरक में उत्पन्न होनेवालों के लिए भी जानना। विशेष में जो जीव नरकभूमि में जाने की योग्यता-वाले हों उनको वह नरक कहनी। जैसे कि, असंज्ञी जीवों के लिए प्रथम नरक ही मान्य हैं। सरीसृपों को दूसरी नरक, पक्षिओं को तीसरी, सिंह को चौथी, काले नाग को पाँचवीं, स्त्रीओं को छठी और मुछ को ताव देनेवाले पुरुषों और मछलीओं के लिए सातवीं नरक के द्वार खुले हैं।

क्षुद्रव्योज राशि के प्रमाण से नारक ३-७-१ की संख्यात-असंख्यात प्रमाण में नरक में जाते हैं।

क्षुद्रद्वापर पर के राशि प्रमाण के नारक २-६-१० संख्यात-असंख्यात प्रमाण में नरक में जाते हैं।

क्षुद्र कल्योज राशि प्रमाण के नारक १-५-९-१३ संख्यात-असंख्यात राशि में नरक में जाते हैं।

जीवों के लिए नरकभूमि नियत क्यों है ?

जीवात्मा से सब एक समान होने के बावजूद और प्राणीवध में छोटेमोटे प्राणी तथा उनके प्राण एक समान होते हुये भी जीवों के लिए अमुक नरक की व्यवस्था करने का आशय क्या ? एकेन्द्रीय या पंचेन्द्रिय जीव मृत्यु की इच्छा नहीं करता है फिर भी प्राणहत्या करनेवाला, अशुभ आशय

से कर रहा हो तब नरकगति में तबदिली क्यों ? काला नाग, शेर, बाघ आदि मानव की मृत्यु के कारण बनते हैं और मरनेवाला आदमी यह नहीं चाहता है कि नाग काटे, या बाघ-शेर मुझे खा जाये, फिर भी काला नाग काटता है और आदमी मरता है, बाघ-शेर उसका खून पीता है और आदमी मरता है। दोनों स्थिति में बाघ और नाग मारक है, फिर भी शेरादि के लिए चौथी नरकभूमि नियत क्यों है ? और सर्प के लिए पाँचवीं नरकभूमि क्यों ?

पुरुष और स्त्री दोनों मैथुन कर्म में मस्त बनकर काम-क्रीड़ा करते हैं, उस समय पुरुष को मैथुन भाव कम है और स्त्री को ज्यादा है यह कहना बराबर नहीं हैं। दो से नव लाख जीवों का हनन करने का पाप पुरुष को ज्यादा लगता हो या स्त्री के अवाच्य स्थान में उन जीवों का उत्पादन होता है लेकिन उनका मारक तो पुरुष ही है इसलिए क्या स्त्री को कम पाप लगता है ? ऐसी कल्पना करनी सर्वथा अज्ञान है। क्योंकि जो उत्पादक हो उसी को भी जीवहत्या लगे बिना नहीं रहती। या तो स्त्री को काम की उत्पत्ति आठ गुनी ज्यादा और पुरुष का काम कम होता है इसलिए उसे पाप भी कम लगता है ऐसा मानना महा अज्ञान का सूचित है। क्योंकि स्त्री के गंदे स्थान में उत्पन्न हुये जीवों को मारने की क्रिया में पुरुष और उसकी विशेष शक्ति मुख्य कारण बनती है, क्योंकि पुरुष भोक्ता है और स्त्रीमात्र भोग्य है। लेकिन भोक्ता को ज्यादा पाप लगे यह कल्पना उचित नहीं है। ऐसी परिस्थिति के बावजूद स्त्री और पुरुष की नरकगति की मर्यादा भिन्न भिन्न क्यों ? व्यवहारिक दृष्टि को लेकर स्त्री को काम आठ गुना होता है ऐसा कहनेवाले चाहे कहते रहें

लेकिन सत्यता क्या है ? क्या पुरुष को काम नहीं होता है ? या पुरुष प्रधानता की मिथ्या कल्पना से पुरुष को निर्दोष या कम गुन्हेगार सिद्ध करने का प्रयास है ? स्त्री को यदि काम ज्यादा है तो उसे पाप भी ज्यादा लगने के कारण स्त्री को सातवीं और पुरुष को छठी नरक कहनी चाहिए। लेकिन भगवतीसूत्र पुरुष को सातवीं नरक और स्त्री को छठी नरक कहता है।

इन सब बातों में असली तत्व क्या है यह जानने का प्रयास करना चाहिए।

परिणाम ही कर्मबंधन में वैचित्र्य लानेवाले हैं :

८४ लाख जीवयोनियों के अनंतानंत जीवों की आत्मिक, मानसिक और बौद्धिक विचारधारा एक समान न होने से कर्मों के बंधन में वैचित्र्य हो यह सभव है और जब बंधन में ही विचित्रता हो तब उन कर्मों के फल और फिर से बंधते कर्म भी एक समान कहाँ से होंगे ?

तालाब या कुएँ में पानी है, लेकिन उसे घर घर पहुँचाने में नल की आवश्यकता को कैसे नकारा जा सकता है ? लेकिन नल में भी यदि काट या दूसरी गंदकी होगी तो स्वच्छ पानी भी गंदा, रोगिस्ट और पीनेवाले के लिए हानी-कारक साबित होगा और यदि नल स्वच्छ होगा तो पानी भी स्वच्छ और पीने लायक बनेगा। उसी प्रकार कर्म की आठ वर्गणा के पुद्गल एक समान होने के बावजूद भी यदि मानव का मन, वचन और कायारुपी तीन नल पापपूर्ण होंगे तो कर्म की नई वर्गणा में भी अशुभत्व और यदि धर्ममय होंगे तो शुभत्व का प्रवेश शुलभ बनेगा, अर्थात् कर्मों के

शुभाशुभ बंधन में मानव का मन, वचन और काया का शुभाशुभ परिणाम ही मुख्य कारणरुप बनेगा।

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह के माध्यम से बंधते पापों में सब पापों का समावेश हो जाता है। उस वक्त कषाय भाव की तीव्रता हो, इन्द्रियों के तूफान से आत्मा पर वश हो, मन, वचन काया में वक्रता, विसंवादिता और नापाक चेष्टा हो, तब आत्मा की एक भी क्रिया शुभ नहीं रहती, मतलब यह है कि, उसकी सब क्रियाओं में कषाय की और विषय की तीव्रता ही मुख्य रूप से काम करती है। कषाय भावों का उदय या उदीर्णा सबकी एक समान नहीं होती है, उसी प्रकार इन्द्रियों के तूफान भी एक समान नहीं होते हैं। इसलिए बहुत से जीवों की बाह्य क्रिया एक समान होने के बावजूद भी नए कर्मों में वैविध्य आ ही जाता है जो इस प्रकार है—

(१) एक आदमी के पास तलवार और बंदुक जैसे शस्त्र हैं, सामनेवाले को मारने का इरादा है शरीर, शस्त्र का उपयोग करने में सशक्त है, लेकिन मानसिक विचारों में उतनी उग्रता नहीं है, जितनी कि होनी चाहिए और सामनेवाले को मारने के उग्र भावना भी नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि शरीर, शस्त्र का उपयोग करेगा तो भी कर्म का बंधन मंद रहेगा।

(२) दूसरे आदमी के पास शस्त्रादि नहीं है, कलम नहीं है लेकिन परहत्या, परस्त्रीगमन, पापचरण, मायाचरण आदि के मानसिक विचारों की अति उग्रता है, इसलिए उसका कर्म बंधन तीव्रतर रसवाला, लंबी मर्यादावाला और निकाचित होगा।

(३) एक व्यक्ति अपने सामने वाले को जानबूझकर अपने व्यूह में फंसाकर मारती है, जबकि दूसरी व्यक्ति इच्छा न होने पर भी अज्ञात भाव से मारती है तो इन दोनों में प्रथम व्यक्ति का कर्म बंधन जोरदार रहेगा जबकि दूसरी का माफी मांग लेने से भी टूट जायेगा।

(४) एक व्यक्ति मन-वचन और काया से शक्त है, उसके पास शस्त्र भी अच्छे हैं और जानबूझकर सामनेवाले पर घात करता है, जबकि दूसरा व्यक्ति मन-वचन और काया से अशक्त है, शक्तिहीन है और उसके पास शस्त्र भी बहुत घातक नहीं हैं और सामनेवाले को मारने का इरादा है। ऐसी स्थिति में प्रथम व्यक्ति के भाग्य में भयंकर चिकने कर्मों का बंधन रहेगा और दूसरी व्यक्ति के कर्म बंधन ढीले रहेंगे। इन सब कारणों को लेकर उसके फलादेश में विचित्रता आवे यह भी समझी जानेवाली बात है।

गतभव में बांधे गये जोरदार मिथ्यात्व, पापासक्ति और दुराचार में जीवन पूर्ण करनेवाला आदमी चालु भव में तिर्यंच या संमूर्च्छिम अवतार पायेगा, जहाँ मन का अभाव होने से उनके द्वारा किये जाते पाप में तीव्रता न होने से वे प्रथम नरकभूमि से आगे नहीं जा सकते हैं। क्योंकि कृष्ण-लेश्यावाले से नील लेश्या में और उससे कापोत लेश्या में उग्रता क्रमशः कम होती है। फिर भी पापों में पाप की भावना होने से और उनकी विरति का अभाव आदि होने से वे प्रथम नरकभूमि के मालिक बनते हैं।

सरसृप आदि कीड़े भी दूसरों को काटते हैं लेकिन उनके काटने में घातकता नहीं होती है इसलिए वे दूसरी नरक भूमि से आगे नहीं जा सकते हैं।

शेर बाघ भी अपने पेट के लिए दूसरे छोटे-मोटे पंचेन्द्रिय जीवों को मारते हैं उनका आनंद से भक्षण करते हैं उनके मांस और रक्त का पान करते हैं। इन सब बातों में भूख संतोषने का ही कारण होता है। भयग्रस्त अवस्था में भी यदि वे हमला करते हैं तो भी उनको चौथी नरकभूमि प्राप्त होती है। जबकि ताकत में शेर से सर्प कम होता है लेकिन सर्प में क्रूरता ज्यादा है वह काटता है लेकिन मनुष्य का मांस या रक्त उसके मुंह में नहीं आता है यानि कि सर्प के जीवन में क्रूरता ज्यादा होती है। इसलिए कहा गया है कि क्रोधी आदमी से क्रूर आदमी ज्यादा भयंकर है। शेर वनराज के पेट की भूख जब मिट जाती है तो बारह घंटा आराम से नींद कर लेता है, जबकि क्रूर प्रकृतिवाला सर्प ऐसा नहीं करता है वह तो अपने पूर्व भव के बैरी को ढुंढ़ निकालता है और काटता है और भाग जाता है। यदि पकड़ा जाता है तो बिना मौत मरता है। गत भव में क्रूरतापूर्वक का जीवन होने से सर्प के इस भव में दुश्मन भी ज्यादा रहते हैं। मयूर (मोर) सर्प को देखकर उसकी पूंछ पकड़कर उड़ता है और उसको ऊपर से पत्थर पर फेंककर मारता है। मरने के बाद उसको चीरकर खाता है। बंदर भी उसे होशियारी से पत्थर से छुंदकर मारता है। नेवला भी उसे चीरकर खा जाता है। और आदमी भी सर्प के दुश्मन होते ही हैं।

तुफान करते सर्प को पाँच पच्चीस आदमी घेर लेते हैं और उसके टुकड़े न हो तब तक उसे डंडे से पीटते रहते हैं।

इससे मालूम पड़ता है कि, सर्प का अवतार मर्यादातीत क्रूरता का परिपाक है। क्रोधी आदमी कारण या बिना कारण हजारों मानवों के साथ क्रोध करता है और यह क्रोध

जब क्रूरता में परिवर्तित होता है तब वैसी लेश्या के अभिशाप से सर्प का अवतार ही भाग्य में शेष रहता है । वहाँ पूर्वभव की क्रूरता के कारण असंख्य जीवों का क्रूरतापूर्वक हनन करने के कारण ही सर्प के लिए पांचवी नरक भूमि भाग्य में लिखी होती है ।

अब हम देव दुर्लभ मानव अवतार को पानेवालों की चर्चा करेंगे । जिसमें पुरुष और स्त्री के दो भेद हैं । उनकी सत्ता में पुरुष को पुरुषवेद और स्त्री को स्त्रीवेद कर्म रहते हैं और उन वेद कर्म को भुगतने के लिए पुरुष को पुरुषलिंग (पुरुष चिन्ह) और स्त्री को स्त्रीलिंग मिला हैं । इन दोनों के माध्यम से होते मैथुन कर्म से भी पुरुष या स्त्री के आंतरिक जीवन में पुरुषवेद और स्त्रीवेद का तीव्रोदय या उस कर्म की उदीरणा ही महा भयंकर कर्म बांधने का मुख्य कारण बनती है ।

मैथुनकर्म को तो सिर्फ शरीर के साथ ही निस्बत होती है. जबकि, वेदोदय या उसकी उदीरणा को द्रव्य तथा भावमन के साथ सीधा संबंध होने से नये कर्म बांधने का कारण बनता है । यद्यपि उदय में आये या उदीरणा द्वारा उदय में लाये गये वेदोदय में रसोदय पुरुष और स्त्री को एक समान होने के बावजूद दोनों की शक्ति में आकाश-पाताल का फर्क है और इसके कारण पुण्यकर्म के अभाव से स्त्री हर हालत में भी भोग्य ही रहती है, इसलिए वह अपने वेदोदय को शांत करने में सर्वथा परवश है । जबकि पुरुष पुण्यकर्मी होने से दोनों के वेदोदय को शांत करने की शक्ति रखता है, इसलिये पुरुष भोकता है ।

प्रस्तुत प्रकरण नरक का होने से पापानुबंधी पुण्य का भोक्ता भी मैथुन कर्म के वक्त निर्ध्वंस, निर्दयी और पापबुद्धि

पूर्ण होने से उसकी मैथुनकर्मिता में पाशविकता होगी। अपनी मैथुन इच्छा को पूर्ण करनेवाला पुरुष अपनी स्त्री की, गर्भ की, गर्भगत जीव की और अपने पुण्य कर्मों की भी परवाह नहीं करता है। इसलिये पुरुष को सातवीं और स्त्री को उसके परिणाम पुरुष जितने क्लिष्ट न होने से और मैथुन के साधन और अधिकरण का अभाव होने से छट्ठी नर्क की मर्यादा रही है।

तो फिर स्त्री को मोक्ष कैसे मिलेगा ?

मोक्ष प्राप्त करने के लिये स्त्री को स्त्रीशरीर या पुरुष को पुरुषशरीर बाधक नहीं बनता है। लेकिन "कृत्स्नकर्मक्षयो ही मोक्ष." इस सूत्र के अनुसार मानव शरीर को धारण करके अपने प्रबल पुरुषार्थ से संपूर्ण कर्मों का जो क्षय करेगा उसे मोक्ष मिलेगा, चाहे वह पुरुष हो स्त्री हो या नपुसंक हो।

मोक्ष का समर्थ बाधक कोई हो तो वह पुरुष वेद, स्त्रीवेद और नपुसंकवेद ही है।

आग को भड़काने के लिए केरोसीन या पेट्रोल की तरह कषायरूपी काले नाग की भड़काने के लिए 'नोकषाय' का जैन शासन ने सहेतुक स्वीकार किया है, उसमें भी वेदोदय की साधकता अजब गजब की होने से साधक की साधकता को बड़ा खतरा हो तो वह वेदोदय का ही है। जिसकी तलस्पर्शी चर्चा दूसरे भाग में की गई है। इसी कारण पुरुष का पुरुषवेद, स्त्री का स्त्रीवेद वा नपुसंक का नपुसंकवेद ही मोक्ष का बाधक है, लेकिन पुरुषलिंग, स्त्रीलिंग या नपुसंकलिंग हरहालत में भी बाधक नहीं हैं।

पुरुष या स्त्री को जब आध्यात्मिकता पूर्वक की तपश्चर्या त्याग, संयम, तथा संवरधर्म की प्राप्ति होती है और उत्तरोत्तर उसकी साधना आगे बढ़ती है तब वेदोदय का नशा आहिस्ता से धीमा पड़ता है और खत्म होने की क्षण पर आ जाता है और केवलज्ञान के द्वार खुलने की तैयारी होती है। इसलिए स्त्री चाहे उस भव से सातवीं नरक में न जा सकती हो फिर भी कर्मों का क्षय करके वह मोक्ष पा सकती है।

उपरोक्त वक्तव्य से यह जाना जा सकता है कि, अरिहंत परमात्माओं की वाणी का एक भी सूत्र स्त्री को केवलज्ञान होने से रोक नहीं सकता। क्योंकि कर्मों का बंधन मिथ्यात्व के कारण से है। उसका अवरोध संवर के आधीन है, जब कि केवलज्ञान की प्राप्ति निर्जरा तत्व के आभारी है। मनुष्य या स्त्री के लिए जैनागम एक ही है, सूत्र एक ही है, इसलिए इन दोनों की तरह कर्म का बंधन और क्षय निश्चित है।

किन्तु तुम कह सकते हो कि, स्त्री का शरीर गंदा होता है, और कुदरती तौर पर स्त्री को ईर्ष्या, क्लेश आदि ज्यादा होने से स्त्री को मोक्ष सरलता से कैसे मिलेगा ? लेकिन यह मत भूलना कि जो दोष स्त्री के लिये सहज है वे पुरुष के लिए भी सहज है। पुरुषों के भी मलद्वार, मुंह, नाक, कान, पसीना आदि गंदा होता है। ईर्ष्या और अनंतानुबंधी कषाय पुरुष को भी होते हैं। सारांश यह है कि, दोष की कल्पना दोनों की समान है।

ऐसी स्थिति में पुरुष मोक्ष का अधिकारी हो और स्त्री न हो यह पक्षपात तीर्थंकर के शासन में संभव नहीं है। इसलिए जन्मजात दोषों को स्त्री भी पुरुष की तरह दूर कर सकती है। मरुदेवीमाता, चन्दनबाला, राजीमती, देवानंदा, मल्लीनाथ,

तीर्थंकर आदि स्त्रीलिंग से ही मोक्ष में गये थे। बेशक, वेदोदय में जैसे स्त्री को मोक्ष नहीं है वैसे वेदोदय में पुरुष चाहे रेगिस्तान में तप करे या हिमालय में अपना शरीर पिघला दे तो भी उसे मोक्ष नहीं मिलेगा।

(शतक ३१ : उद्देशक १ समाप्त)

शतक ३१ : उद्देशक २-३-४-५-६

क्षुद्रकृत युग्म राशि प्रमाण कृष्णलेश्या के मालिक आदि सात नरक भूमि तक के नारकों के लिए पूर्ववत जानना, स्वप्रयोग से नरक में जा सकते हैं। उपापात के लिए प्रज्ञापना सूत्र से जानना।

क्षुद्रत्र्योज राशि प्रमाण कृष्ण लेश्या के नारक तथा द्वापर और कल्योज राशि प्रमाण के नारकों के लिए पूर्ववत् जानना भवसिद्धिक नारक तथा कृष्णलेश्यावाले भवसिद्धिकों के लिए भी पूर्ववत् जानना।

(शतक ३१ : उद्देशक २-३-४-५-६ समाप्त)

शतक ३१ : उद्देशक ७ से २८

नीललेश्या के भवसिद्धिक चारों युग्म में नीललेश्या की तरह। कापोत लेश्या के चार युग्म के नारक सामान्य तथा कापोत लेश्यावत। अभवसिद्धिक के उद्देशक भवसिद्धिकवत्। सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, कृष्णपाक्षिक शुक्लपाक्षिक के उद्देशक पूर्ववत् जानना। शेष मूलसूत्र से जानना।

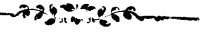
(शतक ३१ : उद्देशक ७ से २८ समाप्त)

'समाप्ति वचनम'

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की साधना से, सर्वग्राही-सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से स्याद्वाद नयप्रमाण और निक्षेपाओं से दीर्घदृष्टि संपन्न होने से, अहिंसा धर्म को आत्मसात् और समन्वय-दृष्टि प्राप्त की होने से पाश्चित्यमान्य पौर्वात्य पंडितों, महापंडितों को अपने चरणों में बिठाकर सम्यग्दर्शनज्ञान तथा चारित्र का पान करानेवाले शास्त्र विशारद जैनाचार्य, स्व १००८ श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज के शिष्यरत्न शासन-दीपक, मुनिराज श्री विद्याविजयजी म० के शिष्य न्याय व्याकरण-काव्यतीर्थ पंन्यास श्री पूर्णानंदविजय (कुमार श्रमण) महाराज ने अपने मतिज्ञान के विकास के लिये भवांतर में भी जैन शासन की प्राप्ति के लिए भगवतीसूत्र जैसे आगमसूत्र का ३१ वाँ शतक पूर्ण किया है।

'शुभं भूयात्, शिवं भूयात् कल्याणं स्यात् पुनः पुनः।
श्रमणानां ग्रहस्थानां तुष्टिं पुष्टिं हितं तथा ॥

(शतक ३१वाँ समाप्त)



शतक ३२ : उद्देशक-१-२८

इस शतक का विषय इससे पहले के शतक के समान जानना।

हे गौतम! क्षुद्रकृतयुग्म राशिवाले नारक, नरकगति में से बाहर निकलकर संख्यात् वर्ष के आयुष्यवाले पर्याप्त मनुष्य और तिर्यंच योनि में उत्पन्न होते हैं। वे एक समय में चार, आठ, बारह और सोलह से ज्यादा संख्यात-असंख्यात राशि के जीव वहाँ से स्वप्रयोग से उदित होते हैं।

शेष उद्वर्तना सात नारकों की तरह जाननी। तथा त्र्योजयुग्म द्वापरयुग्म और क्षुद्रकल्योजयुग्म जीवों की भी उसी प्रकार जाननी।

कृष्ण लेश्यावाले क्षुद्रकृतयुग्मराशिवाले नारक भी पूर्ववत्।

'समाप्ति वचनम्'

शास्त्रविशारद जैनाचार्य उपश्यालादि तीर्थोद्धारक स्व. श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी म० के शिष्य शासनदीपक मुनिराज श्री विद्याविजयजी म सा. के शिष्य पंन्यास श्री पूर्णानंद-विजयजी (कुमार श्रमण) ने अपने मतिज्ञान के विकास और श्रुतज्ञान की वृद्धि के लिए, तथा भवभवांतर में भी सम्यग्ज्ञान के संस्कार प्राप्त हों इसलिए अपनी यथामति से शतक ३२ वाँ विवेचित किया है।

"शुभं भूयात् सर्वेषां जीवानाम्।
सर्वे जीवः सम्यग्ज्ञानम् प्राप्नुयुः" ॥

—: o :—

शतक ३३ : उद्देशक २ से ११

३३ शतक के प्रथम एकेन्द्रिय शतक के प्रथम उद्देशक निम्नलिखित जानना।

(२) अनंतरोपपन्नक एकेन्द्रिय का दूसरा उद्देशक जानना।

(३) परंपरोपन्नक एकेन्द्रियों के लिए तीसरा उद्देशक जानना।

(४) अनंतरावगाढ एकेन्द्रियों के लिए चौथा उद्देशक पूर्ण।

(५) परंपरावगाढ एकेन्द्रियों के लिए पाँचवां उद्देशक पूर्ण।

(६) अनंतराहारक एकेन्द्रियों के लिए छठा उद्देशक।

(७) परंपराहारक एकेन्द्रियों का सातवाँ उद्देशक।

(८) अनंतरापर्याप्तक एकेन्द्रियों का आठवाँ उद्देशक।

(९) परंपरपर्याप्तक एकेन्द्रियों का नववाँ उद्देशक।

(१०) चरम एकेन्द्रिय की विगत का दसवाँ उद्देशक।

(११) अचरम एकेन्द्रियों का ग्यारहवाँ उद्देशक।

(शतक ३३ : उद्देशक २ से ११ समाप्त)

शतक ३३ : उद्देशक--१२

एकेन्द्रिय शतक संख्या २ से ८ :

कृष्ण लेश्या के मालिक एकेन्द्रिय जीवों के लिए दूसरा शतक। नील लेश्यावाले एकेन्द्रियों के लिए तीसरा शतक। कापोत लेश्या के स्वामी एकेन्द्रियों का चौथा शतक। भव-सिद्धिक एकेन्द्रियों के लिए पांचवा शतक। कृष्ण लेश्यावाले

ऊपर के मुताबिक जब छोटे या मोटे, पृथ्वी के या पानी के, बकरे के या घेटे के, वनस्पति के या फल फूल के जीव, जीने की इच्छा रखते हैं। तभी मारनेवाला, काटनेवाला, छुंदने-वाला, पीसनेवाला, बाफनेवाला और अंत में मरे या मारे गये जानवरों को खानेवाले को भी जीव हत्या का पाप लगे बिना नहीं रहता और एक पाप दूसरे पाप को आमंत्रण देनेवाला होने से इन्द्रिय के कुलाम को कभी जीवहत्या का ख्याल रहता है और कभी नहीं रहता है। परिणाम स्वरूप पापों का भार बढ़ता है और आज का आदमी पंडित महापंडित भी कल पृथ्वीकायिकायादिक जीव के अवतार को पायेगा। इस प्रकार चौरासी के फेरे या नीन्यानवे के चक्कर में फंसना पड़ता है, जहाँ से करोड़ों अवतार के बाद भी फिर से मनुष्य अवतार को पा नहीं सकता है।

वैदिक धर्म ने बकरा, घेटा, पाडा यावत बत्तीस लक्षण वाले बालक को भी मंत्रोच्चारपूर्वक मारने का विधान किया तभी दयात्मा बुद्धदेव ने उन्हे बचाने के लिए राजपाट छोड़ दिया, उग्रतप का सेवन किया शक्ति विशेष प्राप्त की उसके बाद ज्ञान का उपयोग किया और बहुत से यज्ञकुंड बंध कराके हजारों, लाखों और करोड़ों की संख्या में मूक प्राणीओं को बचाया था। इतने प्रमाण में बुद्धदेव का कार्य प्रसंशनीय होने के बावजूद भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवराशि तक बौद्धधर्म पहुँच नहीं पाया था, तभी तो गृहस्थ के वहाँ पकाया गया मांस बुद्ध भगवान ने अपने पात्र में भिक्षा के रुप में लिया था। परिणामस्वरुप आज भी बौद्धधर्म में मांसाहार भिक्षा में लेने का निषेध नहीं है।

माना कि बकरे, घेटे, मुर्गे या भुंड आदि को हमने नहीं मारा है, लेकिन दूसरे के पास से तो मरवाये होंगे कि नहीं ? या तो मांस के उत्पादन में स्पष्ट रुप से अनुमति न हो तो भी गुप्त रूप से अनुमति के बगैर मांस का उत्पादन कैसे शक्य बनेगा ?

इसलिए जीवहत्या करनी, करानी या स्पष्ट रुप से यदि न की हो तो भी चमड़े आदि से बने जूते पहनना आदि पदार्थों के भोगवटे में हत्या की अनुमोदना को कैसे नकारा जा सकता है। इन सब कारणों को लेकर जीव-हत्या पाप ही है।

इसी कारण से मानव समाज तीन भागों में बंट गया है—जो इस प्रकार है :—

(१) सम्यगज्ञानपूर्वक संपूर्ण जीवहत्या को मन, वचन और काया से जिन्होंने छोड़ दिया है वे महामुनि ।

(२) ऐसा गृहस्थ जो जीवहत्यादि पापों को नहीं छोड़ सकता है, लेकिन अमुक निरर्थक पापों को छोड़ देता है और अहिंसा धर्म और दया की ओर कार्यान्वित प्रेम रखता है।

(३) अभव्य, दुर्भव्य तथा मिथ्यात्वयुक्त मोहवासना आदि के मालिक, सार्थक या निरर्थक एक भी पाप को छोड़ने की भावनावाले नहीं होते हैं। उसके विपरीत रातदिन पापों की सेवना में, मांसाहारादि अभक्ष्य पदार्थों के भोजन में, शराबपान में, वेश्या परस्त्रीगमन में, बेमर्याद आसक्त बनकर उत्साहपूर्वक पाप करते हैं। दूसरों के पास से कराता है और ऐसे आदमियों का ही सहवास करता है।

उपरोक्त तीनों प्रकारों में हम आज भी देखते हैं कि, महावीर स्वामी के शासन को माननेवाले साधु साध्वीओं की करनी अहिंसक है, उनकी खुराक अहिंसक है. भाषा और व्यवहार अहिंसक है। यदि संपूर्ण अहिंसा का पालन न होता हो तो इस कलयुग और भौतिकवाद के जटिल संसार में जैन साधु उनकी सूक्ष्म अहिंसा का पालन कैसे कर सकते होंगे? उनके अनुयायी लक्षाधिपति और करोड़पति होने के बावजूद भी :—

(१) जैन साधु किसी भी दिन मोटर, साईकल, रेलगाड़ी, विमान बैलगाड़ी आदि वाहन में नहीं बैठते हैं। चमड़े के बूट-चंपल नहीं पहनते हैं और पदयात्रा से घूमते है।

(२) लाखों करोड़ों का दान, पुण्य करानेवाले जैन मुनि मस्तक, दाढी मूछ आदि के बालों का अपने हाथ से लोचन करते हैं (बाल अपने हाथ से खींच के निकालते हैं)।

(३) बाग बगीचे में घूमने के बावजूद भी वहाँ वनस्पति, फल, फूल आदि को वे हाथ नहीं लगाते हैं। गेहुँ चने आदि धान्य या दाने पर या वृक्ष के पत्ते या डाली पर अपना पैर कभी भी नहीं रखते हैं।

(४) बावडी, कुंआ, नल जिसका पानी गरम नहीं होता है उससे पैर-हाथ नहीं धोते हैं, वस्त्रप्रक्षालन नहीं करते हैं, क्योंकि कच्चे पानी का स्पर्श सर्वथा त्याज्य है।

(५) कोई भी जात के फूलों की माला या सीये गये वस्त्रों का परिधान नहीं करते हैं।

(६) अपने हाथ से चूल्हा जलाकर खाना नहीं पकाते हैं।

(७) बालिका, विधवा या स्त्री का स्पर्श अपने पैर को नहीं करने देते हैं।

(८) भांग, गांजा, चरस आदि का सेवन नहीं करते हैं।

इस कारण से ही अहिंसा धर्म की आराधना कष्ट साध्य होने के बावजुद भी सुलभ है।

ये सब बातें समझने या जानने के बाद जीवों के भेद जानने कितने जरूरी हैं ? यह सहज समझ में आ जाये ऐसी बात है। अब हम भगवतीसूत्र तथा आचारंग सूत्र की निर्युक्ति के आधार से इन जीवों को जानेंगे और यथाशक्य उनकी हत्या से बचे यह इष्ट हैं।

अेकेन्द्रिय जीवों के भेदानुभेद :

गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान महावीर स्वामी ने फरमाया कि. हे गौतम ! ऐकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय रुप से जीव पाँच प्रकार के हैं। षट्काय के रुप से जीव छः प्रकार के हैं। चारगति रुप में चार प्रकार के, तीन वेद की कल्पना से तीन प्रकार के, और जीवत्व की अपेक्षा से जीव एक भेदवाले ही हैं और स्थावरत्रसरुप से दो भेद हैं। लेकिन यहाँ हम ऐकेन्द्रिय जीवों के भेदानुभेद जानें, जिसके २० भेद हैं। जो इस प्रकार हैं :—

(१) सूक्ष्म अपर्याप्त पृथ्वीकाय (२) सूक्ष्म पर्याप्त पृथ्वीकाय (३) बादर अपर्याप्त पृथ्वीकाय (४) बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय।

पृथ्वी रूप से उत्पन्न होनेवाले पृथ्वीकाय के जीवों के चार भेद हैं।

इस प्रकार पाणीकाय, अग्निकाय, वायुकाय, और

वनस्पतिकाय के जीवों के भी चार भेद होने से कुलमिलाकर २० भेद हुये।

सूक्ष्मकर्म को लेकर वे सूक्ष्म हैं। बादर कर्म से बादर हैं।
अपर्याप्तनामकर्म से पर्याप्त हैं।
और पर्याप्तनाकर्म से पर्याप्त हैं।

यह ऐकेन्द्रिय जीव चाहे उत्क्रांति यानि कि, अव्यवहार राशि में से बाहर निकलकर ऐकेन्द्रिय अवतार में जन्में हों या अपक्रांति यावत् मनुष्य, राजा, महाराजा, रानी शेठाणी, तथा भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष या प्रथम या दूसरे देवलोक के देव, विषयवासना के पाप से, क्रोधादि कषाय के अभिशाप से अथवा परिग्रह और पुण्य और सत्कार्यों का दिवाला निकाल देने से ऐकेन्द्रिय अवतार में जन्में सभी ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों की बेड़ी में बंधे हैं। यानि कि, सूक्ष्म अपर्याप्तक जीवों से लेकर चौबीस दंडक के जीव जिसमें वैमानिक देव अहमिन्द्रदेव, ब्रह्मलोक के ब्रह्मदेव भी आठ कर्मों की हथकड़ी में जकड़े हुये हैं।

गेहुँ-चने आदि में जहाँ तक 'बीजतत्व' होता है तब तक पृथ्वी, पानी, वायु और तेज आदि की सहायता मिलते ही उसमें से फिर अंकुरोत्पति होती है, उसी प्रकार चौबीस दंडक के जीवों में कर्मबीज विद्यमान होने के कारण मोह-माया-मिथ्यात्व-अविरति-कषाय, मनदंड, वचन-दंड तथा कायदंड के निमित्त मिलते ही फिर से इन चार गति के जीव प्रतिसमय आठ कर्मों को या सात कर्मों के बांधनेवाले होते हैं, मतलब कि, उनको पुराने कर्मों की तरह नये कर्म भी बांधने होते हैं।

उनको जब कर्म है और नये कर्म भी बांधते हैं तो वे पृथ्वीकाय के विद्यमान भव में कितने कर्म भुगतते होंगे ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम ! वे प्रतिसमय निम्नलिखित १४ कर्म भुगतते हैं।

(१) ज्ञानवरणीय कर्म; (२) दर्शनावरणीय कर्म, (३) वेदनीयकर्म, (४) मोहनीकर्म (५) नामकर्म (६) गोत्रकर्म (७) आयुष्यकर्म (८) अंतरायकर्म (९) श्रोत्रेन्द्रियावरणीय कर्म (१० चक्षुरिन्द्रियावरणीय (११) घ्राणेन्द्रियावरणीय कर्म (१२) रसनेन्द्रियावरणीय कर्म (१३) स्त्रीवेद (१४) पुरुष-वेद कर्म।

श्रोतेन्द्रियावरणीय आदि कर्मों के कारण पृथ्वीकायिक जीवों को द्रव्येन्द्रियरुप में कान, नाक, आँख और जीभ इन चार इन्द्रियों का सर्वथा अभाव होने से उनका जीवन व्यवहार केवल स्पर्शेन्द्रिय द्वारा ही पूर्ण होता है।

उनको कान न होने से, किसी का संगीत, गाना या घुंघरु की आवाज सुनने का आनंद उनके भाग्य में नहीं रहता है।

आंख का अभाव होने से कभी भी देखने की मजा नहीं आती है।

नाक के अभाव में सूंघने का अनुभव कैसे आयेगा ? जीभ न होने से एकेन्द्रिय जीवों को असंख्यात या अनंत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी तक भावनगर की बदामपुरी, सुरत की

धारी, खंबात की सुतरफेनी, आबू की रबड़ी, खंभात का हलवा, गांठीया, पापड़ी, आईस्क्रीम, गुलाब जांबू न, चिवड़ा, ओसामन आदि फरसाण या मिष्ठान उनके भाग्य में नहीं रहता है

उसी प्रकार पुरुषवेद का अभाव होने से लंबे काल तक स्त्री का सहवास, मीठी मश्करी, आंख के इशारे या गंदी चेष्टा उनके भाग्य में नहीं होती है, उनके भाग्य में नपुसंकवेद ही होने से संसार की मजा जरा भी नहीं होती है।

(शतक ३३ : उद्देशक-१ समाप्त)



शतक ३३ : उद्देशक-१

प्रथम अेकेन्द्रिय शतक

उपक्रम :

प्रत्येक धर्मसंप्रदाय भिन्न-भिन्न नाम से भी जीवतत्व को और दयाधर्म को मानते हैं, लेकिन जब तक जीवों के भेदानु-भेद, उसके प्रकार और उत्पत्ति को जाना नहीं जायेगा तब तक जीवों की हत्या से कैसे बचा जायेगा ? दयाधर्म का पालन कैसे होगा ? एक जीव को बचाने का भाव हुआ और दूसरे को न बचा सके तो जीव दया की पूर्णता कहाँ रही।

दयाधर्म यदि सच्चा हो तो जिन जीवों पर दया करनी है उनको जाने बिना दूसरा मार्ग कौन सा है ? बेशक पूर्णदया का पालन करना शक्य न हो तो भी जीवों की जानकारी होगी तो किसी अवस्था विशेष में भी जीवहत्या के पापों का प्रायश्चित करने की भावना होगी और एक दिन उतनी हत्या में से बचने के लिए भी प्रयत्न करेगा । सारांश यह है कि, जीवों के भेद जानना अत्यंत आवश्यक है । क्योंकि सब जीवों के आकार एक समान नहीं है। कर्म विशेष को लेकर कोई मनुष्य आकार में है, कोई पशु के आकार में तो कोई कीड़े के आकार में, कोई वनस्पति, पृथ्वी या पानी के आकार में हैं। इस प्रकार सब के शरीर भिन्न हैं, आकार भिन्न है पुण्य पाप और कर्म का का भुगतना भी भिन्न है, साथ-साथ विष्टा के कीड़े से लेकर इन्द्रलोक के इन्द्र को भी अपना जीवन सीमातीत प्यारा है इसलिए किसी भी जीव को बेमौत मरने की इच्छा नहीं होती है।

भवसिद्धिकों के लिए छठा शतक। कापोत लेश्या भवसिद्धि को के लिए सातवां सतक। नील लेश्यावाले भवसिद्धिकों के लिए आठवाँ शतक। इन आठ शतकों की वक्तव्यता पहले उद्देशक की तरह जाननी।

अभवसिद्धिकों के लिए ९ वाँ शतक।

कृष्णलेश्या के अभवसिद्धिक के लिए दसवाँ शतक।

नील लेश्यावाले अभवसिद्धिक के लिये ग्यारहवाँ शतक।

कापोत लेश्या अभवसिद्धिकों के लिए बारहवाँ शतक।

इन चार शतकों के लिए पूर्ववत् जानना।

इस प्रस्तुत ३३ वें शतक के अन्तर्गत १२ शतक का क्रम रखा है और प्रत्येक शतक का ११-११ उद्देशक आगे की तरह जानना।

इस शतक के पृथ्वीकायिक जीवों के वर्णन से स्पष्ट होता है कि, पृथ्वी ही उनका शरीर है वे पृथ्वीकायिक जीव हैं, उनकी सत्ता है, सूक्ष्म और बादर रुप में तथा पर्याप्ता और अपर्याप्ता रुप से भी है, उनके आठ कर्म हैं। प्रतिक्षण में नये कर्म बांधते हैं, उन्हें भुगतते है। इस प्रकरण में १४ प्रकार के कर्मों का वेदन कहां है, उसे बड़े प्रकार से जानना।

अरिहंत प्ररुपित आगमशास्त्र से जीवों की सिद्धि श्रद्धागम्य होने से मानने योग्य है। फिर भी आचारांगसूत्र-की निर्युक्ति अनुसार थोड़ी ज्यादा चर्चा कर लें।

कोई भी पदार्थ को सर्वांग रुप से जानने के लिए अनेक प्रकार से विचार करना पड़ता है। तथा जो चर्मचक्षु से ग्राह्य नहीं है उनका हठाग्रह रखना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अपने ही शरीर में रक्त, मांस, हड्डियाँ, चरबी, मज्जा, भेद, शुक्र आदि धातु हैं, वे प्रत्यक्ष नहीं है फिर भी उनके बहुत से कार्य परोक्षरुप से मानने ही पड़ते हैं।

प्रत्यक्ष दिखते संसार में भी बहुत से पदार्थ ऐसे हैं जो सर्वथा प्रत्यक्ष नहीं दिखते हैं फिर भी उनकी विद्यमानता में शंका नहीं रहती है।

कभी कभी आंख से नहीं दिखते कार्यों की सच्चाई पर विश्वास करना ही पड़ता है। यही कारण है कि पदार्थ मात्र के निर्णय में जैनशासन ने कहीं भी अपनी उदारता को गुमने नहीं दी है। क्योंकि, जैनशासन केवली भाषित है और केवल-ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट ज्ञान होने से उसमें संसार का एक भी ज्ञेयतत्व अप्रत्यक्ष नहीं रहा है। शिष्य, साधक या भावुक जिस तरीके से समझे उस तरीके से जैनशासन समझाने को को तैयार है। 'इदं न व्याकरणीयं, न व्याकरणीयं' ऐसा कहकर जैन शासन ने कहीं भी अपने हाथ झटक नहीं दिये हैं। लेकिन प्रत्येक क्षेत्र में मस्तक ऊँचा रखकर जैनशासन ने निर्णय लिया है और सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वज्ञान की भेट संसार को दी है, इसलिए जैन शासन बेजोड़ है।

पृथ्वीकायिक जीवों का निर्णय करने के लिए नौ प्रकार बनाये गये हैं।

(१) चार निक्षेपा से पदार्थ का निर्णय करना। (२) पृथ्वीकायिक की प्ररूपणा करनी। (३) लक्ष्य को सिद्ध करे ऐसा लक्षण कहना (४) परिभाण–पृथ्वीकायिक है तो उसका परिमाण कितना ?

(५) उपभोग—वे जीव जो दूसरों के उपभोग में कैसे आयेंगे ?

(६) शस्त्र—उनको नष्ट करने के लिये शस्त्र कौनसा ?

(७) वेदना—कर्मों की वेदना।

(८) वध—उनका वध कैसे हो ?

(९) वधनिवृति –उनके वध की निवृति हो सकती होगी ?

उपरोक्त ९ प्रकारों को संक्षेप या विस्तार से जानें।

[१] निक्षेपद्वार :—नाम, स्थापना, द्रव्य, और भाव रूप से निक्षेपा के चार भेद हैं। किसी भी चेतन या अचेतन पदार्थ के निर्णय के लिए भिन्न भिन्न प्रकार से प्रश्न पूछना और उनका उत्तर देना उसे निक्षेप (अनुयोग) कहते हैं। गुण की अपेक्षा के बिना केवल 'पृथ्वीराज' की नाम की व्यक्ति में पृथ्वी के या राजा के गुण नहीं है, फिर भी नामनिक्षेप से उसे पृथ्वीराज कहने में और उसके नाम से व्यवहार करने में किसी को भी एतराज नहीं है।

यह तस्वीर पृथ्वीराज की है, इसमें भी गुण की अपेक्षा नहीं है, फिर भी संसार में इसके व्यवहार को रोका नहीं जा सकता। इन दोनों में स्थापना निक्षेप की महत्ता इतनी ही है कि नामोच्चार में जो आनंद की प्राप्ति होती है उससे स्थापना में विशेष आनंद रहा है।

द्रव्यनिक्षेप के दो भेद हैं :—[१] आगम से द्रव्य पृथ्वीकाय [२] नोआगम से द्रव्य पृथ्वीकाय।

पृथ्वीतत्व का ज्ञाता होने के बावजूद उसमें वह उपयोगवंत न होने के कारण उसका ज्ञातृत्व भावशून्य होने से वह ज्ञाता द्रव्य से पृथ्वीकाय का ज्ञाता है, जबकि 'मृतमुनि' के शरीर को देखकर हम सब कहते हैं कि, यह मुनि द्रव्यानुयोग का, आचार संहिता का कर्म ग्रन्थादि प्रकरणों का तथा पृथ्वीकायपि भेदानुभेदों का अच्छा ज्ञाता था।

यद्यपि अभी यह मुनि जीवरहित है, लेकिन भूतकाल में ज्ञातृत्वधर्ममय था, इसलिए व्यावहारिक भाषा झूठी नहीं होती है, इसलिए वह नोआगम से द्रव्य पृथ्वीकाय कहलाता है और भावनिक्षेप यानि जिस वक्त जो पदार्थ बोला जाये उस वक्त उस शब्द का यथार्थभाव उसमें होना चाहिए, जैसे कि, 'भूमिपति' भूमि का रक्षण करने के वक्त भूमिपति और अलंकारों से शोभित होकर सिंहासन पर बैठा हो तभी राजा शब्द से संबोधित होता है, इसी तरह अभी जो जीवात्मा पृथ्वी के शरीर को धारण करके अपने उपार्जित किये 'पृथ्वी जाति नामकर्म' को भुगत रहे हों तब वे भावनिक्षेपासे भाव पृथ्वीकाय कहलायेंगे।

(२) प्ररुपणाद्वार :—पदार्थ मात्र के निर्णय में उसकी प्ररुपणा तथा उनके प्रकार (भेद) भी कहने का होता है तभी शिष्य को पदार्थ की जानकारी सुगम रहती है। जैसे कि नया शिष्य गुरु को पूछता है कि हे, गुरुदेव! पृथ्वीरूपी शरीर को आश्रय करके क्या पृथ्वीकाय जीव हैं? शिष्य को जैसे प्रश्न

पूछने का अधिकार है, उसी प्रकार गुरु को जवाब देने का अधिकार होने से गुरु महाराज फरमाते हैं कि, "संति पाणा पुढो सिया" यानि कि, पृथ्वी का आश्रय करके अंगुली की असंख्यात भाग की अवगाहनावाले पृथ्वीकाय के जीव हैं, और वे सब जीव पृथक् हैं, सचेतन हैं और अनेक जीवों के आधारभूत हैं। फिर से शिष्य पूछता है कि, पृथ्वी है तो उनके भेद कितने ? जवाब में कहा गया है कि,

दुविहा य पुढवी जीवा, सुहुमा तह बायरा लोगम्मि।
सुहुमा य सव्वलोए, दो चेव य बायर विहाणा ॥

अर्थात् पृथ्वीजाति नामकर्म के कारण पृथ्वीकाय में उत्पन्न हुए जीव सूक्ष्म और बादर भेद से दो प्रकार के हैं। यहाँ सूक्ष्म नामकर्म के उदय से प्राप्त सूक्ष्मत्व और बादर नामकर्म के उदय से बादरत्व जानना। जो सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव है वे काजल की डिबीया में भरे काजल की तरह चौद राजलोक प्रमाण संसार में यानि संसार के एक भी प्रदेश को छोड़े बिना पूर्णरूप से व्याप्त हैं। जबकि बादर जीवों के मूल दो भेद हैं (१) श्लक्ष्णा पृथ्वी, (२) खर पृथ्वी उसमें श्लक्ष्णा पृथ्वी पांच प्रकार से है या सात प्रकार से है। काली मिट्टी, भुखरी मिट्टी, लाल मिट्टी, पीली मिट्टी, सफेद मिट्टी, धूल जैसी मिट्टी और नदी में बाढ आने के बाद किनारे पर जो मिट्टी जमा होती है उसे पनक मिट्टी कहते हैं।

खर पृथ्वी के निम्नलिखित ३६ से ४० भेद जानना।

शुद्ध पृथ्वी, शर्करा पृथ्वी, बालुका (रेती) उपल (पत्थर), शिला (देशकुलपिलादि बनाने में उपयोगी पत्थर), लवण (जिसमें से नमक आदि निकलता है) (खारी जमीन),

लोहा, तांबा, कलई, सीसा, रुपा, अंजन, (सुरमा का पत्थर), परवाल, अबरख, तन्मिश्रित मिट्टी, गोमेधक, रुचक, अंक, स्फटिक, लोहिताक्ष, मरकत, मसारगल्ल, भुजमोचक, इन्द्रनील, चंदन, गेरू, हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चंद्रकांत, वैडुर्य, जलकांत और सूर्यकांत।

ये सब खर पृथ्वी के भेद हैं। जिसमें अमुक खार हैं, अमुक रत्न हैं, सामान्य पत्थर हैं, ये सब पृथ्वी के गर्भ में से प्राप्त होते हैं।

पृथ्वीकाय जीवों को उत्पन्न होने के सात लाख स्थान (सात लाख योनि) हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि इनकी संख्या सात लाख की है। यह मानने कि भूल कभी नहीं करना क्योंकि पृथ्वीकाय के जीवों की संख्या असंख्यात है, लेकिन उनको उत्पन्न होने के स्थान (योनि) की संख्या सात लाख समझनी। वह किस तरह? जवाब में जानना कि, उत्पन्न होने का स्थान पौद्गलिक होने से उसमें वर्ण-गंध, रस और स्पर्श होता ही है। वर्ण के पांच भेद, रस के पांच, गंध के दो और स्पर्श के आठ भेद जानना। इन चारों का मिश्रण ही योनि कहलाता है, दृष्टांत रूप कृष्णवर्ण की बात करें तो. तरतम योग से वह बहुत भेद वाला है। भ्रमर, अंगार (कोयला), कोयल, जंगली पाडा और काजल आदि काले वर्ण के हैं, लेकिन परस्पर एक दूसरे से कितने ही कृष्ण-वर्ण से हीन हैं, दूसरे अधिक हैं, कोई एक पैसा, दो पैसा या ९९ पैसा हीन है। उससे विपरित अधिक जानना।

पांच वर्णों के लिए भी इस प्रकार जानना पांच वर्णों के मिश्रण में गुलाबी, धुसर (सफेद जैसा) इत्यादि वर्ण होते हैं।

वर्ण की तरह रस, गंध और स्पर्श की भी कल्पना करनी। अब उत्पत्ति का स्थान वर्णादि भेद से लेकर संख्यात होगा। वे सब संवृत योनि कहलायेगी। सचित, अचित या मिश्र, शित, उष्ण या मिश्र बनेगी। इस प्रकार एक दूसरे का एक दूसरे में तरतम योग से मिश्रण होने से सब की संख्या सात लाख की होगी।

पर्याप्त और अपर्याप्त रूप से भी पृथ्वीकायिक दो प्रकार के हैं। उसमें जो बादर पृथ्वीकायिकी के भेद कहे हैं उसमें पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकार जानना। सात लाख योनि भी बराबर जाननी। पृथ्वीकायिक के एक पर्याप्त जीव के आश्रय में अपर्याप्तक जीव असंख्यात जानना। सूक्ष्म जीव भी पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों हैं। विशेष में अपर्याप्तक की निश्रा में पर्याप्तक असंख्यात जानना।

वनस्पति का ज्ञान जिस प्रकार वृक्षादि से होता है, उसी तरह पृथ्वीकायिकों की विद्यमानता में भी श्रद्धा रखनी। गाय और घोड़े में जीवात्मा है इसलिए वे चलते हैं, खाते हैं, जीते हैं और मरते हैं। इस प्रकार पृथ्वीकायिकों के लिए भी जानना।

आज तक पृथ्वी के भूगर्भ में से बहुत से पत्थर, शीला, मोती, हीरा, गेरू, हिंगलोक, अभ्रक, लोहा, सीसा, आदि आये हैं फिर भी यह पदार्थ अभी तक खत्म नहीं हुए हैं। क्योंकि, अर्श (मसा) जिस तरह मांस अंकुरों को उत्पन्न करता है, उसी तरह खान में रहे पत्थर भी सचेतन होने से उनका बढ़ावा अपने आप होता रहता है। दुनिया के किसी भी तराजू में तौला न जा सके इतना सोना-चांदी-हीरा आदि

रत्न पड़े हुए हैं। जिनका उत्पादन पृथ्वी के अंदर हुआ है, फिर भी सोना, चांदी, हीरा आदि निकलता ही रहता है। आंखों को चक्कर आ जाय ऐसी बिल्डींगों में कितनी सिमेंट जाती है, लेकिन सिमेंट के पत्थर अभी तक खत्म नहीं हुये हैं। कोयले खत्म नहीं हुए हैं, लाखों करोड़ों टन लोहा-फौलाद से बनी रेलगाड़ियाँ, जहाज; मोटर, बड़ी-बड़ी फैक्टरियाँ हम देखते हैं तो भी लोहा जमीन से निकलता ही जाता है। नर्मदा, साबरमती और समुद्र के किनारे से करोड़ों की संख्या में रेती की ट्रकें भरती हैं फिर भी रेती कम नहीं होती है।

इत्यादि प्रत्यक्ष बातों से पृथ्वीकाय के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता है।

[३] लक्षणद्वार :—लक्ष्यमात्र की सिद्धि लक्षणाधीन होने से पृथ्वीकायिक हैं, तो उनका लक्षण क्या ? यानि पृथ्वी में जीव है, वह कैसे जानना ? जवाब में 'उपयोगत्वं जीवस्य-लक्षणम्' कहा गया है। क्योंकि उपयोग की विद्यमानता अजीव (जड़) में किसी भी काल में नहीं होती है। अन्यथा रेल के इन्जिन को आगे की पटरी टूट गई है उसकी जानकारी क्यों न हो ? इसलिये 'यत्र यत्र जीवस्त तत्र तत्र उपयोगः' इस न्याय से चैतन्यस्वरुप पृथ्वीकायिक को पहचानने के लिए उनमें चैतन्यादि गुण होने चाहिये। कम हो वह बात कुछ और है। इन जीवों के लक्षण निम्नलिखित हैं।

उपयोग, योग, अध्यवसाय, मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, अचक्षुदर्शन, आठ कर्मों का उदय, लेश्या, श्वासोच्छवास, कषाय, अव्यक्तज्ञानदर्शन उपयोग, औदारिक, तन्मिश्र और कार्मणरुप केवल शरीर योग बुढ़े आदमी को लकड़ी की

सहायता जिस तरह से मिलती है उसी तरह जीवों को काय योग सहायक है। अध्यवसाय यानि आत्मा के सूक्ष्म परिणामों को जानना। जो अलक्ष्य होते हैं। साकार और निराकार उपयोग के अन्तर्गत मतिअज्ञान और श्रुतअज्ञात भी उन्हें होते हैं। ज्ञानावरणयादि कर्म उनको हैं और वे कृष्ण; नील और कापोत लेश्यावाले हैं। दस प्रकार की संज्ञा से संज्ञित हैं। श्वासोच्छवास और कषाय सूक्ष्म होते हैं। यह सब लक्षण मनुष्य की तरह पृथ्वीकायिक में भी जानना।

पृथ्वी सचित है यद्यपि वनस्पति का चैतन्य स्पष्ट है जब कि पृथ्वीकाय का अस्पष्ट होता है। मनुष्य के शरीर में हड्डियां ठोस होने के बावजूद भी सचित है, उसी प्रकार हीरा, प्रवाल आदि पृथ्वीकायिक जीवों की हड्डियाँ भी ठोस हैं। क्योंकि शस्त्रादि से उनमें बसे हुये जीवों का मृत्यु होने से शेष हड्डियाँ ही रहती है।

[४] परिमाण द्वार :—परिमाण यानि कौन किससे बड़ा या छोटा है या तो ज्यादा व कम हैं, यहाँ पृथ्वीकायिकों में बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक कम हैं, उससे बादर अपर्याप्त जीव असंख्यात गुने ज्यादा हैं, सूक्ष्म अपर्याप्तिक जीव उससे असंख्यात गुने और सूक्ष्म पर्याप्त पृथ्वीकायिक उससे असंख्यात गुने ज्यादा हैं।

[५] अवगाहना द्वार :—बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीव जो आकाश खंड में अवगाहित हैं, वहाँ दूसरे बादर पर्याप्तक पृथ्वीकायिक भी अवगाहित होते हैं। शेष अपर्याप्तक निश्रा में उत्पन्न होने से पर्याप्तों के साथ वे भी अवगाहित हैं।

(६) उपभोग द्वार :—एक जीव, उपभोग से दूसरे जीव

का उपग्रह करता है, इसलिए पृथ्वीकाय जीव मनुष्य के लिए कैसे उपभोग में आयेगा ? जवाब में कहा गया है कि मनुष्यादि को चलने के लिए, खड़े रहने के लिए, बैठने के लिए पृथ्वी ही काम आती है। मिट्टी के पुतले, घड़े, मकान, ईंट आदि बनाने में पृथ्वी का उपयोग होता है। पत्थर, चुने का बंगला, हवेली आदि के निर्माण में पृथ्वीकायिक ही हैं। लघुशंका गुरूशंका, कफ, थूँक आदि को फेंकने के लिए तथा खेती और भोगोपभोग के सब साधनों को रखने के लिए पृथ्वीकाय का उपयोग होता है।

(७) शस्त्रद्वार :—जीवात्मा को जन्म है, तो मृत्यु भी अवश्य है, फिर चाहे वह अपने आप हो, स्वजाति से हो या परजाति से हो। मरे बिना दूसरा कोई मार्ग किसी के लिए भी नहीं है। प्रस्तुत प्रश्न के जवाब में भगवंत ने कहा कि हे, गौतम ! पृथ्वीकायिकों के हनन के लिए द्रव्य तथा भावरूप दो प्रकार के शस्त्र हैं। उनमें भी द्रव्य शस्त्र, स्व और पर भेद से दो प्रकार का है। स्व यानि अपनी जात ही हनन के लिए घातक बनती है। उसे स्वकाय शस्त्र कहते हैं। जैसे कि काली मिट्टी में जन्मे पृथ्वीकायिक पीली या सफेद मिट्टी में जन्मे हुए जीवों के घातक बनते हैं। इस तरह पीली मिट्टी के पृथ्वीकायिक काली मिट्टी के जीवों के घातक होते हैं। इस कारणवश ग्रामान्तर या देशान्तर करते जैन मुनिओं के लिए डंडासन से पैर साफ करने का विधान है और आज भी मुनि या साध्वी दंडासन से पैर साफ करने के बाद ही दूसरे गाँव में प्रवेश करते हैं।

परकाय शस्त्र यानि अपनी जात से अतिरिक्त दूसरे

द्वारा हनन हो। जैसे कि, पानी, कीचड़, कुदाली, फावड़ा, विष, जानवर आदि का चलना, गंदा फेंकना आदि परशस्त्र है और विरति बिना के असंयमी कभी भी पृथ्वीकायिकों का घातक बन सकता है, जो भावशस्त्र हैं।

(८) वेदनाद्वार :—हाथ, पैर आदि काटने से मनुष्य को वेदना होती है, उस प्रकार पृथ्वीकाय के जीवों का स्वपरशस्त्र द्वारा हनन करने से उनको भी वेदना अवश्य होती है और परजीवों को वेदना करना हिंसा है।

(९) वधद्वार :—पृथ्वी जीववाली है ऐसा ज्ञान जिसको नहीं है ऐसे अज्ञानी मोहवश बनकर हाथ, पैर, शरीर आदि धोने के लिए पृथ्वीकाय का तथा पृथ्वी का आश्रय करके जीनेवाले दूसरे त्रस जीवों को भी मारनेवाले बनते हैं।

(१०) विरतिद्वार :—समिति गुप्ति के धारक पंचमहाव्रतधारी मुनिराज ही पृथ्वीकाय के जीवों के वध का त्याग करने के लिए समर्थ होते हैं।

अप्काय की वक्तव्यता :

सूक्ष्म-बादर-पर्याप्त और अपर्याप्त रूप से अप्कायिक चार प्रकार के हैं। उसमें बादर के भेद इस प्रकार हैं :—

शुद्धोदक, तालाब, बावड़ी, नदी और समुद्र आदि का पानी।

अवश्याय-रात्रि के समय में स्नेहरूप जो पानी पड़ता है वह झाकल।

हिम-ठंडी मौसम में हवा के कारण जो पानी ठोस बने वह।

धूमिकापात बादलों के गर्भ के समय शाम और सुबह में जो कोहरा बरसे वह।

हरतनु वर्षा या शरद ऋतु में जो लीली वनस्पति पर बूंद दिखे वो।

इसके अलावा करा, उष्ण पानी (गर्म पानी के कुंड) खारा पानी, लवण-क्षीरसमुद्रायिका पानी।

बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्त से बादर अपकायिक पर्याप्ता जीव असंख्यात गुने ज्यादा है।

बादर पृथ्वीकायिक अपर्याप्त से बादर अप्काय पर्याप्त असंख्यात गुने ज्यादा है।

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक अपर्याप्त से सूक्ष्म अप्काय अपर्याप्त जीव विशेष अधिक है।

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक पर्याप्त से सूक्ष्म अप्काय जीव विशेष है।

अप्काय का उपभोग, स्नान, पान, धोना, तथा खाना बनाना आदि कार्यों में पानी का उपयोग होता है। शस्त्र दो प्रकार के हैं : स्वकाय शस्त्र और परकाय शस्त्र।

नदी के पानी के लिए दूसरी नदी का पानी और तालाब के लिए दूसरे तालाब का पानी स्वकाय शस्त्र है, जबकि गरम करना या मिश्रण करना आदि परकाय शस्त्र हैं।

तेजस्काय की वक्तव्यता :

सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक और अपर्याप्तक रुप से चार भेद हैं।

बादर अग्निकाय के भेद जीव विचार प्रकरण से जान लेना।

यदि काल का व्याघात न हो तो अठी द्वीप में रहता है और व्याघात हो तो केवल पांच महाविदेह क्षेत्र में रहता है। जैसे अयोध्या नगरी पर तीसरे आरे के चरम चरण के वक्त ऋषभदेव राजा थे तब अग्नि की उत्पत्ति हुई थी और वह पांचवे आरे के अंत तक रहेगी। उसके बाद भरत और ऐरावत क्षेत्र में से अग्नि का अभाव होगा और महाविदेह क्षेत्र में चौथा आरा ही होने से वहाँ बादर अग्निकाय का अभाव कभी भी नहीं है। सूक्ष्म अग्निकाय सर्व लोक-व्यापी है।

अग्नि के प्रकाश और गरमी के माध्यम से उसमें जीवों की सिद्धि होती है, जैसेकि, शरीर में जीवात्मा की विद्यमानता हो तब ही बुखार की गरमी का अनुभव होता है, मुर्दे में गरमी नहीं होती है। इसी प्रकार अग्नि का प्रकाश और गरमी ही जीव की सिद्धि दिखाते हैं और जीव की विद्य-मानता में ही अंगारे प्रकाश देंगे और गरम रहेंगे। अन्यथा किसी ने प्रकाश को देखा है ?

वायु की वक्तव्यता :

सूक्ष्म, बादर, पर्याप्ता और अपर्याप्ता रुप से चार भेद हैं। बादर वायु निम्नलिखित है।

[१] उत्कलिवायु :—तरंग की तरह जो रह रह कर बहे यह वह वायु है।

[२] मंडलिकावायु :—वंटोल या आंधी के रुप में बहे वह।

[३] गुंजावायु :—आवाज के साथ बहे वह।

[४] घनवातवायु :—बर्फ की शीला की तरह अत्यंत घन रुप से होता है और पृथ्वी के आधार रुप होता है।

[५] मंदस्तिमितवायु —शीतकाल आदि का शुद्ध वायु।

शरीर पर स्पर्श होते ही जिसकी जानकारी हो जाती है वह बादरवायु है। जिस तरह देवों का शरीर चक्षुगम्य नहीं है, फिर भी उसकी विद्यमानता और सचेतनता सबको मान्य है, उस तरह वायु प्रत्यक्ष नहीं दिखता है लेकिन उसका अनुभव होता है। इसलिए वह सचेतन है। शेष पृथ्वीकायिक की तरह जानना।

वनस्पति का उपभोग कैसे करेंगे ?

सूक्ष्म-बादर-पर्याप्ता और अपर्याप्ता रुप से चार भेद हैं। बादर वनस्पति साधारण और प्रत्येक रुप से दो प्रकार की है।

जिसके एक शरीर में अनंत जीव रहे वह साधारण, सूक्ष्म वनस्पतिकाय, अनंतकाय और सूक्ष्म निगोद कहलाता है।

और एक शरीर में एक जीव रहे वह प्रत्येक वनस्पति है। जिसके बारह भेद हैं। वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वेल, पर्व, घास, वलया, हरितकी, धान्य, जलरु, और भूमिस्फोट या तो अग्रबीज, मूलबीज, स्कंधबीज, पर्वबीज बीजरुह आदि छः भेद भी प्रत्येक वनस्पति के हैं।

मानव शरीर को खुराक, पानी, के अलावा क्रोध, मान, लज्जा, जीवन और मरण है. उसी तरह वनस्पति सचेतन होने से कुआ, बारिस आदि का पानी तथा जामुन, आम, नीम, रायण आदि ग्रीष्म ऋतु में भी पृथ्वी के भूगर्भ में से पानी का ग्रहण करती है। उसी तरह किसी किसी को लज्जा, क्रोध,

मान प्रत्यक्ष दिखाई देता है, इसलिए जिसे आहार-भय-मैथुन और परिग्रहादि संज्ञा होती है, वह जीव ही है।

पाँच स्थावर योनिक जीवों का मनुष्य जाति पर उपकार, पाँच स्थावर जीव मानव जाति के लिए कितने उपयोगी व उपकारक है, उसका ख्याल हमें आये बिना नहीं रहता। जैसे- मकान बनाने में ईंट, चूना, पत्थर, सिमेन्ट, मिट्टी उपकारक है। हीरा, पुखराज, सुवर्ण, चांदी पितल आदि के व्यापार से मानव समाज श्रीमंत बनकर अर्थ और काम को भुगत रहा है, उससे बने अलंकारों से अपने शरीर को संवारता है। इन सब में पृथ्वीकाय के उपकार को हम कैसे भूल सकते हैं ?

स्नान के पश्चात शरीर सजाने के लिए, शीत पेय पिलाकर तृषा छिपाने के लिए, वस्त्र चकचकित करने के लिए तथा मनपसंद भोजन व मिष्टान्न के आस्वाद में पानी बगैर हम क्या कर सकते हैं ?

खाना पकाने के लिए, सर्दी से बचने के लिए, अंधेरे को हटाने के लिए अग्निकाय के अलावा और क्या चारा है ?

गर्मी, पसीना व थकान हटाने के लिए पंखे के बिना क्या हम रह सकते हैं ? मल, मूत्र तथा स्त्री की कुक्षि से जन्म लेने वाले संतान को बाहर आने के लिए अपानवायु की भी बड़ी आवश्यकता है।

प्रतिक्षण श्वासोच्छवास के लिए तथा अपने सुखमय जीवन के लिये प्राणवायु मौलिक कारण है। अधिकतम गर्मी से बचने के लिये तिजोरी में पड़े हुये आभूषण के बजाय कुदरती शीत हवा ही जरूरी है, या तो फिर कृत्रिम हवा का आसरा लेना पड़ता है और अंतकाल में भी हम ऑक्सिजन की आवश्यकता को नकार नहीं सकते।

उपर्युक्त प्रसंगों में वायुकाय का अनहद उपकार हम देख सकते हैं।

अब हम वनस्पतिकाय के उपकार को देख लें।

मकान को खिड़की-दरवाजे, पलंग, सोफे, टेबल, कुर्सी, पाट तथा जिन वस्त्रों से शरीर का रक्षण होता है उन सूती वस्त्रों में वनस्पति का उपकार कोई भी मनुष्य नहीं नकार सकता।

शरीर को टिकाने के लिये जब, गेहूँ, शाली व्रीहि, साठी, चावल, कोदर, चना, काँग, रालक, तिल, मूँग, उड़द, अलसी, काला चना, मसूर, तुवर, धाना, मटर आदि प्रकार के चौबीस जात के धान्य हैं जो वनस्पति की पैदाश है और उपयोग भी सर्वथा अनिवार्य है, यह क्या सब हम नहीं जानते ?

शरीर पुष्टि के लिये बादाम, पिस्ता, मुनक्का, खजूर, अंजीर, काजु आदि का उत्पादन के लिये भी हम वनस्पति के आभारी हैं।

आपके खून को सशक्त बनाने के लिये नारियल, जामून, आम, आमफल, दाड़म, सीताफल, आमला, फनस, संत्रे, मोसंबी, नींबू, पपैया, टमाटर के अलावा भाजीपाला, सब्जी, मीर्ची आदि के उपयोग से क्या हमारा मन खुश नहीं होता ?

फिर भोजन के श्पचात् लौंग, सुपारी, इलायची, तज, बड़ीशोप आदि पदार्थ आप वनस्पति के विहीन कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? और आखिर हरड़े, इसबगूल आदि पेट तथा शरीर को स्वस्थ रखने के लिये तैयार हैं और अंत समय में शरीर को खाक करने में वनस्पति की लकड़ी के बिना हम क्या करेंगे ?

तब वनस्पति का उपभोग कैसे करेंगे ?

पंच महाव्रत को स्वीकारनेवाले और उनका पालन करने वाले साधु भगवंत और साध्वीजी महाराज जब से संयमित-दीक्षित होते हैं तब से पाप करना, कराना और अनुमोदन करना मन-वचन और काया से छोड़ देते हैं, इसलिए उन्हें कभी कोई प्रश्न नहीं रहता। किन्तु जो अभी गृहस्थाश्रम के वेष में हैं और धर्मपत्नी तथा पुत्र परिवार का परिग्रह लिए हुए है उनके लिए पांच स्थावर जीवों का उपयोग उपभोग करने के अलावा कोई चारा नहीं है। फिर भी सम्यक्त्व के प्रकाश में जब आत्मा को पुण्य-पाप का ख्याल होता है तब आरंभ, समारंभ किये बिना चलता नहीं है, पर मानसिक जीवन में हजारों प्रकार के विचार आते हैं और जाते हैं, लेकिन उपाश्रय में आकर गुरुदेवों के व्याख्यान में अहिंसाधर्म का या द्रव्य तथा भावदया धर्म का श्रवण जैसे जैसे होता जायेगा और उसमें रमणता आती जायेगी वैसे वैसे सम्यग्ज्ञान का विकास भी होता जायेगा। जिसके कारण पापभीरुता, दया और परोपकारिता की वृद्धि होने से सर्वथा अनिवार्य को छोड़कर शेष भोग्य या उपभोग्य चीजों का त्याग करेगा, उस त्याग का अभ्यास करेगा, और जैसे होगा वैसे उसे मर्यादा में रखेगा। यानि कि दररोज उपयोग में आते पदार्थों की मर्यादा करेगा। क्योंकि जिन पदार्थों के उपयोग में आदमी का शरीर, रक्त, मांस, वीर्य, बल, बुद्धि, और आध्यात्मिक जीवन खराब हो वैसे पदार्थों का त्याग करना ही श्रेयस्कर मार्ग है। बिगड़े हुये शरीर में मन भी बिगड़ा हुआ रहेगा और ऐसे मन में आत्मा भी आशक्त, मृतप्राय और किंकर्तव्यमूढ़ रहेगा।

फलस्वरुप अरिहंत परमात्मा की पहचान आप कभी भी नहीं कर पायेंगे।

संसार का प्रत्येक मानव आरोग्य की इच्छा रखता होने से अपनी सच्ची या गलत जानकारी के मुताबिक तंदुरुस्ती के प्रयत्नशील रहता है। यही आदमी जब आहारसंज्ञामय बनकर इन्द्रियों का गुलाम बनता है तब उसके खान-पान में तबदिली हो ही जाती है और खाये हुये अन्न में से वायु, पित्त, कफ आदि का निर्माण होता है यह तीनों शरीर में समप्रमाण होने चाहिये, शरीर का संचालन और स्वास्थ्य इन तीनों पर निर्भर है। तीनों में विषमता आ जाने से दर्द का चक्कर मिटेगा नहीं। इसलिए ज्ञानपूर्वक वह तीन धातु समान भाव से रह पाये ऐसे पदार्थों का उपयोग मर्यादा में रहकर करना और प्रकृति के प्रतिकूल पदार्थ चाहे कितने भी अच्छे क्यों न हों लेकिन उनका त्याग करना या तो उसे छोड़ने का करना। जैसे कि :—

शरीर की वायुप्रकृति हो तो खानपान की मर्यादातीतता को लेकर वायु भड़क उठा हो उस वक्त जो वनस्पति कटु, तेज हो उसे छोड़ देनी चाहिये। अधिकतम चिंता, जागना, क्रोध, बकवास, परिश्रम, मर्यादातीत स्त्रीसंग, चना, मठ, मटर और बासी आहार का त्याग करना चाहिये।

जिनकी पित्तप्रकृति हो अथवा पित्तप्रकोप ज्यादा हो उन्हें अधिक गर्म, लाल मिर्च, ज्यादा गुड़ व उससे बने पदार्थ, उड़द, बैंगन लसून तथा बाजरे का त्याग करना चाहिये। तदूउपरांत अतिक्रोध, तंबाकू, धूप में खड़े रहना, प्राकृतिक या अप्राकृतिक वीर्य या रज का क्षय करना, गर्म पानी से स्नान करना या सिर पर गर्म पानी डालना इत्यादि प्रसंगों

का त्याग करना व दाल; उड़द; खीचड़ी, मूले; काकड़ी नमक हिंग आदि का अल्प मात्रा में उपयोग करना जिससे पित्त की उत्पत्ति ज्यादा न हो।

कफ जिसे बार-बार हो जाता हो उसे उड़द, तिल, गन्ना, गन्ने का रस, गुड़, अलसी, मीठाई, माँस, मछली, बासी चावल, खट्टे-रसीले पदार्थ, तले हुए पदार्थ, घी-तेल से भरे शोरे-लापसी आदि बासुंदी, पेड़े गुलाब जामुन, रसगुल्ले आदि पदार्थ तथा बर्फीले पेय, आईस्क्रीम, ज्यादा चाय, कॉफी आदि पदार्थ छोड़ देने चाहिये जो शरीर की सुखाकारी के लिए श्रेयस्कर हैं।

बार-बार अजीर्ण, दस्त, वमन, जम्हाई और निद्रा का अधिकतम जोर हो तब समझ लेना कि आपके शरीर में वायु-पित्त-कफ की वृद्धि हो रही है। इस स्थिति में प्रथम अजीर्ण हटाने का यत्न करना चाहिये। दो रोटी खानेवाले को भी अजीर्ण हो सकता है। या तो खाने के वक्त एक रोटी खाने वाला श्रीमंत दूसरी ओर २५-३० बादाम, ३-४ केले, मुट्ठी भर सींगदाने, चना जोरगरम, पावभाजी. दहीवडा, बटाटा बड़ा, कचोरी, पानीपूरी से पेट भर कर सोफे पर बिराजमान रहता हो तो उसे अजीर्ण कैसे मिट पायेगा? और उससे जुलाब, वमन और जम्हाई से कौन छुटकारा दिलायेगा? क्योंकि "अजीर्ण प्रभवा रोगा." हरएक रोग अजीर्ण की देन है।

उपर्युक्त सब प्रसंगों की जानकारी के बाद आहार संज्ञा को क्रमशः कम करनी है, उसकी लालसा कम करनी है और जिससे स्वास्थ्य को हानि पहुँचती हो, ऐसे खुराक मर्यादा में

लेना, जिससे शारीरिक स्वस्थता बढ़ेगी, हमारा मन ताकतवर और आत्मा निर्मल बनेगा। इसलिये....

[१] मन में पवित्र भाव रखकर भूख लगी हो उससे भी कम खाना चाहिये जिससे पाचनशक्ति स्वस्थ रहेगी।

[२] धर्म का भी पालन होगा, क्योंकि जानबूझकर इच्छाओं का विरोध करने से सम्यक्त्व की आराधना सुलभ रहेगी।

[३] परिग्रह संज्ञा मर्यादित होने से खाने पीने का पदार्थ अन्य को सुलभ होने से आपके हृदय में भावदया की उत्पत्ति होगी, क्योंकि छोटे-बड़े सब को पेट भरने का हक है।

॥ शतक ३३ समाप्त ॥



शतक ३४ : उद्देशक-१

उपक्रम :

इस शतक में एकेन्द्रिय जीव एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने के लिए कितना वक्त लेता है ? इस विषयक प्रश्न और उत्तर हैं; जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञेय तत्त्व होने से केवली भगवंत के सिवा अन्य कोई इसे जानने में समर्थ नहीं है।

चक्षुदर्शन से प्राप्त हुई आँखें चाहे कितने भी दूरस्थ पदार्थ को देख पाती होगी, किन्तु चक्षुज्ञानावरणीय कर्म को लेकर मर्यादा से बाहर रहे हुये पदार्थों को देखने के लिए किसी की भी आँख काम नहीं आती, तो फिर क्षेत्रांतर में रहे जीव, उनकी गति, अगति, उनके कर्म, कर्मों के भुगतान तथा वे जीव स्थलांतर किस तरह तथा कितने समय में करते हैं ? यह ज्ञेय तत्त्व चक्षु के विषय से बाहर का होने से चाहे कोई कितना भी ज्ञानी हो पर छद्मस्थ होने के कारण किसी भी काल में इसे जानने के लिये समर्थ नहीं है। या तो किसी भी पदार्थ को जानने की क्षमता होने पर भी चक्षुरिन्द्रिय की क्षेत्र मर्यादा में यदि वह पदार्थ नहीं हो फिर उसे कोई कैसे जान सकता है ? दीवार के पीछे रहे पदार्थ भी जब तक दीवार का व्यवधान हो तब तक ही अदृश्य पदार्थ हैं। चक्षुरिन्द्रिय में जो तेज हैं उसकी भी मर्यादा है, अन्यथा रेल के इन्जिन के जोरदार प्रकाश में आँख अकिंचित्कर कैसे रहती होगी ? जबकि कम प्रकाश में प्रत्येक मानव ठीक से देख सकता है, किन्तु अंधेरे में कोई भी पदार्थ चक्षुगोचर नहीं होता, और हिंसक पशु अंधेरे में अच्छी तरह से देख पाते हैं और उन

हिंसक जानवरों से अधिक पुण्यशाली मानव देख नहीं सकता है। जिन पदार्थ को देखने की क्षमता आँख के पास है वही पदार्थ देखा जा सकेगा। इन सब बातों से यह जानना सरल है कि आँख की भी अपने विषय को ग्रहण करने में मर्यादा लगती है और यह मर्यादा चक्षुज्ञानावरणीय और चक्षुदर्शन-वरणीय कर्म के अतिरिक्त और क्या हो सकती है?

छद्मस्थ के पास चक्षुदर्शनावरणीय और चक्षुज्ञानावरणीय कर्म की सत्ता विद्यमान होती है। छद्मस्थ कौन? इसे हम शास्त्रीय पद्धति से जान लें।

क्षद्मस्थ यानि क्या?

अब तक के भगवतीसूत्र में कई बार 'छद्मस्थ' शब्द का प्रयोग हुआ पर उसका माइना क्या? उसे जानना बाकी है। इसमें छद्म और स्थ इन दो शब्दों का समास है।

(१) छद्म-कर्म (आव १३४)

आवश्यक सूत्र में छद्म का अर्थ ही कर्म है। जिनकी संख्या आठ है। इसका विस्तृत वर्णन प्रथम भाग में दिया गया है।

(२) छद्म आवणम् (भग० ७)

भगवतीसूत्र के सातवें में छद्म का अर्थ आवरण किया गया है। आवरण यानि दूसरे को ढाँकना। प्रस्तुत में आत्मा की अनंत ज्ञान शक्ति, दर्शनशक्ति, वीर्यशक्ति और अव्या बाध सुखशक्ति का जिससे आवरण हो वह शक्ति कि जिससे कुछ दब जाय, हनन हो जाय, कमजोर हो जाय उसे आवरण कहते हैं। "आत्मनोऽनन्तचतुष्टयम् वारयति—आवारयति छादयतीति आवरणम्" जबकि आचारांग सूत्र में घाती कर्म को ही छद्म कहा गया है।

इस तरह का छद्मभाव जिसके पास हो वह छद्मस्थ है।

(१) छद्मस्थोऽवधिज्ञानरहितः (भग ६६)

(२) विशिष्टाऽवधिज्ञानविकलः (प्रज्ञा ३०३)

जब तक जीवात्मा को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हो तब तक उसका ज्ञान अज्ञान ही रहता है और जब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो तब उसका सब अज्ञान सम्यग्ज्ञान में परिवर्तित होता है। उसके क्षायिक और क्षायोपशमिक रूप से दो भेद हैं। मतिज्ञान श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनः पर्यवज्ञान क्षायोपशमिक हैं। इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखनेवाला मति और श्रुतज्ञान परोक्ष है तथा पाँच इन्द्रियें और छठे मन की अपेक्षा रखे बिना ही आत्मा को जो ज्ञान हो वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। जिनके अवधि और मनःपर्यव से दो भेद हैं।

अवधि का अर्थ ही मर्यादा है जो क्षयोपशम के ही आधीन है।

किसी को अवधिज्ञान, खुद जिस क्षेत्र में रहा हो, उसी मर्यादा में रहे हुए जीव तथा अजीव को जान सके उतना होता है।

किसी को ज्यादा मर्यादायुक्त हो तो समुद्र के अंतराल को या देवलोक के विमान को व नरक के नारक जीवों को भी जान सकता है।

किसी को तत्काल जाने का हुआ हो तो पलक झपकते ही नाश होता है।

किसी को लंबे काल तक रहना हो तो ज्यादा रहता है।

किसी को देव-नारक, द्वीप-समुद्र आदि को प्रत्यक्ष कराने-

वाला अवधिज्ञान हुआ हो लेकिन परिणामों की विचित्रता को लेकर वह ज्ञान घटता भी जाता है।

जबकि किसी को अवधिज्ञान कम क्षेत्र की मर्यादा वाला हुआ हो और बढ़ते बढ़ते ज्यादा विस्तृत हो जाता है।

सारांश यह है कि यह ज्ञान क्षायोपशमिक होने से किसी को भी केवलज्ञान दिला नहीं सकता।

मनः पर्यवज्ञान से अढीद्वीप के मानवों के मनः परिणाम को जाना जा सकता है, फिर भी वह ज्ञान क्षायोपशमिक होने से भाडूती है, उसको बीजली की तरह आते और जाते हुये वक्त नहीं लगता। इसलिए इन दोनों के मालिकों को छद्मस्थ कहा जाता है।

इस प्रस्तुत सूत्र में अवधिज्ञान रहित छद्मस्थ है, जबकि छद्मस्थ होने के बावजूद भी तीर्थंकरों को अवधिज्ञान होता है और दीक्षा लेने के बाद मनः पर्यवज्ञान की विद्यमानता भी होती है। देवों को तथा नारकों को भी अवधिज्ञान है, तथा छद्मस्थों को भी है। जबकि यहाँ अवधिज्ञान से परमावधिज्ञान लेने का है, क्योंकि परमावधि रहित अवधिज्ञान का विश्वास नहीं किया जाता, जबकि परमावधिज्ञान, केवलज्ञान को प्राप्त कराये बिना जाता नहीं है।

देवाधिदेव, भगवानमहावीरस्वामी जन्म से ही तीन ज्ञानवाले थे और दीक्षा के बाद उन्हें मनःपर्यवज्ञान प्राप्त हुआ था, लेकिन चारों ज्ञान चाहे कितने भी शुद्ध क्यों न हो, केवलज्ञान की मर्यादा में आने का शक्य नहीं बनता है। क्योंकि वे क्षायोपशमिक ज्ञान है।

संयम मार्ग का स्वीकार करने के बाद कठिन तपस्या करते करते बहुत साल बीते तब एक वक्त माह, महीने की कातिल ठंड में कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानस्थ परमात्मा को उनके पूर्व भव की किसी बैरण ने भयंकर रूप लेकर महावीर स्वामी के शरीर पर ठंडा पानी डाला था। कल्पसूत्र कहता है कि, शीतोपसर्ग इतना भयंकर था कि तीर्थंकर जैसे तीर्थंकर को भी कठिन लगा था। लेकिन धीर, वीर और गंभीर परमात्मा ने अपनी अदम्य शक्ति से उसे सहन किया था और परमावधिज्ञान प्राप्त किया था, जो केवलज्ञान की पूर्व भूमिका रूप है, इसलिए छद्मस्थ का मतलब बताते हुए भगवतो ने कहा है कि, जब तक यह ज्ञान प्राप्त नहीं होता है तब तक साधक छद्मस्थ है।

(३) छद्मस्थ :—छद्मनि स्थितः छद्मस्थोऽनतिशायी (न० चू० प्र० १५२)

(४) छद्मस्थ इह निरतिशय एव द्रष्टव्यः (ठाणा ५०६)

सम्यग्ज्ञान दो प्रकार से हैं।

(१) सातिशयज्ञान (२) निरतिशयज्ञान। इसमें से प्रथम ज्ञान केवली को और दूसरा ज्ञान छद्मस्थ को है।

अतिशय यानि :

'अधिशेते जयत्यनेनेति अतिशयः' (अभिधान कोश) यानि कि, धातीकर्मों का सर्वथा नाश होने के बाद आत्मा को जो अनंत शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, उससे महापुरुषों को, अन्यत्र देखने, सुनने या पढ़ने को न मिले ऐसे अतिशयों की प्राप्ति होती है, जिसके कारण करोड़ों देव-देवीयाँ, इन्द्र-इन्द्राणीयाँ प्रति समय उनकी सेवा में हाजिर रहती हैं।

तो फिर मृत्युलोक के राजा, महाराजा, उनकी राणीयाँ, पुत्रीयाँ, सेठ, सेठाणीयाँ, भी तीर्थंकरों के अतिशयों में अपना सर्वस्व अर्पण करके अपने आत्मा का कल्याण करें, महाव्रत स्वीकारें, श्रावक बनें, उसमें क्या आश्चर्य हैं? सारांश यह है कि, तीर्थंकर जन्म लेते ही चार अतिशयों के मालिक होते हैं। जो निम्नलिखित हैं :

चार अतिशय मूल के :

(१) तीर्थंकर परमात्माओं का शरीर, राजा महाराजा, वैमानिक देव, इन्द्र तथा गणधरों के शरीर से बढ़िया होता है, जो सर्वथा स्वाभाविक और पुण्यकर्म की चरम सीमा का फल है, द्रव्य तथा भावरोगरहित, पसीना रहित, तमड़ी आदि के मल रहित होता है।

(२ श्वास आदि में कमल जैसी सुगंध होती है।

(३) गाय के दुध जैसा और माँस दुर्गंध रहित जानना।

(४) आहार यानि खाने का तथा निहार (ल शंका गुरुशंका) चर्म चक्षुवालों के लिए अदृश्य होती है। केवल अवधिज्ञानीओं के लिए ही दृश्य है। यह चार अतिशय जन्म के साथ होते हैं।

घाती कर्मों की विद्यमानता में जो अतिशय अब तक सत्ता पर होने पर भी अदृश्य थे उन कर्मों का नाश होने पर संसार के लिए बराबर दृश्य होने पाते हैं, वह इस तरह—

[१] योजन अनुसार जमीन पर बने समवसरण में भी करोड़ करोड़ की संख्या में देव, तिर्यंच और मनुष्य का समावेश कोई भी रुकावट विहीन होता है।

[२] योजन प्रमाण तक पहुँच सके उस अर्धमागधी भाषा को देव, भिन्न भिन्न भाषी मनुष्य व तिर्यंच भी जान सकते हैं।

[३] भगवान के मस्तक के पीछे सूर्य समान तेजस्वी भामंडल होता है, जिसमें प्रतिबिंबित प्रभु के मुख को करोड़ों देव और मानव देख सकते हैं।

[४] हरएक दिशा में सवा सौ योजन तक में ज्वरादि रोग उत्पन्न नहीं होते।

[५] पारस्परिक बैर-विरोध का शमन होता है।

[६] धान्य को हानि पहुँचाने वाली इति (चूहे, तीड़, पंछी आदि) नहीं होती।

[७] मारी आदि उपद्रव यानि कि व्यापक रूप से मरणादि नहीं होते हैं।

[८] अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि का उपद्रव बेमर्याद नहीं होता।

[९] वृष्टि का अभाव यानि दुष्काल आदि नहीं होता।

[१०] दुर्भिक्ष यानि अनाज आदि का अभाव नहीं होता।

[११] देश व परदेश से किसी भय का उत्पात नहीं उठता।

उपर्युक्त ग्यारह अतिशय के कारण, जनमानस, तीर्थंकर परमात्माओं के चरण में नतमस्तक बनता है, यानि कि उनके पुण्यातिशय में मानवमात्र अपनी जात, पात, पंडिताई,

हुशियारी छोड़ देता है और परमात्मा के चरणों में बैठकर अनादिकाल के संसार में किसी भी काल में नहीं देखी, सुनी, सोची व अनुभवित की हुई अद्‌भुत परिस्थिति का अनुभव करता है, तथा सम्यग्‌दर्शन की प्राप्ति के बाद ज्ञान और चारित्र का पूर्ण रागी बनकर केवलज्ञान पाने के लिए नसीबवंत बनता है।

सम्यक्‌त्वी हो या मिथ्यात्वी हो, मनुष्य हो या देव हो, सभी अपायापगमातिशायी, वचनातिशायी, पूजातिशायी और ज्ञानातिशायी केवली भगवंत को अपने अवधिज्ञान द्वारा, तथा प्रत्यक्ष रुप से देखते हैं तब देवों को तथा इन्द्रों को भी अपनी देवमाया असार लगती है।

कपूर की टिकिया जैसे रुपवंत शरीर भी रोगग्रस्त दिखाई देता है।

इन्द्र की नदी भी बिजली की चमक जैसी अस्थिर और एक दिन छोड़नी पड़ेगी ऐसा सोचना पड़ता है।

पूनम के चाँद जैसी, सुगंधित खजाने जैसी, पसीनारहित सर्वथा स्वाधीन देवी और उनके संग किये हुये भोगविलास अधःपतन कारक लगते हैं।

इस तरह से देव जब संसार के असली स्वरुप का निर्णय करते है, तब उन्हें लगता है कि संसार को अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि तत्वों ही की आवश्यकता है। इसलिए वे देवमाया का मोह छोड़कर भी अहिंसा के पूर्णअवतारी, सत्य स्वरुप, ब्रह्मनिष्ठ और परिग्रह के पूर्णत्यागी देवाधिदेव परमात्माओं की सेवा करने के बहाने से मोहमयी मानव समाज को मिथ्यात्व में से, असत्य में से, हिंसा में से, दुराचार से बाहर लाने के लिए अहिंसा-संयम और तपोधर्म

के प्रचारक बनने का ठान लेते हैं। इस प्रकार उन तीर्थंकर परमात्माओं का माहात्म्य बढ़ाने के लिये अपनी वैक्रियलब्धि द्वारा उन्नीस तरह के अतिशय करते हैं। जिससे मानव समाज जागृत हो, समवसरण की ओर जाने का आकर्षण हो और वह बढ़ने पाये।

संसार दुःखी है, रोगी है, महारोगी है, इसलिए दयावासी देव मानव समाज की सेवा करने के लिए ही तीर्थंकर परमात्माओं की सेवा करते हैं। क्योंकि संसार का उद्धार करने से लिए किसी राजा, महाराजा, चक्रवर्ती, वासुदेव, का सैन्य काम नहीं आया तथा श्रीमंतों की श्रीमंताई, रुपवानों का रुप, और सत्ताधारीओं की राजसत्ता भी मानव समाज को सुख नहीं दे पायी। क्योंकि सत्ता का नाता सिर्फ भौतिकवाद के साथ रहा हुआ है। ऐसी सत्ता संसार के मानव को अध्यात्म का शासन कैसे दे सकेगी ? इसी कारणवश संसार को सुख शांति और समाधि देने के लिए अध्यात्म योगी ही पूर्ण सफल बनते हैं। यह योगी केवलज्ञानी के अलावा और कौन हो सकते हैं ? क्योंकि :—

नाम अध्यात्मी, स्थापना अध्यात्मी और द्रव्य अध्यात्मी केवल लखलूट पैसा दिला सकेंगे, मान बढ़ा सकेंगे, संसार का थोड़ा भाडूती भला करा सकेंगे, क्योंकि वे खुद सुख-शांति तथा समाधि से अधूरे हैं। इसलिए भावअध्यात्मिक की प्राप्ति करनेवाले केवलज्ञानी की सेवा ही सच्ची सेवा है, ऐसा समझकर अरिहंत परमात्मा का महिमा जनमानस में स्थित और स्थिर बनाने के लिए देव प्रतिसमय परमात्मा के चरणों में सेवक-भावक बनकर तैयार ही होते हैं और अहिंसा-संयम

तथा तपोधर्म के प्रचार को ही आध्यात्मिक प्रचार मानकर अपनी संपूर्ण शक्ति से अरिहंतो की सेवा करते हैं।

किसी भी राज्यसत्ता के आधीन बने बिना, लालसा बिना, या इन्द्र महाराज को खुश करने के आशय बिना ही तीर्थंकर परमात्मा के सेवक बनते हैं और—

संसार की हिंसा को देखकर, विस्टा के कीड़े की तरह दुराचार में पड़े मानवों को देखकर, तथा इन्द्रियों की भोग लालसा में जानवरी से भी बदतर मानव समाज को देखकर—

त्रस्त बने वे देव, संसार के उन भावरोगों में से मानव समाज को मुक्त कराने की पवित्र भावना के वश बनकर, अरिहंत देव के उपासक बनते हैं और मानव समाज को भी उपासक बनाने के नेक इरादे से वे देव निम्नलिखित अतिशय करते हैं—

(१) खे धर्मचक्र :—बार प्रकार के सूर्य से भी ज्यादा प्रकाश देनेवाले, लाखों फूललाईटों को शरमानेवाले और करोड़ों संख्या के हीरों के प्रकाश को भी निस्तेज करनेवाले 'धर्मचक्र की विकुवर्णा करते हैं। वह चक्र प्रमाद में सोयी मानव जात को कहता है कि, हे मानव ! आज तक तुम जोहुक्मी राजसता के चक्र को मानते आये हो जो पराधीनता की जंजीर का लक्षण है, इसलिए यदि आत्मा की सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त करनी है तो और भव रोगों को नावुद करना है तो अरिहंत परमात्मा के धर्मचक्र को मानकर आप समवसरण में आईये।

(२) खे चामरा :—पूर्ण विवेक से आकाश में चामर फिर

रहें हैं, जिनकी दांडी सुवर्ण की है और स्वयं अति उज्जवल है। मोह के नशे में बेहोश मानव जात को वे चामर कहते हैं कि, हे मानव! हम परमात्मा के कदमों में झुककर भी उर्ध्व-गतिवाले बनते हैं, इस प्रकार जो भाग्यशाली परमात्मा के चरणों में अपना मस्तक झुकायेगा वह अचुक संसार की मायाबेडी से मुक्त बनेगा और नजदिक के भविष्य में उर्ध्व-गतिवाले बनेंगे। समझ लेना कि संसार की सेवना दुर्गति-दायक हैं और अरिहंतों की द्रव्य तथा भावपूर्वक की आराधना उर्ध्वगति देनेवाली है।

(६) खे सपादपीठ सिंहासन :—स्फटिक से ज्यादा उज्जवल पादपीठ वाला सिंहासन बनाकर वे देव अबुद्ध मानव सृष्टि को कहते हैं कि तुम द्रव्य और भावनिद्रा को छोड़ो और भिन्न भिन्न मणियों से देदीप्यान बनी कांति से चित्र-विचित्र बने सिंहासन पर विराजमान और उदयाचल पर उदित होते तेजस्वी सूर्य की तरह चमकते तीर्थंकर परमात्मा को तुम देखोगे तो तुमको मालूम पड़ेगा कि, ऐसे अद्वितीय महिमावाले तीर्थंकर अरिहंत परमात्मा के अलावा दूसरा कोई मानव, देव या देवेन्द्र भी नहीं है।

(४) खे छत्रत्रयं :—आकाश में तीन छत्रों की विकुर्वणा करते हुये मानो देव कह रहे हैं कि, हे भाग्यशाली! चंद्र की तरह उज्जवल और सूर्य के तेज (प्रताप) रोकनेवाले इन तीनों छत्र के नीचे विराजमान परमात्मा अरिहंत में मानो कि तीन जगत का आधिपत्य समाया है। यह सोचकर प्रभु की सेवा करने के बहाने से तारों के साथ चन्द्रमा खुद मोती का रुप धारण करके कह रहा है कि 'हे जगत के मानव। तुम निश्चय

ही जान लेना कि द्रव्य तथा भाव अंधकार को नाश करने में अरिहंत परमात्मा के सिवा कोई मानव समर्थ नहीं है।

(५) स्वे रत्नमयध्वज :—आकाश में रत्नमयध्वज जो इन्द्रध्वज कहलाता है, उसमें भिन्न भिन्न रंग की पताका लहरा रही है। ज्यादातर पंच परमेष्ठी की स्मृति करानेवाली पाँच रंग की ध्वजा है।

(१) अरिहंतदेव का सूचन करनेवाली सफेद पताका है।

(२) लाल रंग की पताका सिद्धात्मा का सूचन करती है।

(३) आचार्य भगवंत को सूचित करनेवाली पीले रंग की ध्वजा है।

(४) उपाध्यायजी की सूचक हरे रंग की पताका।

(५) और मुनिराज का स्मरण करानेवाली ध्वजा काले रंग की है। अथवा जैनशासन के साहित्यकारों ने इस रुचि को पीले रंग की कही है। हरा रंग सम्यक्-चारित्र को सूचित करता है, क्योंकि चारित्र की आराधना से मानव जीवन हरा भरा रहता है; इसलिए आनंद मंगल करानेवाला चारित्र है, और सफेद रंग से सम्यग्ज्ञान सूचित होता है, क्योंकि ज्ञान उज्जवल है। इस तरह इन्द्रध्वज में रहे रंगबिरंगी ध्वजा पंचपरमेष्ठी तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र को सूचित करनेवाली है!

(६) सुवर्ण कमल :—तीर्थंकर परमात्मा जहां विहार करते हैं, वहाँ देव, सुवर्ण के नवकमल को रखते हैं, उनमें से दो कमल पर परमात्मा के चरण पड़ते हैं, और जो कमल पीछे हैं, उन्हें देव आगे आगे रखते हैं।

(७) समवरण में तीन गढ़ :—तीन लोक में व्याप्त हुए परमात्मा के कांति, प्रताप और यश के कारण समवसरण में देव तीन गढ़ की रचना करते हैं। उनमें पहला गढ़ रत्नों का दूसरा सुवर्ण का और तीसरा चांदी का होता है। कांति का रंग लाल जैसा, प्रताप का रंग अग्नि जैसा और यश का रंग सफेद होता है। इसलिए गढ़ भी माणिक्य, सुवर्ण और चांदी का होता है।

(८) चतुर्मुख :—समवसरण में बैठी हुई पर्षदा अपने सम्मुख भगवान दिखाई दे इसलिए पूर्व दिशा में भगवान स्वयं विराजमान रहते हैं और तीन दिशाओं में देव, परमात्मा के शरीर सदृश दूसरे प्रतिबिंब रखते हैं। तीन छत्र प्रत्येक दिशाओं में रहते हैं, और प्रभु मानो कि चार मुख से देशना देते हैं यह अनुभव श्रोताओं को होता है।

(९) अशोकवृक्ष :—चैत्य नामक अशोकवृक्ष जो प्रभु के शरीर से बारह गुना बड़ा होता है, जिनमें छत्र, घंटा और पताका होती है। समवसरण की रचना के वक्त देवता इस वृक्ष की रचना करते हैं। जिसके नीचे परमात्मा अरिहंत देव बैठते हैं और धर्मोपदेश देते हैं। उस वक्त देव उनमें रखी घंटी के जोरदार आवाज से कहते हैं कि—हे मानव ! आप जिस संसार में मग्न हुये हैं वह किसी को आदि में, मध्य में, और किसी को अंत में आधि, व्याधि उपाधि, रोग, शोक तथा संताप को देनेवाला है।

इस सत्य हकीकत को आप समझें और परमात्मा के चरण का स्वीकार करें, जिससे संसार के सब दुःख नष्ट होंगे। जिस तरह यह एकेन्द्रिय वृक्ष प्रभु शरण का स्वीकार

करके अशोक अर्थात् शोक विहीन बना है। आकाश में सूर्य का उदय होता है तब वृक्ष का भी विकास होता है, तो फिर केवलज्ञानीओं को ज्ञान ज्योति प्राप्त होने पर मानव का विकास हो जाय इस बात में क्या आश्चर्य ?

(१०) अधोमुखी काँटा :- जिस स्थल में केवली परमात्मा विचरते हैं, उस रास्ते में बिखरे हुये काँटे भी किसी को हानि नहीं पहुँचाते।

(११) वृक्ष भी नम्र बनते हैं :—जिन जिन स्थल से परमात्मा गुजरते हैं वहाँ के वृक्ष भी नम्रता धारण करके परमात्मा को नम्र भाव से कहते हैं, हे प्रभो ! गतभव में आपके शासन की विराधना करने से हम पंचेन्द्रियत्व से भ्रष्ट होकर एकेन्द्रियत्व के मालिक बने हैं। इसलिए इस अवतार में भी हम आपश्री को मन, वचन और काया से एकाग्र बनकर भावपूर्वक वन्दन-नमन करते हैं।

(१२) दुदुंभिनाद :-समवसरण में बिराजमान होकर परमात्मा जब नवतत्वमयी देशना देते हैं, तब देव अपनी दुंदूभि के नाद से जगत के जीवों को नम्र भाव से कहते हैं कि, 'हे भाग्यशालीओं, आप प्रमाद के वश बनकर अनंत भव बिगाड़ चुके हो, इसलिए इस भव में प्रमाद का त्याग करके समवसरण में आईये, परमात्मा की देशना एकाग्रचित से सुनिये। याद रखना कि यदि, इस भव को भी आपने प्रमाद वश होकर बिगाड़ दिया तो फिर से यह समवसरण-देवाधिदेव उनकी संसारतारिणी देशना, उनका पापनाशक मुखकमल किस भव में देखने को मिलेगा यह कहा नहीं जा सकता, इसलिए जो बाजी हाथ लगी है उसको हारना मत, अन्यथा दिया लेकर कुएँ में गिरने जैसा होगा।

(१३) अनुकूल पवन :—योजन तक वायु भी अनुकूल, शांत, सुगंधी और शीतल होकर प्रभु की सेवा करता है।

(१४) पक्षी भी प्रभु की प्रदक्षिणा करते हैं।

(१५) पंचवर्णी पुष्पों की वृष्टि होती है।

(१६) सुगंधी जल की वृष्टि होते ही रास्ते की धूल किसी को भी प्रतिकूल नहीं रहती है।

(१७) संयम के बाद दाढी आदि के बाल अपने आप नहीं उगते हैं।

(१८) जघन्य से करोड़ों देव सेवा में हाजिर रहते हैं।

(१९) छः ऋतु प्रभु को अनुकूल होती है।

उपरोक्त :

४ अतिशय जन्म से उद्भवित हैं।

११ कर्म क्षय के बाद उद्भवित होते हैं और १९ देव करते हैं।

इस प्रकार केवल, तीर्थंकर सातिशय होने से देवाधिदेव परमात्मा है। जबकि छद्मस्थ को ज्ञानावरणीयादि कर्मों के कारण अतिशय आवृत होने के कारण संसार के सब पदार्थ और प्रत्येक द्रव्य के अनंत पर्यायों को जानने के लिए समर्थ नहीं हैं जबकि सातिशयी, केवली, सर्वज्ञ, तीर्थंकर परमात्मा ही संसार के यथार्थ स्वरुप को जान सकते हैं और उसके मुताबिक उपदेश दे सकते हैं।

जैन शासन में और खास करके इस प्रस्तुत शतक में एकेन्द्रिय जीवों की चर्चा है, जिसके भेद निम्नलिखित हैं। पृथ्वीकाय, अपकाय, अग्निकाय और वनस्पतिकाय रुप से

पांच भेद हैं। उसमें प्रत्येक के सूक्ष्म बादर और दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त। मतलब कि सूक्ष्म जीव अपर्याप्त पर्याप्त भी होते हैं और बादर भी होते हैं। इस प्रकार ५ X ४ = २० भेद जानना।

(१) अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय।

(२) पर्याप्तसूक्ष्म पृथ्वी- अप्, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय।

(३) अपर्याप्त बादर पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय।

(४) पर्याप्त बादर पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय।

इनमें से सूक्ष्म जीवों को केवली परमात्मा ही ज्ञान द्वारा देख पाते हैं। जबकि बादर नाम कर्म को लेकर बादरत्व को प्राप्त होने पर भी, उनमें से कई बादर जीव इतने सूक्ष्म होते हैं कि चर्मचक्षुगम्य नहीं होते पर जब वे संख्यात इकट्ठे होते हैं तब शायद उनकी विद्यमानता का ख्याल आता है और जो जीव चक्षुगम्य बादर हैं वे सब के लिए प्रत्यक्ष हैं।

सूक्ष्म नामकर्म के कारण पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव चौदह राजलोक में पूर्णरूप से व्याप्त होने पर सातवीं नरक के किसी कोने में भी उनकी सत्ता हो सकती है और वे देवलोक के देवविमान में भी रहते हैं।

काजल की डिब्बी में काजल खूब भरा रहता है, उस तरह यह सूक्ष्म जीव सारे ब्रह्मांड में भरे हुये हैं। जीव अरुपी और उनका शरीर सूक्ष्म होने से अछेद्य, अभैद्य, अदाह्य अर्थात्

किसी से छेद नहीं होनेवाला और नहीं जलनेवाला है, किन्तु उसकी हत्या सिर्फ मानव के मानसिक विचारों के अधीन है, क्योंकि असंयमित यानि विरति रहित प्रत्याख्यान रहित जीवात्मा हिंसक ही होता है और यह सूक्ष्म जीव भी विरति रहित होने से प्रतिसमय सात व आठ कर्मों को बांधते हैं।

जीव चाहे, सूक्ष्म हो कि बादर हो पर उन्हें जन्म और मृत्यु भी है। माना कि उनका आयुष्यकर्म कम होने से आँख झपकते ही जन्म लेते हैं, और मरते हैं, जिसे छद्मस्थ मानव जान नहीं पाता।

इस शतक में रहे हुए प्रश्न और उत्तर का भाव यह है कि जन्म लेने के बाद मरनेवाला जीव मारणांतिक समुद्घात से मरता है और एक से चार समय तक की मर्यादा में दूसरे स्थल में जन्म लेता है, वह :—

(१) वहाँ किस तरह से जाता है ?

(२) उनकी गति क्या ?

(३) और कौन सी गति से कितने समय में दूसरे स्थल में जन्म लेता है।

उपर्युक्त सारी बातें ज्ञानावरणीयादि-चार घातीकर्मों में रहनेवाला छद्मस्थ कैसे जान सकता है ? इसलिए केवलज्ञान और केवलदर्शन के स्वामी महावीर स्वामी खुद कहते हैं कि— हे गौतम ! मैंने श्रेणिओं को सात की संख्या दी है, यानि कि मुझसे आकाश में रही सात श्रेणिओं का प्रतिपादन हुआ है। इस सूत्र में, "मैंने कहा है", मुझसे कहा गया है, इसका सरलार्थ यह है कि चर्मचक्षु को सर्वथा अदृश्य यह श्रेणियाँ

होने से उन्हें केवली के सिवा और कोई जान नहीं सकता तो फिर उसके प्रतिपादन करने की बात ही और है ?

जीवों का स्थलांतर कैसे होगा ?

एक भव का त्याग करके मृत्यु पानेवाले जीवात्मा को पलक झपकते ही एक स्थान से दूसरे स्थान में एक भव से दूसरे भव में जाना सर्वथा अनिवार्य होने से, अतति सततं गच्छतीति आत्मा' इस व्याख्यानुसार एक ही स्थल में जीवात्मा को कभी रहना नहीं पड़ता।

जिस स्थान में जीव मरा, वापिस वह जीव उस स्थान में उत्पन्न होता होगा ? या तो बार-बार मरकर वही जीव फिर से वहीं पर ही जन्म लेता होगा ? इस प्रकार का विधान जैन शासन को मान्य नहीं।

आम के पेड़ का पत्ता पतझड़ में गिर जाता है, फिर पेड़ को नया अंकूर आता है, उसका पत्ता बनता है, उनमें नये पत्ते के पहले गिरे हुए पत्ते का जीव भी हो सकता है, या तो फिर दूसरा जीव भी हो सकता है, या गिरे हुए पत्ते का जीव सौ मील दूर आम के पेड़ में, पत्ते के रूप में जन्म ले सकता है। या इमली के पेड़ में, पत्ते में, शिखा में अथवा इमली के 'बी' रूप से भी जन्म ले सकता है।

एतद्विषय में कारण बताते हुए भगवंत ने कहा कि, जीवात्मा को अनंत कर्मों की वर्गणा होने से हजारों, लाखों और करोड़ों जीवों के साथ 'ऋणानुबंध' यानि भिन्न भिन्न तरह के जीवों के साथ की हुई मारकाट, बैर विरोध, छेदन, भेदन आदि कर्मों की माया भुगतनी होने से जिस वक्त, जिन

मिनट, जिन सेकंड, जिसके साथ ऋणानुबंध भुगतना होगा, वहीं पर उसे जन्म लिए बिना और कोई मार्ग नहीं।

ऐसी परिस्थिति में प्रश्न होगा कि नरक का जीव अपने आप फिर से नरक भूमि में या वहाँ किसी स्थान में एकेन्द्रिय बनना नहीं चाहता। किन्तु यह समझना कि जन्म मरण में जीवात्मा की इच्छा कहीं भी काम नहीं आती । किन्तु उस गति के आनुपूर्वी नामकर्म जो यमराज का काम करते हैं, वह जीवात्मा को अपने पंजे में लेकर जीव की अनिच्छा होने पर भी जीव को वहाँ पटक देता है, यानि कि जीव को अन्य कोई चारा नहीं है।

इस परिस्थिति में जैन शासन ने आकाश में श्रेणिओं की वास्तविकता सार्थक की है, क्योंकि किसी जीव को जन्म और मरण एक ही समय में होता है। दूसरे को दो समय में, तीसरे को तीन समय में और अमुक स्थान पर जाने के लिए कभी चार समय भी लगता है। क्योंकि गंतव्य स्थान यदि आकाश की समश्रेणी में हो तो एक स्थान से मरने का और दूसरे स्थान में जन्म लेने का एक ही समय में समाप्त हो जाता है।

लेकिन गंतव्य स्थान में जाने के लिए एक मोड़ लेना पड़ता है, यानि कि जिस श्रेणी में जीव मरे और गंतव्य स्थान यदि उस श्रेणी में नहीं हो तो मोड़ लेने के अलावा दूसरा कोई मार्ग नहीं रहता है और कभी दो मोड़ भी लेने पड़ते हैं। इसलिए समश्रेणी में जानेवाले जीव को एक समय, एक मोड़ पर दो समय और दो मोड़ पर तीन समय लगते हैं। इन श्रेणिओं का वर्णन पहले हो गया है।

पृथ्वीकायिकों की वक्तव्यता :

अपर्याप्तक सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव जो अब तब रत्नप्रभा नाम की पहली नरकभूमि के पूर्व दिशा के अंतिम भाग में रहा हुआ है, वह मारणांतिक समुद्घात करके, पृथ्वी के पश्चिम दिशा के अंतिम भाग में सूक्ष्म पर्याप्तक पृथ्वीकाय में उत्पन्न होने की क्षमतावाला है। उनकी समय मर्यादा एक समय से तीन समय तक की जाननी।

अपर्याप्तक सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव रत्नप्रभा के पूर्व दिशा के अंतिम भाग में से मृत्यु होकर पहली पृथ्वी के पश्चिम दिशा के अंतिम स्थान में अपर्याप्तक बादर पृथ्वीकाय में उत्पन्न होने में वे पूर्ववत् समयप्रमाण लेते हैं।

अपर्याप्तक सूक्ष्म पृथ्वीकायिक रत्नप्रभा के पूर्व दिशा के अंतिम भाग में मृत्यु होकर पृथ्वी के पश्चिम दिशा के अंतिम स्थान में पर्याप्तक बादर पृथ्वीकाय में जन्म लेने के लिए पूर्ववत् समय मर्यादा लेते हैं।

अपर्याप्तक सूक्ष्म पृथ्वीकायिक पहली नरक के पूर्वदिशा में मरकर फिर से पश्चिम दिशा के अंतिम स्थान में अपर्याप्तक सूक्ष्म पृथ्वीकाय में जन्म लेते हैं तब समय मर्यादा पूर्ववत् समझनी।

इस तरह सूक्ष्म अपर्याप्त पृथ्वीकायिकों के चार आलापक हैं।

अप्कायिक की वक्तव्यता :

अपर्याप्तक सूक्ष्म अप्कायिक जीव रत्नप्रभा के पूर्वदिशा के अंतिम भाग में मरण समुद्घात से मरकर नरक के पश्चिम दिशा के अंतिम भाग में अपर्याप्तक सूक्ष्म अपकायिक रुप में

जन्म लेने के लिए योग्य जीव यावत् तीन समय के गंतव्य स्थान में आ जाते हैं। अपर्याप्तक सूक्ष्म अप्कायिक जीव रत्नप्रभा के पूर्व दिशा के अंतिम भाग से रत्नप्रभा के पश्चिम दिशा में उत्पन्न होनेवाले पर्याप्तक सूक्ष्म अप्कायिकों को भी प्रथम से यावत् तीन समय लगेगा।

अपर्याप्तक सूक्ष्म अप्कायिक प्रथम पृथ्वी के पूर्वदिशा में से मरकर पृथ्वी के ही पश्चिम दिशा के अंतिम भाग में उत्पन्न होनेवाले अपर्याप्त बादर अप्कायिक तथा पर्याप्त बादर अप्कायिक भी यावत तीन समय में गंतव्य स्थान पर पहुँच जाते।

(अप्कायिक चार अलापक हुए।)

अग्निकायिक की वक्तव्यता :

अपर्याप्त सूक्ष्म तेजस्कायिक जीव प्रथम नरक के पूर्वदिशा में मरकर वह पृथ्वी की पश्चिम दिशा में अपर्याप्त सूक्ष्म तेजस्काय के अवतार में जन्म ले तभी यावत् तीन समय जानना।

अपर्याप्तक सूक्ष्म तेजस्कायिक प्रथम नरक की पूर्व दिशा में मरकर वह पृथ्वी के पश्चिम दिशा में जन्म लेनेवाले पर्याप्तक तेजस्कायिक भी यावत् तीन समय जानना।

यह दो आलापक सूक्ष्म अग्नि के कहे क्योंकि, बादर अग्नि नरक भूमि में नहीं होता है लेकिन मृत्युलोक में उसकी विद्यमानता होने से अपर्याप्तक सूक्ष्म पृथ्वीकायिक रत्नप्रभा के पूर्वदिशा में मरकर मनुष्यलोक में अपर्याप्तक बादर अग्निकाय की तरह जन्म लेते हैं, यावत् तीन समय जानना।

अपर्याप्तक सूक्ष्म पृथ्वीकायिक रत्नप्रभा की पूर्व दिशा में

मरकर मनुष्य लोक में पर्याप्तक बादर अग्निकाय में जन्म वाले यावत् तीन समय जानना ।

(इस प्रकार अग्निकाय का चार अलापक)

वायुकायिक की वक्तव्यता :

अपर्याप्तक सूक्ष्म वायुकायिक जीव रत्नप्रभा की पूर्व दिशा के चरम अंत में मारणांतिक समुद्घात करके, पश्चिम दिशा के चरमअंत में अपर्याप्तक सूक्ष्म वायु रुप में जन्म लें तभी यावत् तीन समय की मर्यादा कही है ।

अपर्याप्तक सूक्ष्म वायुकायिक प्रथम पृथ्वी के पूर्व भाग में मरने के बाद पश्चिम भाग में पर्याप्तक सूक्ष्म वायुकायिक की तरह जन्म लें, समय मर्यादा पूर्ववत् ।

इसप्रकार अपर्याप्त बादर या पर्याप्त बादर वायुकायिक की तरह जन्म लेने में भी यावत् तीन समय की मर्यादा जानना ।

वनस्पतिकायिक की वक्तव्यता :

अपर्याप्तक सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव रत्नप्रभा नारक की पूर्व दिशा में मरणांतिक समुद्घात करके मृत्यु हो और रत्नप्रभा की पश्चिम दिशा के चरम अंत में :—

अपर्याप्तक सूक्ष्म वनस्पतिकायिक रुप में ।

पर्याप्तक सूक्ष्म वनस्पतिकायिक रुप में ।

अपर्याप्तक बादर वनस्पतिकायिक रुप में ।

पर्याप्तक बादर वनस्पतिकायिक रुप में ।

जन्मलेने में एक-दो या तीन समय की मर्यादा जाननी ।

उपरोक्त पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय वायुकाय और

वनस्पतिकाय आदि पाँच स्थावरों के सूक्ष्म बादर पर्याप्तक और अपर्याप्तक रुप में २० स्थानक हुए।

उपरोक्त विवेचन में अपर्याप्तक पांच स्थावरों की वक्तव्यता कही है यानि कि रत्नप्रभा नाम की प्रथम नरक भूमि की पूर्वदिशा के चरम विभाग में से अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक का जीव यदि उस नरक के पश्चिम दिशा के चरम अंत में सूक्ष्मरुप में बादररुप में, पर्याप्तरुप में या अपर्याप्तरुप में जो जन्म ले उसके चार स्थान और पांच स्थावरों के ४X५=२० स्थान हुये।

इस तरह पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव रत्नप्रभा के पूर्व दिशा के चरमांत से निकलकर उसी पृथ्वी के पश्चिम दिशा के चरमांत में जन्म ले, उनके भी पहले की तरह २० भेद जानन। २०-।-२०=४०

अपर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक, अप्कायिक अग्निकायक, वायुकायिक और वनस्पतिकाय के ऊपर की तरह २० भेद मिलने पर। ४०-।-२०=६०

पर्याप्त बादर पृथ्वीकायादि रत्नप्रभा के पूर्वदिशा के चरमांत से निकल कर पश्चिम दिशा के चरमांत में जन्म लेते ६०-।-२०=८० स्थान जानने।

उपर्युक्त पद्धति से पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक तथा पर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक भी पहली नरक के पूर्व भाग में से समुद्घात करके पश्चिम के अंत भाग में जन्म लेनेवाले होने से यावत् तीन समय की मर्यादा जाननी। फिर चाहे वह सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त या अपर्याप्त अप्काय में, वायुकाय में

या वनस्पतिकाय में जन्म ले, मनुष्यलोक में बादर पर्याप्त या अपर्याप्त अग्निकाय में जन्म लें, अथवा नरकादि में सूक्ष्म रूप से जन्म ले, सभी के लिए यावत् तीन समय की मर्यादा है।

चार प्रकार के अप्कायिक, दो प्रकार के तेजस्कायिक, चार प्रकार के वनस्पतिकायिक या वायुकायिक कहीं भी चार प्रकार से जन्म धारण करें तो भी यावत् तीन समय की जाननी।

रत्नप्रभा के पूर्व भाग में मारणांतिक समुद्घात करके शर्कराप्रभा के पश्चिम में या शर्कराप्रभा से मरकर रत्नप्रभा में जन्म ले तो भी पूर्ववत् समझना।

समयक्षेत्र यानि मनुष्यलोक में रहे हुए पर्याप्त या अपर्याप्त बादर तेजस्कायिक जीव मरण समुद्घात करके मरने के बाद सात नरक भूमि में, चार प्रकार के पृथ्वीकाय में, दो प्रकार के अग्निकाय में, चार प्रकार के वायुकाय में और वनस्पतिकाय में जन्म ले तो मर्यादा तीन समय की है।

जब अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव अधोलोक की त्रसनाडी से बाहर रहकर मरण समुद्घात से मरे और अपर्याप्त सूक्ष्म, पर्याप्त सूक्ष्म और पृथ्वीकायिक और तेजस्कायिक रूप से उर्ध्वलोक की त्रसनाडी से बाहर जन्म ले तो यावत् चार समय भी कहे हैं।

अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक अधोलोक की त्रसनाडी के बाहर के क्षेत्र में मारणांतिक समुद्घात से मरकर मनुष्यलोक में अपर्याप्त बादर या पर्याप्त बादर अग्निकाय रूप से जन्म ले तो यावत् तीन समय।

अपर्याप्त बादर तेजस्कायिक मनुष्य क्षेत्र में मरण समुद्-घात करके उर्ध्वलोक क्षेत्र की त्रस नाडी से बाहर अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक रूप से जन्म लेने में भी यावत् तीन समय जानना।

पर्याप्त बादर तेजस्कायिक के लिए पूर्ववत्।

अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक लोक के पूर्व चरमांत में मरकर लोक के पूर्व चरमांत में सूक्ष्म पृथ्वीकायिक की तरह जन्म लेने में यावत् तीन समय।

विशेष में उत्तर के चरमांत में मृत्यु होकर पश्चिम चरमांत में जन्म लेनेवालों के लिए समय की गति नहीं है।

नोंध :—एकेन्द्रिय जीवों के उत्पाद में कितना समय लगता है? उसकी वक्तव्यता से हम देख पाये हैं कि, जिसे भी किसी निश्चित समय में जिन जीव के साथ संबंध भुगतना होता है और वह जीव अब कौन से स्थल में जन्मा हुआ हो वहाँ (उसी स्थान में) जन्म लिए बिना और कोई चारा नये जन्म लेनेवाले को नहीं है। ७० कोडाकोडी सागरोपम का प्रवाहबद्ध मोहकर्म है, जिसके कारण जीवात्मा के आंतर जीवन में अन्य जीवों के साथ बंधे हुए बैर-विरोध-ईर्ष्या-हास्य-मश्करी-मारपीट-लेन-देन आदि के संस्कार स्थायी रहे हुए हैं और जब उसका उदयकाल आता है तब तब वहाँ वहाँ जन्म लेना सर्वथा अनिवार्य है। जिस तरह आदमी प्यासा है, नदी जोरों से बह रही है, उस आदमी को पानी पीना है और पीने के लिए नदी के किनारे दो-तीन या चार-पाँच स्थल पर उठता बैठता है, पर प्यास होने पर भी पानी पिया नहीं है। परन्तु जिस वक्त पानीकाय के जो जीव अपने

भोग में आनेवाले हैं, उसे देखते ही वह पानी का प्याला भरेगा और पानी के साथ पानीकाय के जीवों से तृप्ति पायेगा। ऐसा भी हो सकता है कि जिन जलकाय के जीवों से अब वह भाई तृप्ति पा रहा है, वही जीव कुछ समय पहले पृथ्वीकायादि के रूप से रहे होंगे और वहाँ से मृत्यु पाकर अप्कायिक रूप से अवतार लेकर अपना बैर चुकाने का जब समय पक गया होगा तब नदी, नल, कुआ, तालाब या बारिस के रूप में अप्कायिक रूप से जन्म लेगा और अपना ऋण पूर्ण करेगा। इसलिए एकेन्द्रिय जीवों का रुपान्तर होता रहता है। इनमें कर्मसत्ता ही बलवान है।

हजारों की संख्या में आम के फल पड़े हुए हैं, पर खरीदने वाले को अमुक ही आम क्यों पसंद हुए? अन्य फल खराब हैं, यह तो नहीं कह सकते। तब यह मानना ही पड़ेगा कि, आम के जीव, जिस वक्त, जिन भोक्ताओं के भोग्य होंगे, वही आम उनके हाथों ही गिरेंगे और खानेवाला भोक्ता भी प्रथम तो आम की खुशबू से खुश होकर संतुष्ट होगा लेकिन फिर वह राग द्वेष में परिणित होगा तब, ठंडे पानी की बान्टी में उन्हें डालेगा बाद में एक एक करके उन्हें बाहर निकाल के मसलकर नरम करेगा, उसकी रग रग में से रस निकालेगा और अत्यासक्तिपूर्वक रसपान के लिये बैठेगा और उन जीवों के साथ का अपना ऋण पूर्ण करेगा, जबकि आम के जीव अपने प्रतिशोध का ऋण चुकाकर जुदे होंगे और अपना भव पूर्ण करके नया अवतार ग्रहण करेंगे।

एक थाली में आम के ४० से ५० टुकड़े पड़े हुये हैं, लेकिन तुम्हारे नशीब में उतने ही टुकड़े आयेंगे जिसके तुम आज के

भोक्ता हो। इसलिए तो बड़े लोग कह गये हैं कि, "दाने दाने पर लिखा है, खानेवाले का नाम"। तुम्हारी थाली में दो रोटी होंगी तो आप उस समय के लिए दो रोटी के भोक्ता हैं और उतने गेहुँ के दाने तुम्हारे भाग्य में रहेंगे और ५० रोटी की थप्पी में से तुम्हें दो रोटियाँ मिलेंगी और उस दिन के लिए तुम्हारी भूख मिट जायेगी। इसी कारण पृथ्वीकायिक या अपकायिक जीव, मनुष्य लोक में अग्निकाय रुप बनेंगे और वायुकायिक जीवों का भक्षण रुप कार्य पूर्ण करके तथा अपनी तैजस गरमी में दूसरों का हित करेंगे और रसोई के पाक से दूसरों को तृप्त करेंगे।

सारांश यह है कि, इस सृष्टि के संचालन में अपने किये कर्म ही काम करते हैं इसलिए एक जीव भोक्ता है तो दूसरा भोग्य बनता है। एक घातक तो दूसरा घात्य बनता है एक मारता है, गालो देता है, तो दूसरा सहनशील रहता है। इस प्रकार संसार के अनंत जीव तुम्हारी आँखों के सामने है, जिसमें सब के कर्म भिन्न, फल भिन्न, रुप और संस्कार भिन्न, स्वभाव, आँच का रंग, जीभ की कड़वाहट, हृदय के भाव आदि भिन्न रहते हैं। कोई दिखने में अच्छे, दूसरे खराब, कोई जीव अपनी आँख को अच्छा लगता है, दूसरा अच्छा नहीं लगता है। अमुक के साथ में, बैठने में अच्छा लगता है, जबकि दूसरे के साथ क्लेश होते देर नहीं लगती।

एक के हृदय में से अमृत तो दूसरे के हृदय में से जहर निकलेगा। एक देकर, दूसरा लेकर, तीसरा ठगकर तो चौथा मूर्ख बनकर खुश होगा। कितने ही जीव दूसरों के पैर के नीचे कुचलकर मरते हैं तो कोई मोटर के नीचे आकर मरते

है, मक्खी मच्छर चूहे आदि विषयुक्त दवा से मरते हैं, जबकि दूसरा भावदया से सबको बचाता है, एक दूध की कटोरी पिलाता, दूसरा पीता हैं तो तीसरा जहर पिलाता है।

खरबूजा, करेला, कंकोडा, पपैया और आम के जीवों की खाल एक आदमी उतारता है, उसके टुकड़े करता है तो दूसरा स्वादपूर्वक खाता है। एक के हाथ एक का अकस्मात होता है, दूसरा उसे अस्पताल ले जाता है और डॉक्टर उसे जीवतदान देता है। इस प्रकार सारा संसार अपने सामने है। ऐसा होने का कारण क्या? उसकी खोज करना सम्यग्ज्ञान है; बाकी सब मिथ्याज्ञान है। हम सम्यग्ज्ञान पाकर परमात्मामय के आराधक बनेंगे तब ही हमको एक दूसरे छोटे-मोटे जीवों को बचाने का भाव उत्पन्न होगा और जीवमात्र के मित्र बनने में देर नहीं लगेगी।

शास्त्रकारों ने कहा कि सारा ब्रह्मांड स्कूल के रूप में है। आपकी आंख में यदि विद्यार्थित्व होगा तो आपको अभूत पूर्व अनुभव ज्ञान मिलेगा, जिससे तृप्त होगी और अनंतानंत जीवों के साथ मैत्री होगी, बढ़ेगी और समाधि की प्राप्ति होगी।

पृथ्वीकायिक आदि जीवों के स्थान कहां?

हे देवाधिदेव भगवंत। बादर पृथ्वीकायिक जीवों के स्वस्थान कहाँ कहाँ है? यानि कि वे जीव स्वस्थान की अपेक्षा से कहाँ कहाँ रहते हैं?

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम! बादर पर्याप्तक पृथ्वीकायिक जीव रत्नप्रभा प्रथम नरक से लेकर तमस्तमा

आदि सात नरक पृथ्वी में और ईषत्प्राग्भारा (सिद्धशिला) पृथ्वी में इस तरह से आठ पृथ्वी में उनके स्थान हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन की चौड़ाई की है, उनमें बादर पृथ्वीकायिक हैं, यावत् सिद्धशिला में भी जीव हैं और अधोलोक में नीचे की तरह जानना है।

(१) पाताल कलशा :—मेरुपर्वत की चार दिशा में जम्बूद्वीप की वेदिका से लवण समुद्र में ९५००० योजन अंदर जाने के बाद चार दिशा में चार पाताल कलशा है। उनकी ठीकरी ही १००० योजन की चौड़ाई की है, और मुख का भाग १०००० योजन है। चार दिशा के चार कलशा के बीच का अन्तर एक लाख सत्ताईस हजार एक सौ सत्तर (१२७१७०) योजन का है। इन कलशों के नाम वड़वामुख, केयूप, यूप और ईश्वर हैं। उनके अधिपति पल्योपम के आयुष्यवाले काल, महाकाल, वेलब और प्रभंजन नामक देव हैं। एक एक कलश के तीन भाग करने से पहले ३३३३३३ योजन तृतीयांश में केवल वायुकायिक अर्थात् वायु ही हैं।

बीच के तृतीयांश में वायुकायिक और अप्कायिक हैं, यानि कि पानी और हवा साथ में हैं। जबकि ऊपर के तृतीयांश में सिर्फ पानी हैं। अहोरात के २४ कलाक दरमियान दो बार प्राकृतिक रीत से वायुकाय उछलता है और पाताल कलशों का पानी लवण समुद्र में जाता है, इसे भरती कहते हैं। दिन में दो बार भरती आती है। पानी के पीछे से वायु का जोरदार धक्का लगने से समुद्र की भरती तूफानवाली बनती है। उस वक्त १७४००० नागकुमार देव दोनों हाथ फैलाकर जोरदार भरती के पानी को रोकने का प्रयत्न करते

हैं, इसलिए भरती मर्यादा के बाहर नहीं जाती। दिन में दो-दो बार देव लाखों की संख्या में यह प्रयत्न क्यों करते हैं? जवाब में कहा गया कि :—

भारतदेश और ऐरावतदेश में अहिंसा, संयम और तपो-धर्म की आराधना करनेवाले; महाव्रतधारी, देशविरतिधर, साध्वीजी महाराज, शियलसम्पन्न पुण्यात्मा, तपस्वी, तीर्थ-स्थान आदि के पुण्यप्रभाव से यह देव समुद्र को मर्यादा में रखते हैं। यह पातालकलशें खुद पृथ्वीकायिक हैं

(२) भवन :—प्रथम नरक भूमि की चौड़ाई में से ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोड़कर शेष भूमि में भवनपति देवों के भवन हैं, जो पृथ्वीकायिक हैं।

(३) भवनप्रस्तर :—भवनपति देवों के भवन के बीच की जमीन को भवनप्रस्तर कहते हैं, जिनमें पृथ्वीकायिक जन्म लेते हैं।

(४) नरक :—यानि कि अलग-अलग नरकावास।

(५) नरकप्रस्तर :—नरकावासीओं के बीच की जमीन।

(६) नरकावली :—पंक्ति दो नरकावास।

(७) उर्ध्वलोक में सौधर्म लोक से अच्युत नाम के बारह देवलोक में, विमान यानि अलग अलग ग्रैवेयक विमान में, विमान पंक्तियों में, उनके बीच के पृथ्वीकायिक हैं।

(८) तिरछालोक में :—टंकों में, सिद्धायतनादि कूटों में, शिखरवाले और शिखररहित पर्वतों में, कच्छ आदि विजयों में, विद्युतप्रभा आदि वृत्तस्कार पर्वतों में, भरत आदि क्षेत्रों

में, हिमवान आदि पर्वतों में, वेलाओं में यानि समुद्र आदि के पानी की रेताल भूमि में, भरती के वक्त पानी की भूमि में जंबूद्वीप की जगती आदि वेदिकाओं में, विजयादि द्वारों में, तोरणों में, तथा सभी द्वीप तथा समुद्र में बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीवों के स्वस्थान हैं। यानि कि उपर्युक्त स्थानों में पृथ्वीकायिक जीव हैं। फिर भी इन जीवों को लोक के असंख्यात भाग में जानना। उपपात और समुद्घात की अपेक्षा से भी लोक के असंख्यात भाग में बादर पृथ्वीकायिक हैं। जबकि अपर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक उपपात और समुद्घात को लेकर सर्वलोक में हैं, परस्वस्थान की अपेक्षा से लोक के असंख्यात भाग में जानना।

सूक्ष्म पर्याप्त या अपर्याप्त पृथ्वीकायिक उपपात, समुद्घात और स्वस्थान से लोकव्यापी हैं।

अप्कायिक जीवों के स्वस्थान :

हे गौतम! बादर पर्याप्त अप्कायिक (पानी के जीव) स्वस्थान को लेकर सात घनादेधि में, सात घनोदधि वलयों में, अधोलोक में, पातालकलशों में, भवन में, भवन प्रस्तरों में, उर्ध्वलोक में, कल्पों में, विमानों में, विमानबलिकाओं में, विमान प्रस्तरों में, तालाब, नदी ह्रद, कुआ, पुस्करणी, दीर्घीका, गुंजालिका, सरोदर, सरोवर पंकित, सरः सरः पंकित, बिल, बिलपंकित, झरना, छिल्लर, पल्लव, वप्र, द्वीप, समुद्र, जलाशय आदि में पानी के जीव कहे हैं जो उपपात समुद्घात और स्वस्थान से, लोक के असंख्यातवें भाग में हैं।

एक लाख अस्सी हजार योजन-(१८००००) प्रमाणवाली

नरक की प्रथम भूमि समाप्त होने के बाद अर्थात् पृथ्वी शेष-नाग या कछुआ स्थित नहीं है, लेकिन धनोदधि वलय पर आधारित है, यावत् सातवीं पृथ्वी के भीतर धनोदधि वलय हैं, उसमें अपकायिक जीव हैं।

पाताल कलशा-लाख योजन की ऊँचाईवाले हैं। उनके दो तिहाई देश से और तीन तिहाई अर्थात् ३३३३३ योजन प्रमाण के पटेवाले तीसरे भाग में ऐसे चार कलशा बड़े और छोटे अलग उसमें भी अप्कायिक हैं।

भवन कल्प और विमानों मेंपानी के कुएँ हैं। सूत्र में विमान शब्द है, इसलिए ग्रैवेयक आदि में कुएँ नहीं हैं। कुएँ, तालाब गांव गांव में हैं। गंगा, सिंधू आदि बड़ी और छोटी अन्य नदियाँ जाननी। पद्महद आदि द्रहो, कुएँ चार कोने के होते हैं और पुस्करिणी तीन कोने की जाननी। मस्ती बिना सीधी चलनेवाली को दीर्घिका और मस्ती करके चलनेवाली नदी को गुंजालिका कहा जाता है। पुष्पों से भरा सरोवर, एक पंकित में सरोवर हो उसे सरः पंकित जानना। ऐसी ज्यादा पंकित को सर सरः पंकित कहा जाता है। जगती आदि स्थल पर स्वाभाविक नन्हें कुएँ को बिल कहा जाता है।

परबत के पानी को झरणा, छिल्लर यानि नहीं खोदे गये और थोड़े पानीवाली जमीन या पर्वत के प्रदेश, पल्लव नहीं खोदे गये सरोवर, वप्र यानि कियारे इत्यादि सब स्थलों में बादर पर्याप्तक अपकायिक हैं। लवण समुद्र दो लाख योजन का है। उसके बाद डबल (दोगुने) परिणाम में यावत् असंख्यतवाँ समुद्र स्वयं भूरमण हैं। इस प्रकार असंख्य समुद्र द्रहो, सीता, सीतोदा, गंगा, यमुना, आदि जबरदस्त

असंख्यात नदीयाँ, पद्मद्रह आदि समुद्र की याद दिलायें ऐसे हद में पानीकाय के जीव हैं।

पानी की एक ही बूंद में पानीकाय के जीव भिन्न हैं। उसमें पैदा होनेवाले त्रस जीव भिन्न हैं और शेवाल आदि में अनंताकायिक जीव भिन्न हैं। सारांश यह है कि, एक बूंद में तीन प्रकार के जीव हैं। वैज्ञानिकों को त्रस जीव ही दिखते हैं। जिसकी संख्या ३६४५० की है। लेकिन पानीरुपी शरीर में बसे पानीकाय के जीव और "यत्र वारि तत्र वनस्पति" इस सिद्धांत से सेवाल में बसे जीव किस तरह दिखेंगे ? एक बूंद में भी अनंत जीव हैं, तो ढेर सारे समुद्रों में स्थित पानी के जीवों की गिनती करते करते तैंतीस करोड़ देवों की सात पिढीयाँ भी थक जायेगी तो भी पार नहीं आयेगा। यह सब देखने के बाद ही पता चलता है कि, जीव चाहे अगणित संख्या में मोक्ष में जाये, तो भी जीव रहित संसार कैसे बनेगा ? सारांश यह है कि, अनंत काल के बाद भी संसार के जीव समाप्त नहीं होते हैं। इसलिए संसार को अगाध कहा है।

अग्निकायिकों के स्वस्थान :

हे गौतम ! स्वस्थान द्वारा, मनुष्यक्षेत्र के ढाई द्वीप में, समुद्रों में तथा प्रतिबंध न हो तो पंद्रह कर्मभूमि में, अन्यथा पांच महाविदेह क्षेत्र में, पर्याप्त बादर अग्निकाय के जीवों के स्वस्थान हैं। जंबूद्वीप, घात की खंड और और अर्धपुस्कर तथा लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र ढाई द्वीप जानना। प्रतिबंध न हो यानि कि अतिरुक्ष या अतिस्निग्ध काल न हो तब पंद्रह कर्मभूमि में अन्यथा महाविदेह क्षेत्र में अग्निकायिक

जानना। पांच भरत और पांच ऐरावत क्षेत्र में सुषमा-सुषमा सुषमा और सुषमा दुषमा ये तीन आरे अति स्निग्धवाले जानना। तथा दुषम-दुषम नामक छठा आरा अतिरुक्ष कहलाता है। उन कालों में अग्नि का विच्छेद होता है इसलिए अवसर्पिणी के तीसरे आरे का चरम चरण भी समाप्त होने की तैयारी में था तभी अग्नि की उत्पत्ति हुई थी जिसका लोप पांचवे आरे के अंतिम दिन में होगा। लवण और कालोदधि समुद्र में वड़वाग्नि होता है।

वायुकायिकों के स्वस्थान -

सात घनवात, सात घनवातवलय, सात तनुवात, सात तनुवातवलय, पाताल कलशों, भवन, भवन प्रस्तर, गवाक्ष, नरम, नरकावलिका, प्रस्तर, कल्प विमानों में तथा चारों दिशाओं के लोकाकाश में पर्याप्त बादर वायुकायिक के स्वस्थान हैं। शेष पूर्ववत् जानना।

वनस्पतिकायिकों के स्वस्थान -

सात घनोदधि, घनोदधिवलय, पाताल कलशा, भवनपति के भवन, प्रस्तर, कल्प विमान, विमानावली इत्यादि स्थानों में वनस्पतिकायिक रहते हैं। क्योंकि "जहाँ जहाँ पानी हो वहाँ वहाँ वनस्पति होती है"।

शेष हकीकत प्रज्ञापनसूत्र के दूसरे पद द्वारा जाननी है।

एकेन्द्रियों को कर्म प्रकृतियां कितनी होती हैं ?

हे प्रभो ! अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों को कर्मप्रकृतियाँ कितनी कही है यानि कि सत्ता में कितनी कही है ? प्रश्न अपर्याप्त सूक्ष्म जीवों के लिए है, किन्तु यावत् शब्द से चार पृथ्वीकायिक के लिए जानना।

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! उन्हें आठ कर्म होते हैं, क्योंकि मायावश और मिथ्यात्ववश किये हुए कर्म जब तक वेदे नहीं जाय, तब तक उनकी सत्ता जैन शासन को स्वीकार्य है। पृथ्वीकाय के चार भेदों के जीवों को आठ कर्म कहे हैं, इस तरह अन्य एकेन्द्रिय जीवों के लिए जानना है।

एकेन्द्रिय जीव कितनी कर्म प्रकृतिओं को बांधते हैं ?

हे प्रभो ! पाँच प्रकार के एकेन्द्रिय जीव कितनी कर्म-प्रकृतिओं का बंध कर सकते हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! वे जीव यदि आयुष्य कर्म का बंध नहीं कर सके तो सात कर्मों को बाँधते हैं और आयुष्य का बंधन करे तो आठ कर्मों का बंधन मान्य है। प्रश्न पृथ्वीकायिकों का होने से बाकी रहे एकेन्द्रियों के लिए भी यही जानना है।

इन जीवों के पास सिर्फ एक ही स्पर्शेन्द्रिय होती है, किन्तु उन्हें भावेन्द्रिय और भावमन विद्यमान होने से इन एकेन्द्रियावतार में भी प्रतिसमय जो कुछ कर्मों का बंधन करते हैं उनमें भावमन ही मुख्य हैं, क्योंकि उन्हें सम्यक्त्व की गैरमौजूदगी होने से मिथ्यात्व के उदयवाले होते हैं। इसलिए यह जीव असंयमी, अविरति, अप्रत्याख्यानी होने की वजह से प्रतिसमय नये नये कर्मों का बंधन अनिवार्य है। इसलिए कहा गया है कि "सब शस्त्रों में असंयम ही सबसे बड़ा शस्त्र है"। जीव चाहे एकेन्द्रिय हो या पंचेन्द्रिय हो, सम्यक्त्वी हो, कि मिथ्यात्वी हो, यदि वह असंयमी है, तो नये पापकर्मों को बाँधे बिना और कोई चारा नहीं है।

संयम और असंयम यानि क्या ?

सद्बुद्धि और सद्विवेकपूर्वक शुद्धानुष्ठान में या शुभानुष्ठान द्वारा आत्मा को, मन को, बुद्धि को, इन्द्रिय को तथा शरीर को पापकर्मों से, पापवासनाओं से तथा गलीच चेष्टाओं से दूर रखना संयम है। जब तक अनंतानुबंधी कषायों का तथा मिथ्यात्व की तीन प्रकृतिओं का उपशमन क्षयोपशमन या क्षय नहीं हो तब तक जीव मात्र को यह संयम अशक्य होने से पापमार्ग, पापवासना या पापचेष्टा कभी भी शांत होती नहीं। इसलिए कहा गया है कि जीव चाहे एकेन्द्रिय हो या उपचार से देव या मनुष्य हो यदि वह असंयमी, अविरति और अप्रत्याख्यानी है तो प्रति वक्त सात या आठ कर्मों को बाँधनेवाला बनेगा और जो जीवात्मा ऊपर की तरह ज्यादा पापकर्म करके वजनवाला हो तो चाहे वह देव हो कि मनुष्य हो, राजा हो कि करोड़ाधिपति हो या फिर हीरेमोती के आभूषणों से सज्ज पूनम के चांद जैसी रानी हो या शेठानी हो, सबको भवांतर में एकेन्द्रियावतार को पाने के सिवा कोई मार्ग नहीं है।

८४ लाख जीवायोनी में अनंतानंत जीवों के लिए एकेन्द्रियजाति को माता समान कहा गया है। क्योंकि जीवमात्र सबसे पहले सूक्ष्मनिगोद का ही मालिक होता है। यद्यपि उत्क्रान्ति के बाद ऊपर आये फिर भी असंयम के कारण अपक्रान्ति करके फिर से एकेन्द्रियावतार ही भाग्य में रहता है। त्रस योनि में भी पंचेन्द्रिय मनुष्यावतार को पाये, रुपवान शरीर मिले, राज्यसत्ता व देवलोक का देव बने, वहाँ से फिर से राजा-महाराजा, प्रधानमन्त्री, गृहमंत्री, छोटी बड़ी संस्थाओं का सेक्रेटरी अध्यक्ष या सर्वतंत्रस्वतंत्र सत्ताधीश

बने तो भी २००० सागरोपम की मर्यादा में यदि केवलज्ञान नहीं पा सका तो फिर से एकेन्द्रिवतार को पाने के सिवा और कोई मार्ग नहीं।

इत्र में स्नान करनेवाले देव भी मर्यादा से बाहर जाकर विषयवासना के कीटक बनेंगे तो उनके लिए एकेन्द्रिय योनि नसीब में रहेगी। इस कारणवश सबके लिए यानि असंयमी अविरति, प्रत्याख्यान रहित, पाँच इन्द्रियों के गुलाम के लिए अपक्रांति करनी पड़ेगी और स्थावर नामकर्म की निकाचना करके एकेन्द्रियत्व भाग्य में रहेगा।

यद्यपि असंयमीजीव दो प्रकार के होते हैं। एक तो सम्यग्दृष्टिसम्पन्न और दूसरा मिथ्यादृष्टिसम्पन्न, इसलिए जैनशासन का निर्णय है कि जहाँ जहाँ असंयम है, वहाँ वहाँ मिथ्यात्व हो कि न हो, किन्तु जहाँ जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ वहाँ असंयम को नहीं टाला जाता।

सम्यग्दृष्टिसम्पन्नजीव यदि असंयमी हो तो भी उनके जीवन में रहे हुये अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन कषायों में से अनंतानुबंधीत्व का रसोदय प्रायः करके उपशमित हुआ होने से पापों का गंदापन, विषय की उत्कट लालसा, भोगेच्छा प्रति की अत्यासक्ति भी बिन ताकत की होने से उन पुण्यात्मा को पापों की पिछान हुई होने से, नये कर्मों के बंधन में रस तथा स्थिति का जोर नहीं आता।

इन कारण से दुष्कृत्य तथा अतिचारों की सच्चे दिल से क्षमा माँगने से भी उन पापों का निरसन होते हुए देर नहीं लगती। जबकि मिथ्यादृष्टिसम्पन्न जीव को मिथ्यात्व की जोरदार असर होने से उनके जीवन में कषायों का प्राबल्य

होने से मदिरापान के नशे में बेहोश हुए लोगों की तरह जीवात्मा की स्थिति भी धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म समझनी जैसी होती है।

देवगति प्राप्त देवों में जो मिथ्यात्वसम्पन्न हैं, उन्हें विषयवासना के भोगविलास में तीव्रता ज्यादा होने से, और अपने द्वेषीओं को शाप और रागिओं को आशीर्वाद देने के चक्कर में फँसे होने से सद्बुद्धि और सद्विवेक धर्म प्रायः लुप्त होने से किसी धर्म व धार्मिक कृत्यों को सद्विवेकपूर्वक करने की भावना नहीं रखते। इन कारणवश तामसिक और राजसिक भावना के स्वामी 'तामसा वै अधोगच्छन्ति' इस सूत्र से एकेन्द्रियावतार ही उन्हें सुलभ है।

इन देवों के लिए मनुष्यावतार इसलिए दुर्लभ है कि, वे देवलोक में रहकर भी मनुष्यत्व के योग्य विषय वासना का त्याग आदि कभी भी नहीं कर पाते।

जब सम्यगदृष्टि सम्पन्नदेव सर्वथा स्वाधीन देवताई सुखों को त्यागकर, अरिहंत परमात्मा के पांच कल्याणकों में उनकी भक्ति में, अहिंसा, संयम के प्रचार में, अहिंसक, शियल संपन्न मानवों के संरक्षण में सदैव तैयार ही होते हैं। इसलिए वे मनुष्यावतार को, उसमें भी उच्च खानदान, अहिंसककूल, संयमी माहौल और दैवीगुणों से संपन्न माता-पिता के घर जन्म धारण करते हैं और बाल्यकाल से धार्मिक भावनावाले, अहिंसक, सदाचारी और संयम के प्रेमी बनते हैं। पुण्यवंता ये जीव मनुष्य के भोगों को विपुल प्रमाण में प्राप्त करते हैं लेकिन भोगोपभोग विरमणव्रत की आराधना से भोगसाधनों को मर्यादित-संयमित करके भोग में भी योग की साधना करते

हैं। बुद्धि की तीव्रता और पुण्य कर्म के प्राचुर्य में भी 'अनर्थदंडविरमणव्रत' से बहुत से निरर्थक पापों के द्वार बंद करके अपना जीवन पवित्र बनाते हैं। क्योंकि. जहाँ जैनत्व की आराधना है वहाँ निदानग्रस्तता (नियाणा से बंधा जीवन) नहीं होती है और जहाँ निदानग्रस्तता है वहाँ बोधिलाभ, व्रतधारण और पालन सुदुर्लभ बनता है।

इसी कारण मिथ्यात्व को ही असंयम कहा है और असंयमी जीवन तलवार बंदूक और अणुबम से भी भयंकर खतरनाक है। क्योंकि ऐसे जीवन में परिग्रह, क्रोध. कषाय, विषयवासना, इन्द्रियों का भोगविलास और संसार की मिथ्याप्रतिष्ठा की मर्यादा जिंदा राक्षसी से भी बदतर होती है।

उसे वश करने के लिए असंयमी आत्मा के पास आध्यात्मिक शक्ति नहीं होती है। इसलिए ऐसे जीव कभी भी और कैसी भी परिस्थिति में भी रणमैदान जैसी स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं और अवसर पाकर फटका मारने में देर नहीं लगाते। विषय वासना के भोग विलास में मस्त बनकर कोई भी रास्ते से इन्द्रियों के घोड़ को बेकाबू बना सकते हैं। परिग्रह के गुलाम बनकर लाखों करोड़ों की सम्पत्ति इकट्ठी करते हैं और उसका उपयोग शराबपान में, परस्त्रीगमन वेश्यागमन और जुगार में करके और इन्द्रियों की उत्तेजना के लिए सुवर्णभस्म, अभ्रकभस्म. लोहभस्म, मलाईवाला दूध आदि का सेवन करने से नहीं चुकते हैं। इसलिए ऐसे मनुष्य भी सात कर्मों के भार से एकेन्द्रिय अवतार पायें तो उसमें कोई असंगत नहीं है।

(उपरोक्त बातें सूक्ष्म अपर्याप्तक पृथ्वीकायिक से लेकर बादर वनस्पतिकायिक जानना)।

पृथ्वीकायिक जीव कितनी प्रकृतियों के वेदक है ?

हे प्रभो ! अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव कितनी कर्म प्रकृत्तिओं के वेदक हैं ? कर्म के भोगवटे को वेदन, विपाक तथा रसानुभव कहा जाता है।

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम निकृष्टतम पाप कर्म के उदय को भुगतनेवाले सूक्ष्म अपर्याप्तक पृथ्वीकायिक जीव होते हैं। जो अपने स्थान में रहकर १४ कर्म प्रकृतिओं को भुगत रहे हैं. जो इस प्रकार हैं :—

(१) ज्ञानावरणीयकर्म :—ज्ञान के अनंत भाग से हीन और कर्म का उदय बहुत ज्यादा होता है।

(२) दर्शनावरणीय कर्म—सर्वथा निकृष्टतम दर्शनावरणीय कर्मवाले होते हैं।

(३) वेदनीय कर्म – तीर्थंकर परमात्मा के जन्म काल के दौरान एक समय को छोड़कर शेषकाल असातावेदनीय कर्म को भुगतनेवाले हैं।

(४) मोहनीय कर्म :—शराबी आदमी की तरह बेहोश बने ये पृथ्वीकायिक जीव मोहकर्म से सर्वथा दबे होने से शक्तिहीन है।

(५) आयुष्यकर्म :—तिर्यंच आयुष्यकर्म की बेड़ी में फंसे हैं।

(६) नामकर्म—अशुभ नामकर्म के उदय से एकेन्द्रिय जातिनामकर्म, सूक्ष्म नामकर्म और अपर्याप्त नामकर्म के उदयवाले हैं।

(७) गोत्रकर्म—नीचगोत्रकर्म सत्ता में पड़ा है।

(८ अंतरायकर्म—पाँच प्रकार के अंतरायों का तीव्रतम उदय प्रवर्तमान होता है।

नोंध :—यदि कोई ऐसा कहे कि, पृथ्वी सबको मिट्टी देती है, जिसमें से बर्तन, घड़े आदि बनते हैं।

अप्काय के जीव सबको पीने के लिए पानी देते हैं और चराचर संसार में अपने जीवित का रक्षण करते हैं। अग्निकाय सबको गरमी देता है। वायुकाय सबके जीवन का सहायक बनता है। वनस्पतिकाय जीव खिड़की दरवाजा, पाटपाटला, औषध, धान्य, फल आदि देता है तो क्या वे दानांतरायकर्म के क्षयोपशम के मालिक नहीं है?

जवाब में यह जानना है कि वे निकृष्टतम पापकर्मी होने से मिथ्यात्वमय हैं, इससे उन्हें त्याग की भावना कैसे हो सकती है? और त्याग की भावनारहित दान, दान कैसे कहलायेगा? क्योंकि "स्वकीय प्रशस्तभावेन स्वस्य यत् उत्सृज्यते तद् दानम" अपने पवित्र भाव से, मेरी खुद की चीज दूसरों के काम आये यह सोचकर जो दिया जाय वह दान है। इस व्याख्या से हम जान सकते हैं कि दानभाव से किया गया द्रव्य दान है।

पृथ्वीकायादिक जीवों को यह भाव नहीं होता। आम के पेड़ में रहे हुये जीव को भी अपने फल, डालें आदि कोई काट जाये, ऐसी कल्पना भी नहीं होती। इसलिए उन्हें पूरा काट दिया जाये, भूंज दिया जाये तो भी अकाम निर्जरा से अतिरिक्त दूसरा कोई फल उन्हें नसीब होता है।

घोरातिघोर मिथ्यात्व के कारण पृथ्वीकाय के जीवों को यह भाव नहीं होता कि मेरी मिट्टी से बने घड़ों से अरिहंत परमात्माओं का अभिषेक व मुनिराज तथा तपस्वीओं को पीने के लिए भरने में काम आनेवाले मुझ जैसे का जीवन सफल होगा।

अप्काय के जीवों को भी मेरे पानी से या मेरा शरीर अरिहंतों के चरण का स्पर्श करके पवित्र बनेगा, या अचित्त होकर भी मुनिराज के महाव्रतादि के पालन में मेरा उपयोग मेरे जीवन का कल्याण करेगा, ऐसा भाव उन्हें तनिक भी नहीं होता।

अग्निकायकों को भी यह भाव नहीं होता कि मुझसे चराचर संसार जीवित रहता है, या फिर अरिहंतों के मंदिर में धूपदान से मेरा उपयोग हो रहा है।

जीवमात्र का जीवन मुझसे हो रहा है, यह सद्बुद्धि वायु कायिकों को भी नहीं रहती।

वनस्पतिकायिक में स्थित आम, महुआ आदि पेड़ को यह विवेक कैसे हो सकता है कि, मेरा छेदन हो जाने पर भी मेरे शरीर से पात्रा, तरपणी के निर्माण द्वारा मुनिराज अहिंसक जीवन बिता रहे हैं। मुझसे बने हुए औषध सभी को निरोगी रख रहे हैं।

उपर्युक्त भाव उन जीवों को नहीं होने से उन्हें दानान्तराय कर्म का क्षयोपशम मानना ठीक नहीं है।

(९) श्रोतन्द्रिय वध्य—मनुष्यावतार में मोहमाया वश बनकर पराये लोग की बुराई या उनके पाप सुनकर जीवन व्यतीत किया होने से महाभयंकर रुप से बाँधे गये पापकर्मों

के उदय से उपार्जन किये गये एकेन्द्रियावतार के जीवों को कान इन्द्रिय का सर्वथा अभाव होता है।

(१०) चक्षुरिन्द्रिय वध्य :—पराये लोगों के बूरे कर्म देखकर बँधे हुये पापकर्मों से वजनदार बने जीवात्मा एकेन्द्रियावतार को पाते हैं, जहाँ उन्हें आँख इन्द्रिय का सर्वथा अभाव होता है।

(११) घ्राणेन्द्रिय वध्य :—पूर्वोपार्जित कर्म के कारण नाक का भी अभाव होता है।

(१२) रसनेन्द्रिय वध्य :—पराये जीव के लिये बुरा बोलकर, दूसरों को शाप देकर, तथा अभक्ष्यादि खान-पान में जीवन यापन करके महान चिकने कर्म को बाँधनेवाले जीव एकेन्द्रिय बनते हैं, वहाँ उन्हें जीभ इन्द्रिय नहीं होती।

(१३) पुरुषवेद वध्य :—देवदुर्लभ मनुष्यावतार को पाकर मोहमाया में मस्तान बनकर परस्त्रीगमन, वेश्यागमन, छोटी उम्र के बालक-बालिकाओं के साथ व अपनी स्त्री के साथ अनंगक्रीडा तथा तीव्र मैथुनकर्म के भोगवटे में भयंकर पापकर्म उपार्जन करने में सारी जिंदगी समाप्त करके एकेन्द्रियावतार को पानेवाले जीव, पुरुष-लिंगरहित होने से उन्हें पुरुषवेद नहीं होता किन्तु नपुसंकवेद का ही तीव्रोदय होता है।

(१४) स्त्रीवेद वध्य :—अकथनीय पापकर्म को भुगतने पर एकेन्द्रियों को स्त्रीवेद या स्त्रीलिंग नहीं होता। सारांश कि इन जीवों को सिर्फ नपुसंकवेद होता है।

उपर्युक्त १४ प्रकार के कर्मों का उदय उन्हें रहता है।

कौन कौन सी गति के जीव एकेन्द्रिय प्राप्त करते हैं ?

हे प्रभो ! अनंत जीव एकेन्द्रियत्व को प्राप्त करते हैं, वह क्या है ? नरकगति में से, देवगति में से, मनुष्यगति में से ? या फिर तिर्यंचगति में से आकर अवतार लेते हैं ?

जवाब में परमात्मा ने फरमाया कि :—हे गौतम ! नरकगति के नारकजीव सीधा ही एकेन्द्रियावतार को प्राप्त नहीं करते, किन्तु मनुष्यगति, देवगति और तिर्यंचगति के जीव वहाँ का भवपूर्ण करके उपार्जन किये हुये पापकर्मों को भुगतने के लिए एकेन्द्रियावतार को प्राप्त करते हैं।

देवगति के जीव भोगासक्त, मनुष्यगति के जीव परिग्रहासक्त बनकर तथा तिर्यंच (तिर्यंचगति के जीव) विवेकरहित होने से एक दूसरे के भक्ष्य तथा भक्षक बनकर हिंस्रकर्मी होने से एकेन्द्रियावतार ही उनके भाग्य में रहता है।

शेष बातें प्रज्ञापनासूत्र के व्युत्क्रांतिपद से जाननी।

एकेन्द्रिय जीवों को समुद्घात कितने ?

उत्तर में भगवंत ने कहा कि वेदना-कषाय मारणांतिक और वैक्रिय समुद्घात चार होते हैं। वैक्रिय समुद्घात वायुकाय के आश्रयी समझना। शेष को तीन हैं।

एकेन्द्रियों को कर्मबंध की विशेष वक्तव्यता :

इस विषय के अनुसंधान में गौतमस्वामी ने चार प्रश्न किये हैं। वह इस तरह :—

(१) एकेन्द्रियावतार को प्राप्त किये हुये और परस्पर

जिनकी आयुष्यस्थिति तुल्य है, वे क्या कर्मों का बंधन तुल्य करते हैं ? या विशेषाधिक ? परस्पर की अपेक्षा से समानत्व होने पर भी फिर से बंधनेवाले कर्म क्या तुल्य हैं ? या पूर्व-काल में बंधे कर्म की अपेक्षा से असंख्यातवें भाग आदि को लेकर विशेषाधिक हैं ?

(२) तुल्यस्थितिक जीव भिन्न-भिन्न विशेषाधिक कर्म का बंध करते हैं ? यानि कि आयुष्य मर्यादा समान होने पर भी कई एकेन्द्रिय असंख्यात वे भागरूप विशेष या. या कई संख्यात भागरुप विशेषकर्मों को बांधते हैं ?

(३) आयुष्यमर्यादा भिन्न-भिन्न होने पर भी वे क्या परस्पर कर्मों का बंधन तुल्य करते हैं ? या विशेषाधिक करते हैं ?

(४) भिन्न-भिन्न स्थितिक जीव अन्योन्य क्या विशेषाधिक कर्म को बांधते हैं ?

प्रत्युत्तर में भगवंत ने फरमाया कि—हे गौतम !

(१ कई जीव जो तुल्य स्थितिक एकेन्द्रिय हैं, वे तुल्य और विशेषाधिक कर्मों को बाँधते हैं।

(२) समान स्थितिक जीव भिन्न-भिन्न तरीके से विशेषाधिक कर्मों को बांधते हैं।

(३) भिन्न-भिन्न स्थितिक जीव भिन्न-भिन्न कर्मों को बाँधने वाले हैं।

इस कारण से एकेन्द्रिय जीव चार प्रकार के हैं :

(१) कई एकेन्द्रिय जीव एक समान आयुष्यवाले हैं और एक साथ ही उत्पन्न होते हैं।

(२) कई समान आयुष्यक होते हैं पर अलग-अलग जन्म लेते हैं।

(३) कई कई भिन्न आयुष्यवाले होते हैं, पर एक स्थान में जन्म लेते हैं।

(४) और कई जीवों को जन्म और आयुष्य भी भिन्न भिन्न होते हैं।

इन चार प्रकार में से पहले प्रकार के जीव तुल्य, विशेषाधिक कर्मों का बंधन करते हैं, क्योंकि तुल्यायुष्क जीव एक काल में जन्म लेते होने से परस्पर तुल्य योगवाले होते हैं। इसलिये कर्मों का बंधन तुल्य कहा है और पहले किये हुये कर्मों को हीन करते हैं, अथवा अधिक करते हैं। यदि अधिक कर्मों को करे तो परस्पर तुल्य होकर भी पूर्व कर्म की अपेक्षा से विशेषाधिक होते हैं। इसलिए उन्हें तुल्य और विशेषाधिक दो विशेषण होते हैं।

दूसरे प्रकार के जीव समानायुष्क होने पर भी अलग अलग समय में उत्पन्न होने पर उनके योग विषम होते हैं, इसलिए कर्मों का बंधन भी विशेषाधिक है। जबकि तृतीय प्रकार के जीव विषमायुष्यक और एक साथ जन्मे होने से योगसमान होते हैं, इसलिए कर्मों को तुल्य तथा विशेषाधिक करते हैं और चौथे प्रकार के जीव विषम विशेषाधिक कर्मों का उपार्जन करते हैं।

उपर्युक्त एकेन्द्रिय जीवों की वक्तव्यता सुनकर गौतमस्वामी जी बहुत प्रसन्न हुए और परमात्मा को भावपूर्वक वंदना तथा पंचांग झुकाकर द्रव्यवंदना करते हैं और स्तुति करते हुये कहा कि :—हे प्रभो! आपश्री सच्चे यथार्थवादी हैं, इसलिए सर्वज्ञ हैं, तीर्थंकर हैं, सर्वदर्शी हैं, देवाधिदेव हैं और ईश्वर हैं।

(शतक ३४ : उद्देशक-१ समाप्त)

शतक ३४ : उद्देशक–२

अनंतरोपपन्नक एकेन्द्रियों की वक्तव्यता :

जो जीव एक ही समय में यानि कि जन्मधारण करने में जिन्हें प्रथम समय हुआ हो, ऐसे एकेन्द्रियावतार को प्राप्त किये जीवों को अनंतरोपपन्नक कहते हैं। उनके बारे में विशेष जानने के लिए प्रश्न करते हुये गौतमस्वामीजी को भगवंत ने उत्तर दिया कि, हे गौतम ! अनंतरोपपन्नक यावत् वनस्पतिकायिक तक पाँच प्रकार से हैं। यह प्रकरण सिर्फ प्रथम में उत्पन्न हुये एकेन्द्रियों के लिए होने से पृथ्वीकाय से यावत् बादर वनस्पतिकाय तक के जीव अपर्याप्त होने से उनके सूक्ष्म और बादर रूप से दो भेद हैं। क्योंकि जन्म लेने के प्रथम समय में यह जीव अपर्याप्तक ही होते हैं। बादर पृथ्वीकाय के जीव रत्नप्रभा से लेकर सात पृथ्वी और सिद्धशीला तक आठ पृथ्वीओं में सभी द्वीप तथा समुद्र में स्वस्थान की अपेक्षा से रहते हैं। उपपात और समुद्घात की अपेक्षा से सभी जीवों से यह जीव ज्यादा ही होने से सारे लोक में व्याप्त रहते हैं। जिन स्थान को यह जीव छोड़ देते हैं उसी वक्त दूसरे अनंत जीव वहाँ उपपात अर्थात् जन्म लेते हैं और दूसरे स्थान को खाली करते हैं तब दूसरे अनंत जीव उत्पन्न होते हैं।

फिर भी वे लोक के असंख्यातवे भाग में होते हैं। जब कि अनंतरोपपन्नक सूक्ष्म पृथ्वीकायिक सब एक समान होने से सारे लोक में व्याप्त होकर रहते हैं। शेष हकीकत प्रज्ञापना सूत्र के स्थान पद से जाननी अथवा यही शतक के प्रथम शतक के प्रथम उद्देशावत्।

शतक ३४ : उद्देशक-३

परंपरोपपन्नक एकेन्द्रियों की वक्तव्यता :

जिन्हें एकेन्द्रियावतार को धारण किये दो समयादि बीत चुके हैं वे परंपरोपपन्नक कहलाते हैं। गौतमस्वामी के पूछने पर भगवंत ने फरमाया कि—हे गौतम! पृथ्वीकाय से वनस्पतिकाय तक के जीव सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त रूप से चार प्रकार के जानना।

हे प्रभो! उनमें से सूक्ष्म अपर्याप्तक-पृथ्वीकायिक यदि रत्नप्रभा नरक से पूर्व दिशा के चरमांत से समुद्घात करके पश्चिम चरमांत में उत्पन्न हो तो कितना समय लगता है? उत्तर में भगवंत ने फरमाया कि—विग्रहगति से वे जीव १-२-३-४ समय में उत्पाद करते हैं। विशेष यह कि उत्तर लोक के चरमांत से समुद्घात करे और पश्चिम चरमांत में उत्पन्न होनेवाले को एक समय का विग्रह नहीं होता। यह जीव आठ पृथ्वीओं में स्थित हैं। शेष पूर्ववत्।

शतक ३४ : उद्देशक ४ से ११

शेष रहे—(१) अनंतरावगाढ, (२) परंपरावगाढ,
(३) अनंतराहारक, (४) परंपराहारक,
(५) अनंतरपर्याप्तक, (६) परंपरपर्याप्तक,
(७) चरम, (८) अचरम।

इस तरह से आठ उद्देशक पहले की तरह से जानना। उनमें अनंतरावगाढ, अनंतराहारक और अनंतरपर्याप्तक के तीन उद्देशक अनंतरोपपन्नक की तरह जानना। शेष परंपरोपपन्नक की तरह जानना।

शतक ३४ : द्वितीय एकेन्द्रिय शतक

कृष्णलेश्या के मालिक एकेन्द्रिय जीव भी चार प्रकार से जानना। उनके लिए दूसरी हकीकत पहले की तरह से जाननी। दूसरा शतक पूर्ण।

नीललेश्या एकेन्द्रिय जीवों का तीसरा शतक।

कापोतलेश्या के एकेन्द्रिय जीवों का चौथा शतक। तथा भवसिद्धिक एकेन्द्रिय जीवों का पाँचवां शतक।

तद्विषयक हकीकत पूर्ववत् जाननी है।



शतक ३४ : एकेन्द्रिय शतक-६

भवसिद्धिक कृष्णलेश्या के चार प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों की हकीकत पूर्ववत् जाननी।

शतक—६

कापोतलेश्या और नीललेश्या के लिए शतक ७-८

इस तरह अभवसिद्धिकों के भी ९-१०-११-१२ शतक जानने।

विशेष पहले के आठ शतक में अनंतरोपपन्नक से अचरम तक के ११-११ उद्देशक पहले शतक की तरह समझना। जिससे ११X८=८८ उद्देशक और शेष अभवसिद्धिक के लिए चरम और अचरम दो उद्देशक नहीं होते। इसलिए ४X९=३६X८८ =१२४ यानि कि ३४ वें शतक के अवांतर शतक १२ जानना और सारे उद्देशक-१२४ जानने हैं।

"एकेन्द्रियादिसंसारो मया प्राप्तोऽप्येनेकशः
अधुना प्रार्थये नाथ ! न देयं तत्र जन्म मे ॥"
[विवेचक]

—: o :—

'समाप्ति वचनम्'

शास्त्रविशारद, जैनाचार्य, काशी आदि के बहुत से राजाओं को तथा पंडित और महापंडितों को जैनी अहिंसा, संयम आदि के रहस्य को समझानेवाले और उनके जीवन में से मांसाहार, शराब आदि का त्याग करानेवाले १००८ श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी म० के शिष्यरत्न, शासनदीपक मुनिराज श्रीविद्याविजयजी म० के शिष्य, पंन्यासपद विभूषित, गणिवर्य्य पूर्णानन्दविजय ने [कुमारश्रमण ने] अपने मतिज्ञान के विकास के लिए, श्रुतज्ञान की प्राप्ति के लिए, भगवतीसूत्र सारसंग्रह का ३४ वां शतक यथामति से विवेचित किया है। सर्वत्र शुभं भूयात्।

॥ शतक ३४ समाप्त ॥

शतक ३५ : उद्देशक--१

पृथ्वीकायिकों की वक्तव्यता :

हे प्रभो ! आपश्री के शासन में महायुग्मों की संख्या कितनी कही गई है ? (यहाँ युग्म का अर्थ संख्या से जानना और महान यानि बड़े युग्म लेने हैं क्योंकि क्षुद्र युग्मों की बातें इसके पहले के शतक में चर्चा गई हैं।)

जवाब में भगवान महावीर स्वामी ने कहा कि, हे गौतम ! उनकी संख्या निम्नलिखित १६ की है।

(१) कृतयुग्म कृतयुग्म (१६) (९) द्वापरकृतयुग्म (८)
(२) कृतयुग्म त्र्योजयुग्म (१९) (१०) द्वापर त्र्योजयुग्म (११)
(३) कृतयुग्मद्वापर युग्म (१८) (११) द्वापर द्वापर युग्म (११)
(४) कृतयुग्म कल्योज युग्म (१७) (१२) द्वापरकल्योज युग्म (१०)
(५) त्र्योज त्र्युग्म (१५) (१३) कल्पोज त्र्योज युग्म (७)
(६) त्र्योज त्र्योज युग्म (१५) (१४) कल्पोज त्र्योज युग्म (७)
(७) त्र्योजद्वापर युग्म (१४) [१५] कल्पोजद्वापर युग्म [६]
[८] त्र्योजकल्योजयुग्म [१३] [१६] कल्पोंज कल्योजयुग्म [५]

इसके पहले के शतक में एकेन्द्रिय जीवों को श्रेणी के क्रम में दिया गया था जबकि इस शतक में राशिक्रम से वर्णन किया गया है।

गौतमस्वामी ने पूछा कि, हे प्रभु ! आपश्री कृतयुग्म कृतयुग्म से लेकर कल्योज-कल्योज तक के १६ संख्या के युग्म कहे हैं उनका कारण कहिये। जवाब में भगवंत ने कहा कि,

हे गौतम, जिस राशि को प्रत्येक समय में चार-चार को बाद करने पर आखिर चार की संख्या शेष बचे तथा चार-चार को निकालने के समय को भी चार चार से निकालने पर आखिर चार शेष बचे उसे कृतयुग्म कृतयुग्म कहते हैं। कारण में कहा गया है कि, चार चार से निकाले जाते द्रव्य और समय की अपेक्षा से दोनों तरह से चार शेष बचे उसे कृतयुग्म कहते हैं। तीन शेष बचे उसे त्र्योज, दो शेष बचे उसे द्वापर, और एक शेष बचे उसे कल्योज कहते हैं, जैसे कि, १६, १९, १८, १७ की संख्या को चार से भागा जाये तो :—

४)१६(३	४)१९(४	४)१८(४	४)१७(४
१२	१६	१६	१६
—	—	—	—
४	३	२	१

इसमें क्रमशः चार राशि समझनी।

कृतयुग्मकृतयुग्म में अपहार समय की अपेक्षा से कृतयुग्म प्रथम पद है, और शेष रहते द्रव्य की अपेक्षा से कृतयुग्म दूसरा पद है।

कृतयुग्म त्र्योज में जघन्य १९ की संख्या हैं। उसमें कृतयुग्म यानि चार समय और शेष बचे तीन द्रव्य है।

कृतयुग्म द्वापर में १८ की संख्या है उसमें भी अपहारक चार समय जानना और शेष दो की संख्या को द्रव्य जानना।

कृतयुग्म कल्योज में १७ की जघन्य संख्या में भी चार जानना और शेष बचा एक द्रव्य जानना।

इस प्रकार त्र्योज कृतयुग्म में अपहारक समय की त्र्योज संख्या प्रमाण तीन समय जानना और शेष चार बचें वह द्रव्य

जानना। यावत् कल्योज तक के पदों में प्रथम पद समय का और दूसरा द्रव्य जानना।

कृतयुग्म एकेन्द्रिय कौन सी गति से आते हैं?

हे प्रभो! कृतयुग्मकृतयुग्म राशि प्रमाणवाले जो एकेन्द्रिय जीव हैं, वे कौन कौन-सी गति में से आकर एकेन्द्रियावतार को प्राप्त करते हैं? जवाब में भगवंत ने फरमाया कि हे गौतम! देवगति, मनुष्यगति और तिर्यंचगति में से निकले हुए जीव कम से कम १६ जीव और ज्यादा संख्यात, असंख्यात या अनंत जीव एकेन्द्रियावतार को प्राप्त करते हैं। अनंत जीवों का उत्पाद वनस्पतिकायिकों के लिए जानना। क्योंकि उनमें जन्म लेनेवाले अनंत जीव होते हैं।

भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष और वैमानिकों में पहले और दूसरे देवलोक के जीव पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में जन्म लेते हैं, जबकि वायुकाय तथा तेजस्काय में देव अवतार नहीं लेते। साथ साथ वनस्पतिकाय के जीवों को अनंत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी तक वहाँ रहना भाग्य में लिखा है। क्योंकि अकाम निर्जरा के योग से स्थावर योनि का त्याग करके त्रसयोनि में आये जीवात्माओं के लिए दो हजार सागरोपम की मर्यादा है। उस दरमियान यदि वह जीव सिद्धावस्था को प्राप्त नहीं कर सके तो फिर से यानि कि ज्यादा से ज्यादा दो हजार सागरोपम पर्यंत त्रस में रहकर वापिस स्थावर योनि में पटकाना नसीब रहता है।

एक उत्सर्पिणी दस कोडाकोडी सागरोपम की है। उसमें तीर्थंकर परमात्माओं की एक चौबीसी होती है, इस तरह अवसर्पिणी भी दस कोडाकोडी सागरोपम की जाननी और

एक चौबीसी इस काल में भी जाननी। वनस्पतिकाय में गये जीव को अनंत चौबीसी हो तब तक उनमें से बाहर निकला नहीं जाता।

इन जीवों को प्रतिसमय अनंत-अनंत की संख्या में बाहर निकाला जाये तो भी अनंत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी पूर्ण होने पर भी बाहर नहीं निकाले जाते।

उनकी अवगाहना जघन्य से उंगली के असंख्यातवे भाग की ओर उत्कृष्ट से एक हजार योजन की ऊँचाई कमल की अपेक्षा से जाननी।

अविरति की अपेक्षा को लेकर ज्ञानावरणीयादि सात कर्मों को बांधनेवाले हैं, पर कर्मों को बाँधे बिना के वे नहीं होते। आयुष्य कर्म को भजना से बाँधते हैं।

जब कर्मों को बाँधनेवाले हैं, तब बाँधे हुये कर्मों का वेदन होना ही चाहिये। अतः कर्मों के उदयवाले ही हैं।

वेदनीय और आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष कर्मों के उदीरक जानना तथा उन दोनों के लिए भजना जाननी।

कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्यावाले होते हैं, उनमें भी पृथ्वी, पानी और वनस्पति में देव जन्म लेते हैं, तथा अपर्याप्तक अवस्था होती है, तब तक तेजोलेश्यावाले जानना है।

सम्यग् और मिश्रदृष्टिवाले नहीं होते पर मिथ्यादृष्टि सम्पन्न ही होते हैं। मतिअज्ञान और श्रुतअज्ञान के मालिक जानने। विभंगज्ञान उन्हें नहीं होता है। स्पर्शेन्द्रिय नाम की एक इन्द्रिय होती हैं। मनोयोग और वचनयोग नहीं होते. इसलिये सिर्फ काययोग ही होता है। दोनों उपयोग, पाँच

वर्ण, उच्छ्वास, निश्वास उन्हें होते हैं। विग्रहगति की अपेक्षा से अनाहारक और शेष आहारक जानना है।

सर्वविरति व देशविरति रहित होते हैं। इसलिए अविरति उनके नसीब में लिखी है। क्रियावंत होती है। आहार संज्ञा, मैथुन संज्ञा, भय संज्ञा और परिग्रह संज्ञा में आसक्त होते हैं। यानि कि स्त्रीवेद या पुरुषवेद उन्हें नहीं है। फिर भी वे आने वाले तीन वेद को बाँधनेवाले हैं। असंज्ञी यानि कि मनरहित होते हैं। यहाँ भी द्रव्य मन का अभाव होने से भावमन होता है इसलिये प्रतिसमय कर्म का बंधक है। जघन्य से एक समय की स्थिति जाननी और उत्कृष्ट से अनंतकाल तक की आयुष्य मर्यादा है। इनमें अनंत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी समा जाते हैं। यह बात सिर्फ वनस्पतिकायिक के लिए है, जबकि शेष एकेन्द्रियों को असंख्य उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी जाननी। बाकी की विगत मूलसूत्र से या ग्यारहवें शतक की तरह जाननी है। इसमें अपना जीवात्मा बहुत बार या अनंत बार भ्रमण करके आया है और जब तक केवलज्ञान न मिले तब तक वहाँ का भ्रमण उनके नसीब से हटनेवाला नहीं है।

कृतयुग्मत्र्योज संख्या के एकेन्द्रिय के लिये भी उपर की तरह जानना है। सिर्फ जघन्य से १९ की संख्या में और ज्यादा से संख्यात असंख्यात अथवा अनंत जीवों का उत्पाद जानना। यावत् अनंत बार जन्म हुआ है।

कृतयुग्मद्वापर में जघन्य से १८ की संख्या उत्कृष्ट से पूर्ववत्।

कृतयुग्मकल्पोज में जघन्य से १७ की संख्या शेष पूर्ववत्।

त्र्योजकृतयुग्म में जघन्य से १२ की संख्या।

त्र्योजत्र्योज में १५ की संख्या।

इस तरह से कल्योज कल्योज तक जान लेना है। सिर्फ जघन्य संख्या में उपर की तरह से फरक देखना है।

अनंतरोपपन्नक एकेन्द्रिय की वक्तव्यता :

देवगति, मनुष्यगति और तिर्यंचगति में से आकर एकेन्द्रियअवतार को पानेवालों की सोलह युग्म की वक्तव्यता प्रथम उद्देशक की तरह जाननी। केवल दस हकीकतों में निम्नलिखित फरक है।

[१] जघन्य और उत्कृष्ट से उनकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी जाननी। प्रथम उद्देशक में बादर वनस्पतिकाय में बसे कमल की अपेक्षा से एक हजार योजन की कही थी, तब उत्पन्न हुये प्रथम समयवर्ती इन जीवों की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी जाननी।

[२] आयुष्य कर्म के बंधक नहीं है।

[३] आयुष्यकर्म के उदीरक नहीं हैं।

[४] उच्छ्वास और निश्वासवाले नहीं होते हैं।

[५] शेष सातों कर्म के बंधक हैं।

[६] कृतयुग्म कृतयुग्म राशिवाले ये जीव केवल एक समय की स्थितिवाले हैं।

[७] वेदना और कषाय समुद्घातवाले हैं।

[८] मारणांतिक समुद्घात नहीं हैं।

[९] उद्वर्तना भी नहीं है।

शेष सब उत्पादादि प्रथम की तरह जानना ऐसे अवतार यानि केवल एक ही समय की स्थितिवाले हैं। उसमें भी इस जीवात्मा ने अनंत जन्म लिये हैं।

उपरोक्त यथार्थ हकीकतों को परमात्मा के पास से सुनकर गौतमस्वामी प्रसन्न होकर कहते हैं कि, हे प्रभो आपश्री की बोली ही सर्वथा निशंक है, निसंदेह है, इसलिये श्रद्धेय, उपादेय और ग्राह्य है। क्योंकि स्थूल-अतिस्थूल बातों में भी छद्मस्थ एक दूसरे के साथ टकराये बिना नहीं रहते, तो फिर सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वज्ञान उनके लिये किसी काल में भी दृश्य न हो उसमें क्या आश्चर्य है ?

उत्पादवाले दो समयादि परंपरोपपन्नक की वक्तव्यता कृतयुग्म कृतयुग्म राशि प्रमाण १६ युग्म में पूर्ववत्।

चरम समय के इन राशिवाले जीवों को तेजोलेश्या नहीं हैं क्योंकि इस भांगा में देवों की उत्पत्ति नहीं है। चरम से इन जीवों का मरण समय विविक्षित समझना यानि कि एकेन्द्रिय के चालू अवतार को छोड़कर परभव में जाने का प्रथम भव जानना।

अचरम समय में जन्मे इन जीवों को प्रथम की तरह जानना।

प्रथम समय कृतयुग्म कृतयुग्मादि यानि एकेन्द्रियरुप उत्पाद के प्रथम समय के योग द्वारा जो प्रथम है और कृतयुग्म कृतयुग्म के अनुभव के प्रथम समय पर ही उत्पन्न होनेवाले प्रथमवत्।

प्रथम-अप्रथम कृतयुग्म कृतयुग्म के जीव पाँचवे उद्देशक के अनुसार जानना।

प्रथम चरण समय और प्रथम अचरम समय के जीव पूर्ववत् जानना।

इस प्रकार ११ उद्देशक के साथ प्रथम महायुग्म समाप्त।

(शतक ३५ : उद्देशक ३ से ११ समाप्त)

कृष्ण लेश्यावाले इस राशि के जीवों के लिए भी प्रथम की तरह जानना। विशेष में जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त की आयुष्य मर्यादावाले हैं। शेष १९ उद्देशक प्रथम की तरह जानना।

(शतक ३१ : उद्देशक १ समाप्त)

तीसरे शतक में नीललेश्या, चतुर्थ शतक में कापोतलेश्या भावसिद्धिक के चार तथा अभवसिद्धिक के भी चार उद्देशक जानना।

'समाप्ति वचनम'

शास्त्रविशारद, जैनाचार्य, स्व. १००८ श्री विजयधर्मसुरीश्वरजी म. (काशीवाले) के अद्वितीय प्रभावशाली, व्याख्यात् चूडामणि, गुजराती, हिन्दी, सिन्धी आदि भाषाओं में अनेकविध साहित्य के सर्जक, स्व मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज के शिष्य, न्यायव्याकरण-काव्यतीर्थ, पंन्यास पूर्णानंदविजय (कुमार श्रमण) ने अपने मतिज्ञान के विकास के लिए और आनेवाले भवों में भी चारित्र का स्वीकार करके एकेन्द्रियादि जीवों की ओर भी उपयोग सम्पन्न रहनेवाले संस्कार प्राप्त हो इसलिए भगवतीसूत्र जैसे अति गहन आगम का ३५ वाँ शतक विवेचित किया है।

'शुभं भूयात् सर्वेषां जीवानाम्'
जीवा सर्वे एकेन्द्रियादि जीवेषु उपयोगवंतो भवेयु'

(शतक ३५ समाप्त)

शतक ३६ : उद्देशक १

दो इन्द्रिय जीवों की राशिक्रम से वक्तव्यता :

हे प्रभो ! कृतयुग्म कृतयुग्मादिसंख्या प्रमाणवाले दोइन्द्रियजीव अपने अपने अवतार में कौन सी गति से आते हैं।

जवाब में भगवंत ने फरमाया कि हे गौतम ! वे मनुष्य अथवा तिर्यंचगति में से अपना भवपूर्ण करके दोइन्द्रियराशि में जन्मधारण करते हैं। उन्हें सिर्फ स्पर्शेन्द्रिय व जीभइन्द्रिय होती है। इसके सिवा नाक, आँख; कान आदि इन्द्रिय नहीं होती। क्योंकि पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों के कारण घ्राणेन्द्रियावरणीय चक्षुरिन्द्रियावरणीय और कर्णेन्द्रियावरणीय कर्मों का सख्त उदय होने से नाक, आँख, कान इन इन्द्रियों को वे भुगत नहीं पाते। यह जीव जघन्य से १६ की संख्या में और ज्यादा संख्यात व असंख्यात में जन्म लेते हैं।

असंख्यात समुद्र, हूद, तालाब, बड़ी बड़ी नदीओं में, छोटे बड़े शंख, कोड़े कोड़ी व दूसरे किसी प्रकार के शंख में दो इन्द्रिय जीव जन्म लेते हैं। उसके अलावा वर्ण, गंध, रस और स्पर्श बदल जाने के बाद बासी रोटी, खीचड़ी में रहे, पानी, कड़क न हुई ऐसी पुड़ी, आदि में, खट्टे दही में, बारिस के समय उत्पन्न होनेवाले असंख्य जीव भी दोइन्द्रिय जीव हैं। उनकी कभी भी गिनती नहीं हो पाती। इस कारण से प्रतिसमय यावत् असंख्यात जीव जन्म लेते हैं और दूसरों के पैर से दबकर मरते हैं।

सम्यग्ज्ञानी तथा सम्यकचारित्री के सिवा इन जीवों का रक्षण करनेवाला कोई नहीं है। क्योंकि इन चारित्र की परिणति जब तक आत्मा में नहीं होती तब तक उस साधक के पुद्गलों का प्रेम कम नहीं हुआ होने से अलग अलग तरह के शंख, कोड़े आदि संग्रह करने में उनकी लालसा रहे यह स्वाभाविक है और जैनी वाणी के प्रति श्रद्धा, आदर न होने के कारण जीभ इन्द्रिय के वशवर्ती जीवात्मा, बासी भोजन करेंगे सर्वथा पके हुए चलितरस वाले फल, सब्जी व ऐसे प्रकार के भोजन में चटोरे बनेंगे और उपयोगरहित ऐसे बरसाती जीवों को पैरों तले कुचलते हुए चलेंगे। इस तरह से असंख्यात जीवों के मारनेवाले बनेंगे।

इन जीवों की शरीर अवगाहना जघन्य से उंगली के असंख्यातवें भाग की है, तथा उत्कृष्ट से १२ योजन की जाननी। देवों का उपपात इनमें होता नहीं है, इसलिये इनकी तीन लेश्या जाननी है। अपर्याप्त अवस्था में यदि सास्वादन सम्यक्त्व हो तब सम्यग् तथा मिथ्यादृष्टिवाले जानने हैं, मिश्रदृष्टि उन्हें नहीं होती सम्यक्त्व की विद्यमानता में सम्यगदृष्टि जाननी है। ज्ञानी तथा अज्ञानी होते हैं। विभंगज्ञान व अवधिज्ञान उन्हें नहीं होता। वचन और काय-योग वाले होते हैं, मनोयोग उन्हें नहीं है। जघन्य से एक समय तक और उत्कृष्ट से संख्यातकाल तक वे रहते हैं। आयुष्य मर्यादा बारह साल की है। लोक के मध्य में होने से नियमा छः दिशा का आहार जानना। वेदना-कषाय और मारणांतिक समुद्घात है। १६ युग्मों में भी उपर की तरह देखना।

(शतक ३६ : उद्देशक-१ समाप्त)

इस तरह से दो से ग्यारह उद्देशक के बारे में जानना है सिर्फ प्रथम समय के दोइन्द्रिय जीव अपर्याप्तक होने के कारण उन्हें काययोग ही जानना है। क्योंकि अपर्याप्तकों को वचन तथा मनोयोग का अभाव होता है।

कृष्ण नील और कापोतलेश्या वाले दोइन्द्रिय के क्रमशः २-३-४ शतक, भवसिद्धिक के लिये ५-६-७-८ तथा अभवसिद्धिकों के ९-१०-११-१२ शतक पूर्ववत् देख लेना।

'समाप्ति वचनम्'

जर्मन, इटली, फ्राँस, लंडन आदि पाश्चिमात्य देशों के महापंडितों को जैन शासन का सूक्ष्म ज्ञान करानेवाले, नवयुग प्रवर्तक, आचार्यपद के ३६ गुणों से देदीप्यमान, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य, १००८ श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज के शिष्य, शासनदीपक, मुनिराज श्री विद्याविजयजी म० के शिष्य पंन्यास श्री पूर्णानन्दविजय (कुमारश्रमण) ने अपने मतिज्ञान के विकास के लिए, भगवतीसूत्र जैसे आगमीय ग्रन्थ का ३६ वां शतक पूर्ण किया है।

'शुभं भूयात् सर्वेषां जीवानाम्'

'कल्याणमस्तु, स्वस्ति भूयात्, भद्रं भूयात्'

(शतक ३६ : उद्देशक १ समाप्त)

शतक ३७ : उद्देशक--१

तेइन्द्रिय जीवों की राशिक्रम से वक्तव्यता :

हे प्रभो ! राशिक्रम से तेइन्द्रिय जीव कौन-सी गति में से आकर तेइन्द्रियावतार को प्राप्त करते हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! जिस तरह दोइन्द्रिय जीव के लिए कहा गया है, उस तरह तेइन्द्रिय के लिए जानना। सिर्फ शरीर की अवगाहना जघन्य से उंगली के असंख्यातवे भाग में और उत्कृष्ट से तीन गाउ की समझनी। आयुष्य की मर्यादा जघन्य से एक समय की और उत्कृष्ट से "एगूणवन्नं-राइदियाणं" यानि ४९ रात और दिन की समझनी।

पहला शतक—औधिक अर्थात् प्रस्तुत शतक।
दूसरा शतक—कृष्णलेश्यावाले तेइन्द्रिय जीवों के लिए।
तीसरा शतक—नीललेश्यावालों के लिए।
चौथा शतक—कापोत लेश्यावालों के लिए।
५-६-७-८ शतक—भवसिद्धिकों के लिए।
९-१०-११-१२ शतक अभवसिद्धिक के लिए हैं।

स्पर्श, जीभ तथा नाक इन्द्रियों के मालिक इन जीवों को चक्षुरिन्द्रियावरण और श्रवणेन्द्रियावरण कर्मों का जबरदस्त उदय होने से आँख और कान इन्द्रिय उन्हें नहीं होती। तथा संमूर्च्छिम होने के कारण नपुसंकवेद का उदय जानना है।

चक्षु प्रत्यक्ष तेइन्द्रिय जीव निम्नलिखित हैं।
गोमी - छोटे बड़े कानखजूरे।
मंकण - खाट, गद्दी में होनेवाले खटमल।

जूंआ - सिर में तथा कपड़े में होनेवाली जूं।
पिपीली - काली, लाल वगैरह चींटी।
उदेहिया - लकड़े में होनेवाली उधई।
मकोडा - भिन्न भिन्न प्रकार के मंकोड़े।
इल्लिया - धान्य में होने वाली लटें।
घयमिल्लीओ – घी में होनेवाली लटें।
सावय - सिर के मूल में होनेवाले।
गोकीडा - कुत्ते आदि के कान में होनेवाले।
गद्दहय - निकम्मी जगह में होनेवाले गधैया।
चोरकीडा - विष्टा में होनेवाले कीटक।
गोमयकीडा – गोबर में होनेवाले कीड़े।
कुंथु - सफेद रंग के सूक्ष्म जंतु।
गोवालीय – गोवालन जात के कीड़े।
इलिया - शक्कर, गुड़ आदि में होनेवाली।
इंदगोवाइ - बारिस ऋतु के प्रारंभ में होनेवाले लाल रंग के कीड़े (केंचुआ)

उपर्युक्त जीव, व्यवहार में प्रसिद्ध हैं। शेष तेइन्द्रिय जीव बहुत हैं जो अपने लिए अप्रत्यक्ष हैं।

अनंत संसार में असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं, नदियाँ हैं, नाले हैं, बड़े बड़े जंगल हैं, धूल है, रेती है, मिट्टी है, उपयोगी जमीन है, बिन उपयोगी जमीन है, अमुक जीव वर्षा ऋतु में जन्मते हैं, अमुक जीव ठंडी में तो अमुक ग्रीष्म ऋतु में जन्म लेते हैं। कोई दोइन्द्रिय रुप में तो कोई तीन इन्द्रिय रुप में, और कोई चार इन्द्रिय रुप में भी जन्म लेते हैं। जमीन पर चलते, समुद्र के पानी में चलते या आकाश में उड़ते जीवों को हम प्रत्यक्ष देखते आये हैं। हमको जिस तरह प्राण, शरीर,

जीव, इन्द्रिय, श्वाछोश्वास, मन, भाषा है उसी तरह कोई भी शरीर में बसे जीव अपनी तरह चैतन्य, शरीर, इन्द्रिय और मनवाले हैं। इसलिये कोई भी जीव दूसरे के हाथों मोटर या गाड़ी के नीचे या किसी दूसरे प्रकार से मरने की इच्छा नहीं करता है। इसलिये बुद्धिशाली और विवेकपूर्ण मनुष्यों का कर्तव्य धर्म, अहिंसा धर्म, और मानवता धर्म यह है कि, किसी भी जीव को नहीं मारना, चलने उठने बैठने में कोई भी जीव मरने न पाये।

गुरुदेव का अनन्य भक्त बना अंतेवासी उसकी आज्ञा के मुताबिक काम करने में चाहे कितनी भी जल्दी रखे फिर भी अपनी 'ईर्यासमिति' को मुसीबत में नहीं डालने देना चाहिये। यह आज्ञा तीर्थंकर परमात्माओं की है। सारांश यह है कि, मुनि को भी अपना ईर्यासमिति धर्म सबसे मुख्य है।

हम जिस क्षेत्र में रहते हैं, वहाँ कानखजुरा आदि कीड़े क्वचित् बहुत छोटे आकार में दिखें हों लेकिन बड़े बड़े पर्वतों में या जंगलों में कानखजुरे हाथ या डंडे जितने भी हो सकते हैं। इस प्रकार तीन इन्द्रिय जीव तीन गाऊ शरीर के प्रमाण के हों उसमें कोई शक नहीं है।

यहाँ जो तीन गाऊ की बात है वह उत्कृष्ट में ष्उत्कृट शरीर प्रमाण की अपेक्षा से जाननी और जघन्य से कम में कम शरीर प्रमाणवाले तीन इन्द्रिय जीव अंगुल के असंख्यात भाग जितने बहुत छोटे आँख से न दीखें ऐसे होते हैं। अनंत जीव राशि है। प्रत्येक के लिए तो भिन्न भिन्न अवगाहना विशेष प्रसंग के अलावा दिखाई नहीं जाती इसलिये सामूहिक रुप से जघन्य और उत्कृष्ट रुप से बात करने की पद्धति जैन शासन ने कही है।

मस्तक में या क्षेत्र विशेष के जानवरों के बालों में 'जू' भी तीन गाऊ की हो सकती है। वह भी कौन से क्षेत्र में होती होगी ? वह अपने जैसे छद्मस्थ जान नहीं सकते, लेकिन यह मानने जैसी हकीकत है। इसलिये, जैन शासन की बहुत सी बातें और प्ररुपणाएँ केवल श्रद्धागम्य होती हैं। लेकिन इर्ष्यांध और धर्मांध बने दयानंद सरस्वती को अपने उपास्य महादेवजी की मजाक उड़ाने में देर नहीं लगती थी तो जैन शासन की अमुक बातों को लेकर जैन शासन की निंदा करने में कैसे देर लगती है ? तभी तो अपने सत्यार्थ प्रकाश में लिखते हैं कि, जैनों के धर्म में 'जू' तीन गाऊ की है तो उनके मस्तक कितने योजन के होंगे ?

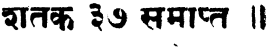
इतना ही कहें कि, किसी की भी बात करने से पहले उनके शास्त्रों को बराबर देखना चाहिये।

२४ आंगल = १ हाथ, ४ हाथ = १ धनुष्य, २००० धनुष्य = ९ गाऊ (गव्यूति) गव्यूति।

२ गाऊ = १ कोश।

४ कोश = १ योजन।

॥ शतक ३७ समाप्त ॥



शतक ३८

चतुरिन्द्रिय जीवों की वक्तव्यता :

अवगाहना जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट से चार गाऊ की स्थिति। जघन्य से एक समय की और उत्कृष्ट से छः महीने की जाननी।

बिच्छु, बगाई, भ्रमरा, भ्रमरी तीड, मक्खी, डांस, मच्छर, कंसारी, आदि जीव चतुरिन्द्रिय जानना। उसमें बिच्छुआदि जहरीले हैं, दूसरे डंख देनेवाले हैं, शेष पूर्ववत्।

॥ शतक ३८ समाप्त ॥

शतक ३९

असंज्ञी पंचेन्द्रियों की वक्तव्यता :

जघन्य अवगाहना उंगली के असंख्यातवें भाग में और ज्यादा से ज्यादा एक हजार योजन की जाननी है। स्थिति जघन्य से एक समय की और ज्यादा पूर्व कोटि की जाननी। कायस्थिति जघन्य से एक समय की और ज्यादा २ से ९ कोटि की समझनी शेष पूर्ववत्।

नोंध :—दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चार इन्द्रियों के जीवों को जैन शासन की परिभाषा में विकलेन्दिय कहते हैं।

"विकलानी अपरिपूर्णानि इन्द्रियाणि सन्ति येषा ते विकलेन्दिया"। यानि कि परिपूर्ण पाँच इन्द्रिय जिन्हें नहीं हैं, उन्हें विकलेन्द्रिय जानने और व्याकरण वेत्ताओं ने इन जीवों को क्षुद्र कहे हैं। सारांश यह हैं कि सभी के मत से यह जीवात्मा हैं, चैतन्य शक्ति सम्पन्न हैं और मनुष्यों की माफिक ही सुख की इच्छा रखनेवाले और दुःख से दुःखी होनेवाले हैं। बेशक! मनुष्य से यह जीव हीनपुण्यवाले हो सकते हैं, इससे यह अर्थ नहीं हीता कि इन क्षुद्र जंतुओं को मारने से पाप नहीं लगता। माना कि गृहस्थाश्रम में रहनेवाले गृहस्थों को अपने जीवन व्यवहार के संचालन में स्थादर-जीवों का उपयोग सर्वथा अनिवार्य है। फिर भी मानव की मानवता में दयादेवी का वास और अहिंसाधर्म का अवतार हुआ होगा तो अपने जीवन में स्थावरों के उपयोग में भी निरर्थक जीव-हिंसा का त्याग करेगा। तो फिर त्रसत्व को पानेवाले विकलेन्द्रियों के प्रति किस तरह से निर्ध्वंस बनेगा? इससे उन जीवों को मारने के लिये या मरवाने के लिए दयालु पुरुष को किसी भी हालत में उत्साह नहीं रहता।

'ईश्वर ही जगत का सर्जनहार है' इस सिद्धांत को सत्य-स्वरुप माननेवालों को समझना चाहिये कि :—जिस तरह मनुष्यों का सर्जन ईश्वराधीन है तो क्षुद्र जन्तुओं का भी सर्जनहार ईश्वर है। इस स्थिति में अपने प्रमाद व अज्ञान के वश होकर ईश्वर की सृष्टि को बिगाड़ी नहीं जाती। तथा अन्य जीवों के हत्यारे पर ईश्वर का आशीर्वाद भी नहीं लगता। सर्प, बिच्छु, कानखजूरा, मच्छर, मक्खी, बाघ आदि प्राणी मानवीओं के नाशक हैं, इसलिए उनको मार डालना, यह सिद्धांत भी सर्वथा अज्ञानमय है, क्योंकि सृष्टि के

निर्माण में और विषयुक्त जन्तुओं के निर्माण में भी दीर्घदृष्टि सम्पन्न, महादयालु परमात्मा की दया को हम नहीं समझ पाते, या मानवजात पर उन जन्तुओं का कितना उपकार है, उसे हम वैज्ञानिक ढंग से भी नहीं समझ सकते। इसलिये हम पूरे कमभागी रहेंगे और परमात्मा की सुन्दरतम सृष्टि को बदसुरत बनाने में हम अगले भव में भी बिना मौत मरेंगे। क्योंकि संसार (खेल का मैदान) फुटबॉल जैसा है, इसलिए पराये जीवों की हत्या करनेवाला वह, जीव के साथ वैरानुबंध से बंधेगा और अपने हाथ व पैर से मरनेवाले जीव अगले भव में शत्रु बनकर बैर का बदला लिये बिना नहीं रहेगा।

ईश्वर के प्रति और भारत देश की प्राणसमी अहिंसा के प्रति बेध्यान रहकर आज तक भिन्न भिन्न सरकारों ने सर्प, बाघ तथा सिंह आदि को मारने के लिये अलग अलग योजना और लाखों रुपयों के इनाम जाहिर किये हैं, पर हम देख रहे हैं कि संसार में से छोटे-बड़े सर्प कम नहीं हुये और मक्खी मच्छर भी कम नहीं हुए। गांधीजी का राज्य होने पर भी आज तक कितना किलो डी० डी० टी० का पावडर छिड़का गया है, फिर भी मक्खी, मच्छर कम नहीं हुये और दूसरे जानवर भी कम नहीं हुये और सांप के डसने से आदमी की मौत भी कम नहीं हुई है।

इस सब बातों को ध्यान में लेकर 'जीवो जीवस्य भक्षणम्', इस उक्ति को चाहे मानवेतर सृष्टि चरितार्थ करे, पर मनुष्य तो बुद्धिशाली प्राणी है, धर्म, कर्म को जाननेवाला है, वेद-वेदांत-उपनिषद्, पुराण, गायत्री का उपासक है, सुवर्ण-मोती-सुखड़-प्रवाल तथा रुद्राक्ष की माला के द्वारा परमात्मा

का भजन करनेवाला है। इसलिए विवेकी और विचारशील है, जिससे जीवों का हनन नहीं पर रक्षण करने के लिए अभूतपूर्व शक्ति उनमें है। इसलिए ईश्वर की बक्षिस रुप उस शक्ति का सदुपयोग करके एक जीव दूसरे जीव का मित्र बनने पाये उसमें अपने सब का, भारत देश का, मानव समाज का और आध्यात्मिक जीवन का भला है।

शायद छः या सात शताब्दिओं से सर्वथा पराधीन बने भारत देश को महात्मा गांधी ने अहिंसक वृत्तिओं से और प्रवृत्तिओं से स्वाधीनता दिलाई और उनके ही शिष्य सफेद टोपी पहनकर राजसत्ताधारी बने। लेकिन अफसोस की बात यह है कि, सत्ता की कुर्सी हाथ में आने के बाद तुरंत ही लाखों,करोड़ों बंदर, भूड, गाय बैल, पाड़े, घेटे, बकरे, बाघ, दीपडे, मोर, चूहे और मेढ़क के अंग उपांगों और चमड़ी के व्यापार से विदेशी चलण कमाने के पाप मार्ग पर चले गये, जिसके महापाप से लाखों टन गेहूँ आदि पदार्थ भारत में आये। फलस्वरुप स्वतंत्रता के ३२-३३ सालों के बाद भी देश की दुर्दशा हम देख रहे हैं और भुगत रहे हैं वह निम्न-लिखित हैं :—

(१) कालेज और शाला का सहशिक्षण, व्यापारी सिनेमा-गृह, टेलीवीजन और रेडियो के माध्यम से व्यापक और उत्तेजित बनी कामवासना के कारण सरेआम बहु-बेटियों की की इज्जत लूटी जा रही है, लेकिन सत्ताधारीगण अज्ञात बना बैठा है।

(२) शिथिल बनी राज्यसत्ता के परिपाक से आदमी दूसरे आदमी का दुश्मन बन गया है। एक श्रीमंत दूसरे श्रीमंत का

तथा एक प्रांत का प्रधानमंत्री दूसरे प्रांत के प्रधानमंत्री का बैरी बना हुआ है। विरोधी बन गया है।

(३) प्रत्येक प्रांत के मंत्री और केन्द्र के मंत्री भी अपने अहम् के वश बनकर एक दूसरे की सत्ता को ललकार रहे हैं। इतना ही नहीं लेकिन एक दूसरे के चूड़ीदार या पाजामे खींच रहे हैं।

(४) भारत माता की, गाँधीबापू की, देश के गरीबों या मध्यम वर्ग की चिंता चिता में जलकर अलविदा ले चुकी है।

(५) पापी, रिश्वत और काले बाजार का पैसा सबके दिलोदिमाग पर छाया होने से देश के सत्ताधारी और श्रीमंत कुदरत के बैरी बने हैं इसलिए।

मानवता गई और दानवता आई,
दया गई और क्रूरता आई,
प्रेम गया और स्वार्थ आया।

फलस्वरूप भारतदेश के भाग्य में मेघराजा रुठे, नदी महानदी भी रुठी और अति वृष्टि और अनावृष्टि की मर्यादा का भी लोप हुआ।

(६) पाप के पैसे से खरीदे गये तेल, घी, सिंदुर, सोना, चांदी के वरख, फल-फूल, मेवा मिठाई श्रीफल आदि के छप्पन भोग से तृप्त या अतृप्त कलयुग के भगवान भी मानो शेषशय्या पर आराम कर रहे हैं इसलिये भारत देश के गरीब हर तरह से परेशान हैं, बेमौत मर रहे हैं, जबकि भारत देश के मंत्री प्रधानमंत्री, वित्तमंत्री मालमाल हो रहे हैं और उनके कुत्ते भी कीमती गाड़ियों में घूमते हैं और बिस्किट खाते हैं।

[७] भारत देश के संत-महासंत और वैरागियों की आंख पर सोने की फ्रेम के चश्मे लगे और पांच पांच हजार की काश्मीरी शाल और दुशाला से उनके शरीर लपेटे गये। लेकिन इन संतों के भक्तों को पेट भरने के लिए अन्न नहीं और पहनने के लिए कपड़े नहीं, दवा भी नहीं, नारंगी नहीं, दूध नहीं इससे ज्यादा क्रर मजाक अहिंसादेवी का और क्या हो सकता है?

[८] भारत देश की जगदंबा जैसी स्त्री की नग्न और अर्ध-नग्न तस्वीरें खींची गई, उनके पोस्टर बने और उस नग्नता का प्रदर्शन राजमार्ग पर होने लगा, लाखों रंगीन केलेन्डर, सिनेमागृह में और दीवालों पर अर्धनग्न महिलाओं की तस्वीरें लगाई गई और भारत देश के श्रीमंतों की पत्नियाँ, पुत्रीयाँ, राजसत्ताधारीओं की पत्नीयाँ, पढ़ीलिखी स्त्रीयाँ, अच्छे लेखकों की पत्नीयाँ आदि को अपनी जात पर जरा भी गर्व नहीं रहा। पापी अन्न, हिंसक प्रवृत्तियाँ आदि से कमाये गये पैसे से मानो अपनी सबकी आत्मा ही खत्म और मुर्दा हो गयी है।

(९) केन्द्रिय मंत्रीमंडल से प्रांतीय मंत्रीमंडल तक लगभग २० रेलमंत्री, खाद्यमंत्री, गृहमंत्री, प्रधानमंत्री, संरक्षण मंत्री आदि प्रधान कक्षा के; राज्य कक्षा के मंत्री, उनकी देवविमान जैसी कचहरीयाँ, उनकी सेवा में उच्चस्तरीय सैकड़ों मानव हैं, मुसाफरी खर्च उनकी जेब में जाता है, उनके पीछे देश लाखों करोड़ों का वेतन व्यय करता है लेकिन गाड़ीयों के अकस्मात में हजारों आदमी मारे जा रहे है, बहुबेटीयों की इज्जत लूटी जा रही हैं, खाने पीने की महंगी चीजों से जनता बेहाल

होती जा रही है। सैनिकों और पुलिस के सामने अत्याचार दुराचार और लूट हो रही है, मारामारी और गुनाहित कार्य हो रहे हैं। फिर भी कोई ध्यान नहीं देता है। केन्द्र के मंत्री ही जब मुकाबले पर उतारु हो तो बेचारे सैनिक क्या करें? अनाज पकाने के लिये किसान तैयार नहीं है, लेकिन तुरंत ही दाम मिले ऐसी फसल के लिए सब आतुर हैं। कलेक्टर और मामलतदार भी मंत्रीओं के कारण किंकर्तव्यमूढ होकर देश की बेहाल अवस्था देख रहे हैं।

(१०) मशीनरी के युग में भारतदेश की आध्यात्मिकता को कितना नुकसान पहुँचा है उसका निर्णय तो इतिहासकार ही करेंगे, लेकिन प्रत्यक्ष दिखती हकीकत यह है कि, देश के छोटे मोटे उद्योगपति परस्पर स्पर्धा करते हैं इससे स्पर्धा-प्रतिस्पर्धा का जन्म अवश्य हुआ है, जिसके कारण देश की बड़ी शक्ति और पूंजी उनके पास होने से केन्द्रीय और प्रांतीय प्रधान भी उनकी उंगली पर नाचते हैं। फलस्वरुप इन दोनों की गठबंधी मजबूत होती है, और इसके अभिशाप से श्रीमंतों की तिजोरी को नुकसान न हो ऐसे ही कायदे बनाये जाते हैं, न्यायतंत्र शिथील हो जाता है, रक्षकदल में कर्तव्यरहिता का प्रवेश होता है और इस तरह बड़े उद्योगपतियों की एक जेब में सरकारी तंत्र और दूसरी जेब में प्रधान कैद हो जाते हैं।

(११) किसी भी देश के अधःपतन या उन्नति में डबल ग्रेज्युएट मिनिस्टरों से भी ज्यादा असरकारक न्यायालय, सैनिक या शिक्षण संस्थाएँ होती है।

भारत देश की यह कमनशीबी थी कि, स्वराज्य के बाद तुरंत इन तीनों में शिथीलता आ गई। न्यायाधीश, सरसेना-

पति या प्राध्यापक चाहे कैसे भी उच्च खानदान के या प्रामाणिक क्यों न हो सरकारी तंत्र की अकर्मण्यता के कारण तीनों को केवल 'कागज कार्यवाही के अलावा दूसरा कुछ भी करने का नहीं है। पैदल चलकर गांव गांव बिहार करनेवाले जैन मुनियों का यह खुद का अनुभव है कि, खुनी बदमाश या बलात्कारी को सिपाही पकड़ लेते हैं, उसे न्यायाधीश के सामने पेश भी करते हैं और उसका फैसला हो इससे पहले सफेद टोपीवाले नेता रिश्वत से न्यायाधीश को पिघला देते हैं और वह गुन्हगार निर्दोष साबित हो जाता है और छूट जाता है।

हेडमास्टर या प्रिन्सीपाल को विद्यार्थी मारते हैं, सिपाही को आम जनता मारती है. इत्यादि तत्वों में असली बात का पता लगाने पर हमको मालूम पड़ता है कि, मिनीस्टर ही अपनी स्वार्थवृत्ति से अलग नहीं हो पाते हैं तो भला जनता में न्यायतंत्र की स्थापना कौन करेगा ? कैसे करेगा ? प्रांतीय या केन्द्रिय मंत्री करेंगे ? इसका जवाब भगवान के सुदर्शन चक्र के अलावा दूसरे किसी के पास नहीं हैं।

इत्यादि अगणित कार्यों को देखने के बाद भारत स्वतंत्र है यह कहना सही नहीं है। तभी तो मानव मात्र को तुरंत भूतकाल की स्मृति हो जाती है। क्योंकि मानव का स्वभाव ही ऐसा है कि यदि भूतकाल खराब हो और वर्तमान उससे भी ज्यादा खराब हो तो फिर से खराब भूतकाल ही भव्य लगने लगता है। इसलिए भारत देश का अंदरुनी आवाज कुछ इस प्रकार से है—

(१) ब्रिटिशों के राज में देश की बहु-बेटीयों को, साधु

संतों को, या व्यापारीओं को किसी भी तरह का भय नहीं था, जबकि आज प्रजा त्रस्त है, बहु-बेटीयाँ त्रस्त हैं।

(२) उस वक्त न्यायतंत्र की पवित्रता, शिक्षणालयों की स्वच्छता और संरक्षण स्थानों की कर्तव्य निष्ठा के कारण देश का नागरिक चैन से सो सकता था। विद्यार्थीओं के जीवन में आज है ऐसी स्वच्छंदता नहीं थी और सैनिक प्रजा के रक्षण में बेध्यान नहीं थे।

(३) फिर भी ब्रिटिशों को देश से निकाला जा सका। लेकिन आज गठबंधी के कारण विचित्र प्रकार से पराधीन बने भारत देश को कर्तव्य दिशा में लाने के लिये भिन्न भिन्न प्रांतों में महात्मा गांधी पैदा हो तो भी उन्हें सफलता मिलनी मुश्किल है।

इत्यादि अगणित प्रकारों में देश की जनता की आवाज स्पष्ट सुनाई दे रही है। लेकिन विनोबा भावे जैसी व्यक्ति की आवाज सुननेवाला भी आज कोई नहीं है।

उपरोक्त सब बातों के मौलिक कारणों को यदि देखा जाये तो भारत देश के अगणित मूक प्राणीओं की हत्या से प्राप्त हुये विदेशी हुँडियामण के अभिशाप स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। (इत्यलं विस्तरेण)

असंज्ञी यानि क्या ?

शास्त्रों में कई जगह संज्ञी और असंज्ञी रूप से जीवों के दो प्रकार कहे गये हैं। निगोदवर्ती जीव भी चैतन्य स्वरुप होने से आठ कर्मों के बंधन से बंधे हैं, इसलिए उन्हें भी आहार-भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, धर्म (धर्मत्व प्राप्त करने की इच्छा), सुख, दुःख, जुगुप्सा,

शोक, ओध (सामान्य ज्ञान) और लोक (विशेष ज्ञान) आदि सोलह प्रकार की संज्ञा अवश्य होने से जीव मात्र संज्ञी कहलाता है। फिर भी इस प्रस्तुत विषय में उन संज्ञायों से संज्ञीत बने को संज्ञी माना नहीं जाता, लेकिन नीचे की तीन संज्ञाओं में से प्रथम "हेतुवादोपदेश की" संज्ञा जिनको होती हैं उसे असंज्ञी कहा जाता है। क्योंकि इस संज्ञा में जीव को विशेष बोध नहीं होता है। इसलिए वह असंज्ञी है।

जिसमें दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और संमूर्च्छिम पांचइन्द्रिय जीवों का समावेश होता है, उन जीवों में केवल वर्तमानकाल तक सीमित ज्ञान होता है। जैसे कि चींटी, बिच्छु, मक्खी, मच्छर, जू आदि जीव जिस रास्ते पर जा रहे हैं, वहाँ उत्पन्न होते भय के निवारण के लिये वे अपनी गति बदल लेते हों तो भी वैसा ज्ञान उनको नहीं होता है कि रास्ता बदलने से वर्तमान भय से मुक्ति जरुर मिलेगी, लेकिन गति बदलते ही दूसरों के पैर तले कुचले जायेंगे या मोटर तले कुचलकर मर जायेंगे या दूसरा प्राणी मार डालेगा यह सब बातें असंज्ञी जीव नहीं जान सकते हैं। इसलिए वे असंज्ञी है।

अमुक स्थान पर जाने के बाद अमुक चीजों का स्पर्श होने से पीड़ा हुई थी, या कुचले जाने की स्थिति उत्पन्न हुई थी यह सब भूतकाल की बातें उन्हें याद नहीं होती है। इसलिए विशिष्ट बोधात्मक संज्ञा न होने से वे असंज्ञी हैं।

पूर्व के मनुष्यभवों में बुद्धि मिलने के बावजूद भी उसके दुरुपयोग में मस्तान बनकर कितने ही जीवों की जीभ को दूसरों के नाक को, तीसरों की आँख को, तथा चौथे के कानों

को आघात पहुँचाया हो, इन्द्रियों से उन जीवों को पीड़ित किया हो, यानि कि उन इन्द्रियों का घात किया हो, रसोई या झाड़ू लगाते वक्त जीवों की हत्या का ध्यान न रहा हो या समारंभो में अगणित विकलेन्द्रिय जीवों को मरने की स्थिति पर पहुँचा दिया हो, या मार दिया हो इत्यादि कारणों को लेकर आनेवाले भवों में चालू भव के बुद्धिशाली महाबुद्धशाली मनुष्यों को भी विकलेन्द्रिय जीवों की गतिओं में असंज्ञी अवस्था प्राप्त करके भयंकर में भयंकर असह्य दुःखों को भुगतना ही भाग्य में रहेगा।

एक पेड़ का आश्रय करके हजारों-लाखों त्रस जीव अपना जीवन जी रहे हों तब कोयले आदि का व्यापार करनेवाले और श्रीमंत होने के लालची लोग हजारों पेड़ों को कटवा देते हैं, अंगारकर्म से कोयले का उत्पादन बढ़ा देते हैं और लाखों-करोड़ों की मालमत्ता इकट्ठी करके पापानुबंधी पुण्य के मालिक बनते हैं और मरकर विकलेन्द्रियता प्राप्त करते हैं। घाणी में पीले जाते तल, मूंगफली, रुई के बीज, सरसों आदि तथा चक्की में पीसे जाते गेहुँ, चने, चावल जुआर, बाजरी आदि के साथ बहुत सारे छोटे-मोटे जीव भी पीसे जाते हैं और बेमौत मारे जाते हैं।

वस्त्र उत्पादन करनेवाली मीलों में हजारों-लाखों और करोड़ों मीटर वस्त्र बनते हैं। उनको साफ करने के लिए मैदा, मकाई, चने या चावल का आटा इस्तेमाल होता है और उससे भरी बोरीयों में असंख्यात जीव, कीड़े भी कांजी बनते वक्त बिना मौत मारे जाते हैं।

पृथ्वीमाता छोटे मोटे सब जीवों की माता है, उसके

अन्दर पत्थर, हीरे, आरस, सीसा, लोहा आदि धातु बाहर निकलते वक्त सैकड़ों जीवों की हत्या होती ही है।

तेजाब, एसिड, सोडा, साबु इत्यादि के उत्पादन में और वपराश में और इन पदार्थों के उपयोग के बाद उसे गटर में में फेंकने के बाद जो जीव मरते हैं उनको अभयदान कौन देगा ?

इसी कारण ही दया के सागर तीर्थंकर परमात्माओं ने गृहस्थों को भी १५ कर्मादान के व्यापारों का त्याग करने को कहा है। लेकिन परिग्रह संज्ञा के गुलाम भगवान की वाणी का तिरस्कार करके हिंसा का मार्ग स्वीकारतें हैं और आनेवाले भवों में वहाँ अवतार लेते हैं। इन जीवों को द्रव्यमन नहीं होता है, क्योंकि पूर्वभव में मायावश बनकर कई जीवों की मानसिक प्रवृत्तियों को और परिणामों को बिगाड़ा होने से मनःपर्याप्ति नामकर्म की निकाचना करने की लायकात उनमें नहीं होती है। इसलिए मनःपर्याप्ति के अभाव में द्रव्यमन की प्राप्ति नहीं होती है फिर भी यह जीव जो नये कर्मों का बंधन करते हैं वह भावमन के आभारी है। जीवमात्र को कार्मण शरीर के कारण भावइन्द्रियों और भावमन की विद्यमानता जैनशासन को मान्य है।

—: o :—

'समाप्ति वचनम्'

जैनागमों के रहस्यवेत्ता, कर्मसिद्धांतों के पारगामी तथा स्याद्वादनय और प्रमाणवाद को आत्मसात् करनेवाले, शास्त्र विशारद, जैनाचार्य स्व श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी (काशीवाले) बीसवीं सदी में शुक्र के तारे जैसे तेजस्वी थे; चंद्रमा जैसे शीतल थे, सूर्य की तरह प्रचंड प्रतापी थे मेरु पर्वत की तरह धीर-वीर-गंभीर थे, उपरियालादि तीर्थों के उद्धारक और पालीताणा के श्री यशोविजयजी जैन गुरुकुल के स्थापक तथा महुवा आदि अनेक स्थानों पर गुरुकुल, विद्यालय, धार्मिक पाठशाला आदि के स्थापक थे। उनके शिष्य शासन दीपक, बंगाल, बिहार और सिंध जैसे मांसाहारी देशों में अहिंसा का सफल प्रचार करनेवाले मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज थे, उनके शिष्य न्यायव्याकरण काव्यतीर्थ, पंन्यास पूर्णानंदविजयजी (कुमार श्रमण) ने भगवतीसूत्रसारसंग्रह में पंचभाग का ३९ वाँ शतक स्वपर कल्याणार्थे पूर्ण किया है।

भद्रं भूयात् सर्वेषां जीवानां
जीवाः सर्वेऽसंवित्वं त्यजेयुः

॥ शतक ३४ समाप्त ॥

शतक ४०वां

कृतयुग्म कृतयुग्म संज्ञी पंचेन्द्रियों की वक्तव्यता :

हे प्रभो ! कृतयुग्म कृतयुग्म राशि प्रमाण संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों का उत्पाद कौन सी गति में से होता है ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि. हे गौतम, मनुष्यावतार पाने के लिये चार गतिओं के चौबीसदंको के जीव समर्थ बन सकते हैं फिर चाहे मनुष्यावतार पाने से पहले संख्येय वर्षायु असंख्येय वर्षायु पर्याप्ता हो या अपर्याप्ता हो मनुष्यावतार पाने में उन्हें कोई रोक नहीं सकता है । क्योंकि संसार के संचालन में ईश्वरादि की शक्ति काम नहीं आती है लेकिन अपने अपने किये कर्मों के कारण एक भव छोड़ना पड़ता है और दूसरा स्वीकारना पड़ता है, इसलिए निगोद के जीवों लेकर अनुत्तर विमानवासी महापुण्यात्मा भी यह अवतार पा सकते हैं। सफर करनेवाले का जिस तरह जंक्शन स्टेशन पर आना अनिवार्य है उस तरह प्रत्येक गतिओं में कर्मराजा का पेट भरकर मार खाने के बाद तथा जन्म जरा और मृत्यु की मुसीबतें सहन करने बाद जब वह कर्म सत्ता से कुछ हल्का बनता है तब मोक्षयावत् सातवीं नरक के लिए मनुष्यावतार प्राप्त करना है । इन जीवों का परिणाम अपहार और अवगाहना व्युत्क्रांति पद से जाननी।

स्पर्श, जीभ, नाक, आँख, कान, यह पाँच इन्द्रियों से जो परिपूर्ण हो वह और दीर्घकालि की और दृष्टवादोपदेशिकी नामक दो संज्ञा और मनःपर्याप्ति द्वारा जिन्होंने मानसिक

जीवन प्राप्त किया हो वे संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। माता-पिता के संयोगरहित संमूर्च्छिमजीव असंज्ञी और गर्भ से उत्पन्न हुए संज्ञी जानना।

दीर्घ कालि की संज्ञा :

प्रत्येक कर्म की अनंत वर्गणा में बंधे जीव, मिथ्यात्व मोहनीय और अनंतानुबंधी चार कषायों की माया में चारों ओर से फंसे होने से, उनके पास सम्यगदर्शन ज्ञान और चारित्र का प्रकाश जरा भी न होने से उनके पाप तीव्रतम, क्रोध खतरनाक, मान भयंकर और मायाप्रपंच तीव्र होता है, लोभ और परिग्रह की मात्रा सीमातीत होती है। ईर्ष्या, परपरिवाद और दूसरों को कलंक लगने की वृत्तिवाले होते हैं। इसके अलावा प्राणातिपात, मृषावाद चौर्यकर्म, मैथुनकर्म और परिग्रह की ओर अत्यंत डूबा रहने से अपने अमूल्य जीवनधन को बरबाद करते हैं। यद्यपि इन जीवों को भूत-भविष्य और वर्तमान के सुख-दुख का निर्णय करानेवाली अपना रक्षण करके दूसरों को शीशे में उतारने वाली अंतिम क्षण तक दूसरों को भूखा मारकर अपना शीरापुरी टिकाने-वाली 'दीर्घकालिकी' संज्ञा उनको जरूर प्राप्त होती है। जो एकेन्द्रिय के अनंत जीव और विकलेन्द्रिय के असंख्य जीवों की हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा से हजार बार अच्छी है।

अनंत संसार में भटकते जीव को अपने आत्मा का दर्शन तथा उसका शुद्धिकरण का जब तक ख्याल न आये तब तक कोल्हू के बैल की तरह उस आत्मा की भ्रमण कक्षा किसी काल में मिटती नहीं है।

दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा :

प्रस्तुत प्रकरण में दृष्टि का अर्थ आँख करने का नहीं है, क्योंकि चार और पाँच इन्द्रियवाले जीवों को भी आँख तो होती है। लेकिन शरीररुपी भाड़े के मकान में आत्मा का दर्शन कर सके, करा सके ऐसी ताकत चमड़े की इस आँख में नहीं होती है। क्योंकि अनंत कर्मों की वर्गणा में फंसी आत्मा अतीन्द्रीय होने से चर्मचक्षु के लिए सर्वथा अगोचर ही रही है, लेकिन जिस तरह ठंडे पानी में मैला कपड़ा रखने से उसका मैल आहिस्ता आहिस्ता निकल जाता है, गर्म पानी में जल्दी निकल जाता है और सर्फ वगैरह पावडर से धोने से मैला कपड़ा भी तुरंत उजला हो जाता है, उसी प्रकार यथा-प्रवृतिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृभिकरण के जरीये आत्मा पर लगे अनंतानुबंधी कषायों के चिकने पाप मैल उजले हो जाते हैं और तब आत्मा को सम्यगदर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसे सम्यगदृष्टि सम्पन्न आत्मा का पुरुषार्थ मोक्षोन्मुखी होने से अंतःकोडाकोडी सागरोपम के कर्मों में से भी देश-विरति तथा सर्वविरति कर्मों के बाधक कर्मों को नेस्तनाबुद करती आत्मा बहुत ही आगे गई होने से, सर्वविरती चारित्र के पर्यायों की शुद्धि में भी खूब जागृत, सावधान और अप्रमादी तथा मौनधारी बनकर समय निकालता है। यद्यपि यह जीवात्मा, अनंता मिथ्यात्वी, देशविरतिधर तथा प्रमादी सर्वविरतिधर से भी ज्यादा आगे हो जाने के बावजूद भी नये नये कर्मों का बंधन तथा पुराने कर्मों का वेदन भी करते रहते हैं, इस बात को सुत्रानुसार से देखनी चाहिए।

पंचेन्द्रिय जीव क्या कर्मों के बंधक है ?

हे प्रभो ! कृतयुग्म कृतयुग्म राशि संपन्न पंचेन्द्रिय संज्ञी

जीव वेदनीय कर्म के अलावा दूसरे कर्मों की प्रकृति को बाँधते हैं ? या नहीं बाँधते हैं ?

सामान्य प्रकार से हम इतना ही जानते हैं कि, सब जीव प्रतिसमय कर्मों का बंधन, वेदन अनुभव और निर्जरा करते ही हैं, लेकिन इस प्रश्न में खास विशेषता यह है कि, वेदनी कर्म के बिना दूसरे कर्मों को बांधनेवाला कौन कौन है ? और कौन नहीं हैं ?

जवाब में भगवंत ने फरमाया कि, हे गौतम, जो पुण्य पवित्र महापुरुष अपनी मोक्षाभिलाषीणी पुरुषार्थ शक्ति द्वारा उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगी (केवली) और अयोगी नामक चार गुणस्थानक पर बिराजमान होने के लिए भाग्यशाली बने हैं, वे ही वेदनीयकर्म सिवाय के दूसरे कर्मों के बंधक यानि सात कर्मों के बंधक नहीं होते हैं। क्योंकि धर्मध्यान की पुष्टि इस स्थान में अच्छी होने के कारण सातवाँ अप्रतम गुणस्थानक प्राप्त होता है। वहाँ से आगे बढ़ता साधक मुनि आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में आने पर यदि वह उपशम है, तो उपशम श्रेणी (इस गुणस्थानक का सात भाग होने से प्रथम भाग से ही उपशम श्रेणी का प्रारंभ होता है) और क्षपक हो तो क्षपक श्रेणी का आश्रय लेता है। ऐसे उपशमक पूर्वधारी पवित्रतम और वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच तथा नाराच इन तीन संघयण में से कोई भी एक के स्वामी होते हैं। यह मुनिराज सातवें या आठवें गुणस्थानक की मोहकर्म की २० प्रकृतियों को उपशांत करते हैं, दसवें गुणस्थानक के संज्वलन लोभ को सूक्ष्म करके ग्यारहवें गुणस्थानक के सूक्ष्म लोभ को भी उपशांत करते हैं। सारांश यह है कि, केवल

अंतर्मुहूर्त प्रमाणित इस गुणस्थानक में वह साधुमुनि मोहनीकर्म की सब प्रकृतिओं को शांत कर देते हैं, यानि कि, उस कर्म को बिना दांतवाले नागराज की तरह वश में कर लेते हैं।

फिटकरी से मिश्रित पानी में जिस तरह धूल, कचरा, राख आदि नीचे बैठ जाता है तब पानी स्वच्छ हो जाता हैं लेकिन निमीत्त मिलने पर बर्तन की स्थिरता जब समाप्त होती है तब पानी की स्वच्छता भी समाप्त हो जाती है। उसी प्रकार काले नाग की तरह दबे मोहराज की स्थिरता भी आत्मा की स्थिरता के साथ संबंधित है। क्योंकि किसी भी कारणवश यदि आत्मा में चंचलता प्रवेश करती है तो अपनो सम्पूर्ण शक्ति से मोहराजा और उनके सैनिक आत्मा को गिराने से नहीं चूकते।

इसी कारण से भगवान महावीर स्वामी ने अपने पटधर इन्दभुति को (गौतमस्वामी को) बार बार एक ही उपदेश देते हैं कि, "समयं गोयम। मा पमायए" यानि कि, हे गौतम! समय के लिये भी प्रमाद नहीं करना।

उपशांत मोहकर्मी आत्मा को मोहकर्म दब जाने के कारण दूसरे कर्म भी दब जाते हैं, जैसे कि राजा की हार प्रजा की भी हार होती है, उसी प्रकार सब कर्मों के बंधन में बड़ा कर्म मोहराजा का है। जब वह उपसमित हो गया हो तब दूसरे कर्मों को भी अवकाश कैसे मिलेगा? इसी कारण ही भगवतीसूत्र फरमाता हैं कि मोहकर्म के उपशम में सातावेदनीय कर्म को छोड़कर दूसरा एक भी कर्म नहीं बाँधते हैं।

सामान्यतया ज्ञान और समझदारीपूर्वक अल्पांश से भी अहिंसक, संयमी और तपस्वी आत्मा का जगत के जीवों की ओर मैत्रीभाव हो जाने के कारण सब जीवों के वे मित्र बनते हैं। तो फिर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण में जिस आत्मा ने मोहकर्म को शांत किया हो उनके मैत्रीभाव का क्या पूछना ? इसलिये वे केवल सातावेदनीय कर्म का बंधन करते हैं और उस वक्त ही उनका आयुष्यकर्म यदि विश्वासघात कर बैठे तो सातावेदनीय को भुगतने के लिए वे महापुरुष अनुत्तर विमान में उत्पन्न होते हैं। विशेषता यह कि, उपशम श्रेणी को जिस तरह तीन संघयण मान्य है लेकिन स्वार्थसिद्धि विमान में जाने के लिए प्रथम संघयण वज्रऋषभनाराच ही सर्वथा अनिवार्य है, उसके बिना यह विमान भाग्य से हजार मील दूर है सारांश यह है कि, इस संघयण के मालिक ही उपशमश्रेणी से स्वार्थसिद्ध (अनुतर) विमान प्राप्त करते हैं।

नोंध :—आज के मानवों का संघयण अंतिम होने से, भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष और प्रथम से चौथे देवलोक तक जाने की लायकात उनकी है। सारांश यह है कि, चाहे कैसा भी साधक सर्वथा नग्न रहकर हिमाचल की तलछटी में साधना करता हो या जैसलमेर के रेगिस्तान में बैशाखी महीने की आतापना लेता हो तो भी चौथे देवलोक के उपर जाने के लिये समर्थ नहीं बनता है। किलिकासंघयणवाला पांचवाँ, छठा देवलोक, अर्धनाराचवाले सातवें-आठवें देवलोक तक नाराच संघयणवाला नववें-दसवें देवलोक तक, ऋषभनाराचवाले को ग्यारहवाँ, बारहवाँ देवलोक, जबकि वज्रऋषभनाराचवाले साधक, नवग्रैवेयक, अनुतर विमान तथा अंतिम मोक्ष पाने के लिये भी समर्थ बनता है।

जीवात्मा चरमशरीरी हो फिर भी प्रारंभ में क्षपक श्रेणी की रचना करने जितनी पुरुषार्थशक्ति न होने से उपशम की खंड श्रेणी रचता है, लेकिन आयुष्य केवल सात लव जितना शेष रहे तब वहाँ से यानि ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर सातवें गुणस्थानक में आता है और आत्मा की अभूतपूर्व शक्ति का उद्घाटन करके क्षपकश्रेणी पर आरुढ होता है। उसके बाद सातलव के दौरान ही ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त करे बिना ही बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में आकर घाती-कर्मों का समूचा नाश करके बारहवें और तेरहवें के बीच में केवलज्ञान पाकर अन्तःकृत् केवली यानि तुरंत ही शेष आयुष्य पूर्ण करता है और जन्म जरा तथा मृत्यु का नाश करके मोक्ष में विराजमान होता है। एक मुहुर्त (दो घड़ी में) ७७ की संख्या में लव होता है। इसलिए सात लव यानि मुहूर्त का ग्यारहवां भाग समझना।

मोहकर्म की तीव्रता कितनी ?

आठ प्रकार के कर्मों में मोहकर्म जबरदस्त ताकतवर है और उनका एक-एक सैनिक ताकतवर होने से साधक को आगे बढ़ने नहीं देने में और आगे बढ़े हुए को पीछेहठ करा-कर अधःपतन की खाई में पटक देने में हर पल तैयार रहता है। इस मोहराजा के दो सरसेनापति हैं। (१) दर्शनमोहनीय (२) चारित्रमोहनीय।

प्रथम सेनापति के कारण आत्मा को अपने मूलस्वरुप का ज्ञान नहीं होता और दूसरों के कारण आत्मा अपने शुद्धि-करण में सर्वथा वेध्यान, बेकरार होने से शुद्धि का प्रश्न उपस्थित नहीं होता है।

दर्शन मोहनीय के तीन बडे सैनिक :

(१) मिथ्यात्वमोहनीय (२) सम्यक्तत्वमोहनीय (३) मिश्र-मोहनीय (इन सब की व्याख्या बहुत बार हो गई है)।

चारित्र मोहनीय के २५ बड़े सेनानी हैं।

(४) अनंतानुबंधी क्रोध–मान-माया और लोभ।

(४) अप्रत्याख्यानी क्रोध–मान-माया और लोभ।

(४) प्रत्याख्यानी क्रोध–मान-माया लोभ।

(४) संज्वलन क्रोध-मान-माया और लोभ।

(१७) हास्य मोहनीय (१८) रति मोहनीय (१९) अरति मोहनीय (२०) भय मोहनीय (२१) शोक मोहनीय (२२) जुगुप्सा मोहनीय (२३) पुरुषवेद मोहनीय (२४) स्त्रीवेद मोहनीय (२५) नपुसंकवेद मोहनीय।

उपयु क्त २८ भेदों की चर्चा इससे अगले भागों में ही की गई है।

इनमें सबसे जोरदार, खतरनाक और नरकगति के द्वार दिखानेवाले अनंतानुबंधी चार कषाय हैं।

शराबपान के जोरदार नशे में विनय, विवेक, सद्बुद्धि और सत्कार्यों का जैसे नाश होता है उस तरह अनंतानुबंधी कषायों के कारण 'अनंतान् भवान्—अनुषध्नन्ति इति अनुतानुबंधिनः'।

यानि कि, आत्मा को :—

(१) अनंतभव तक भटकाये रखना।

(२) यमदूतों का बेमर्याद, बेरहम मार खिलायें।

(३) परमाधामीओं के डंडे खिलाये।

(४) संबंधित संख्यात, असंख्यात जीवों के साथ वैर बढ़ायें।

(५) अठारह पापस्थानोंकों का क्रूरतापूर्वक निर्दयतापूर्वक सेवन कराये उसे अनंतानुबंधी कषाय कहा जाता है, जिसकी हाजरी के दौरान आत्मा की एक भी शक्ति का उद्घाटन नहीं होता है।

इस प्रकार इस कषाय के कारण जीवात्मा को अनंत भवों में हार खाने के बाद किसी भव में आत्मा जब अपने पुरुषार्थ का विकास करता है तब अनंतानुबंधी कषाय का जोर कम पड़ता है, उस वक्त आत्मा का सम्यगज्ञान के माध्यम से ख्याल आता है कि, पराये जीवों और पुद्गलों की निरर्थक और निष्फल माया में मैं मेरे आत्मा को किसलिए बिगाड़ रहा हूँ ? ऐसे ख्याल आते ही अनंतानुबंधी कषायों के साथ ही मिथ्यात्वमोहनीय मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय कर्मों का जोर जब जाता है या तो सर्वथा खत्म हो जाता है। उस वक्त आत्मा को सर्वथा अभूतपूर्व सम्यगदर्शन की प्राप्ति होती है तभी—

(१) भयंकर अंधकार में से प्रकाश में आनेवाले को,
(२) मृत्यु के मुंह में से निकलकर अमृतपानेवाले को,
(३) खूब भूख लगे तब घेवर पानेवाले को,
(४) प्यास के बाद ठंडा पानी पानेवाले को,
(५) ठंड से धूजनेवाले को गरम कपड़ा मिले और जो आनन्द होता है उससे ज्यादा आनंद सम्यगदर्शन पानेवाले भाग्यशाली को होता है।

ऐसी शक्ति आने के बाद भी आत्मा फिर से मोहमाया में बेहोश होकर अधःपतन के मार्ग पर न जाये तो उसका ऊर्ध्वगमन होता है और ऐसा होने से उसकी विकास शक्ति भी दुगुना होकर आत्मा का कल्याण हो जाता है।

सम्यगदर्शन की प्राप्ति होने के बाद ही आत्मा के खजाने में रहा सब मिथ्याज्ञान भी सम्यगज्ञान में परिणित होने से आत्मा की विचार शक्ति बढ़ने लगती है और कषायों की उत्पत्ति में सहायक होनेवाले, उसे भड़कानेवाले, अधोगमन को सपोर्ट करनेवाले नपुंसकवेद को उपशमित करने के लिए ही आत्मा का पुरुषार्थ काम लगता है क्योंकि पुरुष का पुरुषवेद या पुरुष शरीर, स्त्री का स्त्रीवेद या स्त्री शरीर चाहे कितना भी सशक्त हो तो भी अनेक भवों के उपर्जित नपुंसकवेद के संस्कार भी पुरुष और स्त्री के जीवन में विद्यमान होते हैं। इसलिए पुरुष को अमुक स्त्री के प्रति और स्त्री को अमुक पुरुष की ओर मन चंचल हुये बिना रहता नहीं है।

और इससे पुरुष का पुरुषवेद और स्त्री का स्त्रीवेद खतरनाक नहीं होता किन्तु उन दोनों में गुप्त रूप से रहे हुये नपुंसकवेद के संस्कार मानव को टेढ़े रास्ते पर ले जाते हैं और आत्मा की स्थिरता को समाप्त करते हैं, इस कारणवश दोनों वेद की शक्ति से नपुंसकवेद की शक्ति बढ़कर है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय मानव को दो प्रकार के मन होते हैं। जो द्रव्य या भाप, बाह्य या अभ्यंतर, सूक्ष्म व बादर (स्थूल) कहलाता है और दोनों के पीछे द्रव्य मनोवर्गणा तथा भाव मनोवर्गणा नाम के पुद्गल और ज्ञानावरणीयकर्म काम करता है। इसलिए द्रव्य, बाह्य व स्थूल मन को वश करने के लिए

बहुत से कारण दिये गये हैं। जबकि भाव, अभ्यंतर और सूक्ष्म मन को वश करने के लिये मुनिधर्म तथा समितिगुप्ति-धर्म द्वारा गुप्त प्रकार से संयमित हुये नपुंसकवेद के संस्कारों को दबाव में लाना सर्वथा अनिवार्य है।

अन्यथा मानव का मन, इन्द्रिय, शरीर और बुद्धि में चंचलता का प्रवेश होने से, और उसकी बढ़ती होने से साधक कहीं का नहीं रहता। अर्थात् 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' के अलावा और कोई मार्ग नहीं है। इस स्थिति में इन वेद के कुसंस्कारों को वश करने के लिए सम्यगज्ञान की योगसाधना के सिवा और कुछ चारा नहीं है।

भवभवांतर के कुसंस्कारों को मर्यादित व क्षय होने के बाद साधक आगे बढ़ता है और जोरदार पुरुषार्थ से 'स्त्रीवेद' को उपशमित करने का प्रयत्न करता है। क्योंकि अनंतभव में इस जीवात्मा ने पुरुषवेद से स्त्रीवेद को ज्यादा भुगता है और वे संस्कार जीवात्मा को स्थिर नहीं रहने देते, इसलिए नपुंसकवेद के बाद स्त्रीवेद को उपशमित करना जरूरी बनता है और जब वह साधक बाजी जीत लेता है तब कुरुक्षेत्र में जीते हुये राजा की तरह साधक की शक्ति चौगुनी हो जाती है। परिणामस्वरुप क्रमशः हास्यमोहनीय, रतिमोहनीय, अरतिमोहनीय, भयमोहनीय, शोकमोहनीय और जुगुप्सा-मोहनीय को वश करने के लिए ज्यादा प्रयत्न करता है।

अनंतानुबंधी कषाय और मोहनीय की तीन इस तरह से सोलह कर्म प्रकृति के क्षयोपशम से सम्यग्दर्शन के बाद अंतः कोडाकोडी सागरोपम के कर्म शेष रहते हैं, उनमें से जब

पल्योपम के पल्योपम जितने कर्मों को उपशमित करने का प्रयत्न करने के बाद साधक आगे बढ़ता है, और पाँचवां गुणस्थानक प्राप्त करता है।

इस गुणस्थानक पर पहुँचने से पहले नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और हास्यषट्क कर्मों को दबाना पड़ता है और उनका उदय-काल रोकना पड़ता है। उसके पश्चात् जीवात्मा को आगे बढ़ने में सुगमता रहती है। गृहस्थाश्रम में रहनेवाले गृहस्थ साधक को भी अपने धर्मध्यान को टिकाने के लिए नापुंसकादिकर्म छोड़ने पड़ते हैं, तो फिर पाँचवें गुणस्थानक से आगे बढ़ने वाले को, या ऐसी भावना रखनेवाले को नपुंसक या स्त्री का सहवास, मश्करी या उनके साथ हँसना, बोलना कैसे संभवित है?

काले नाग जैसे उपर्युक्त कर्म दबाने के बाद साधक पुरुष-वेद के संस्कारों को छोड़ता है। उसके लिये प्रयत्न करता है। और उसके लिए धर्मपत्नी के साथ के मैथुन संबंधों को, गंदी मजाकों को, कंदर्य के कुसंस्कार को, मौखर्य (बकवास, गप-शप, निरर्थक भाषण) को अथवा तो मरने की कगार पर खड़े कामदेव को जागृत करने के लिए हाथ, पैर, मुंह आदि के इशारों का भी त्याग करता है। सारांश यह है कि सम्यक्त्व संपन्न पुरुष अपने पुरुषवेद को तथा पुरुष शरीर को उसी प्रकार स्त्रीवेद का मालिक अपने स्त्रीवेद को या स्त्री शरीर को सम्यकत्व चारित्र की डोर में बाँध लेता है, तभी साधक को आगे बढ़ने के लिए अवसर एक के बाद एक मिलते रहते हैं।

क्रोध, मान, माया और लोभ के चक्कर में डालनेवाले नोकषाय है इसलिए उनको दबा देने के बाद वह साधक सबसे

प्रथम अप्रत्याख्यान क्रोध, प्रत्याख्यान क्रोध और संजवलन क्रोध को मर्यादित करता है। अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान तथा संजवलन मन को लगभग मार दिया जाता है, उसके बाद ही माया नागिन को भी मार देता है और उसके बाद अंत में संज्वलन लोभ को भी दबा दिया जाता है। इतनी क्रियाओं में पसार होने के बाद वह साधक ग्यारहवें गुणस्थान में आने की योग्यता प्राप्त करता है। इस प्रक्रिया में अनंतानुबंधी कषायों के शमन के बाद जीव को सम्यग्दर्शननी प्राप्ति होती है और जब अप्रत्याख्यान कषाय उपशमित होंगा तब उस साधक को निरर्थक पापों के त्याग की और सार्थक पापों को मर्यादित करने की तीव्र भावना होने पर श्रावक के २१ गुण, मार्गानुसारी के ३५ गुण, और अंत में श्रावक धर्म के बारव्रत, सचित का त्याग, और मर्यादित ब्रह्मचर्य की साधना में मन खो जाता है, तथा प्रत्याख्यान कषायों को उपशमित करते जीव को गृहस्थाश्रम की माया की ओर नफरत होने से वह सर्वविरतिधर्म, मुनि धर्म और समितिगुप्तिका धर्म का स्वीकार करता है। जिसमें निरर्थक और सार्थक पापों के द्वार बंद होते हैं, फिर भी संजवलन कषायों का जोर शेष होने से उसको भी आठवें गुणस्थान को उपशमित करते दसवाँ गुणस्थान को सूक्ष्म मात्रा में करने की प्रक्रिया का प्रारंभ करके ग्यारहवाँ गुणस्थानक प्राप्त करता है।

प्रारंभ से ही क्षपक श्रेणी करनेवाले महापुरुष चरम शरीरी तथा लघुकर्मी होने से वर्तमान और अंतिम मनुष्यअवतार ही पूर्ण करने का होने से उनको दूसरी एक भी गति का आयुष्य बांधने का नहीं होता है। सातवें गुणस्थानक में दर्शनमोहनीय

की तीन और अनंतानुबंधी चार कषायों का समूचा नाश हो जाने के कारण शुक्लध्यान तक पहुँचने में उनको एक भी बाधा नहीं होती है। इसलिये किसी से भी चलायमान न हो सके ऐसे पर्यंकासन में नाक के अग्रभाग में स्थापित दृष्टिवाले तथा अनंत संसार की सब कल्पनाओं की झंझट से छुटने की भावनावाले और संपूर्ण संसार का क्षय करने में उत्साह रखते हैं, इसलिए शुक्लध्यान के दोनो पायों के ध्यान से घाती कर्मों का समूचा घात करके केवलज्ञान के मालिक बनते हैं। इस कारण ही केवली भगवंतों को सातावेदनीय के अलावा एक भी कर्म बांधने का नहीं है।

जिनके पुरुषार्थ में किसी कमजोरी के कारण जो उपशमक, क्षपक या केवली न बने हो उनको आराधना में जैसी योग्यता होगी उसके मुताबिक कर्मों का बंधन निश्चित है। यानि कि, आराधना में कमी होगी तो सात कर्म, किसी को छः कर्म और किसी को पांच कर्मों का बंधन रहेगा।

दसवें सूक्ष्म संपराप गुणस्थानक तक के संज्ञीपंचेन्द्रियजीव मोहकर्म के वेदक जानना। क्योंकि सत्ता में पड़े मोहकर्म के परमाणु के वेदन के अलावा दूसरा कोई मार्ग नहीं है। जब उपशमक का मोहकर्म शांत हो गया होने से, और बारहवें गुणस्थानक में रहे क्षपक को मोहकर्म का क्षय हो गया होने से उन्हें मोहकर्म का वेदन नहीं है जबकि उपशमक को मोहकर्म के सिवा सात कर्मों का वेदन जानना। केवलज्ञानी को चार अघाती कर्मों का वेदक जानना। इन्द्रियों के उपयोग से रहित होने से केवलज्ञानी पंचेन्द्रिय नहीं हैं। अर्थात् अतिन्द्रिय हैं।

प्रथम से लेकर सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानक तक के जीवों को मोहकर्म का उदय है, क्योंकि इस कर्म के जबरदस्त तूफानों को रोकने के लिये औपशमिक या क्षायिक भाव के अलावा एक भी मंत्र, जंत्र, तंत्र आदि की आवश्यकता स्वीकार्य नहीं है।

मोहकर्म की स्थिति या रस का उदय चाहे कितना ही तीव्र क्यों न हो पर जीवात्मा यदि इस कर्म का उपशम करना चाहे तो कर सकते हैं। 'सम्यकत्वचारित्रे' यानि कि, सम्यकत्व और चारित्र औपशमिकभाव हैं। दर्शनमोहनीय के उपशम से सम्यकत्व की और चारित्रमोहनीय के उपशम से चारित्र की प्राप्ति होती है। "सर्वोपषमः मोहनीयस्यैवः" शास्त्र वचन है कि, मोहनीय कर्म का ही उपशम होता है, शेष कर्मों का उपशम होता नहीं है।

साधक को साधकता प्राप्त हो गई हो, मानसिक जीवन में पापभीरुता प्रविष्ट हो गई हो, दृष्टि में सम्यगबुद्धि हो हृदय में रागद्वेषरहिता हो और रोम रोम में मोक्षाभिलाषिणी पुरुषार्थ शक्ति हो तो तोफानी मोहराजा को वश में करने से कितनी देर ?

सत्ता में पड़ा मोहकर्म उदय में आये तो आने दो लेकिन उसके उदय को निष्फल बनाने की तीव्र भावना हो तो परस्त्री को देखने की इच्छावाली आंख क्या कर लेगी ? जीवन में मैत्री हो तो ईर्ष्या, द्वेष, परपरिवाद तथा रौष आदि का अवकाश कैसे होगा ? परिग्रहपरिणामव्रत या बाह्य तथा अभ्यंतर परिग्रहरुपी बड़े ग्रहकों अंकुश में किया गया हो तो आहारसंज्ञा और परिग्रह संज्ञा को अकिंचित्कर बनते कितनी देर लगेगी ?

मन, वचन और काया से आठ प्रकार के मैथुन कर्म का त्याग किया हो, दुराचारी, व्यभिचारी कामदेव की चेष्टा करनेवालों का सहवास छोड़ दिया गया हो तो ब्रह्मचर्यपालन की भावना दुष्कर नहीं रहती। इत्यादि प्रसंगों में मोहकर्म का उपशम सुलभ बन सकता है, जबकि, उपशांत मोह गुण-स्थानक में मोहकर्म का उदय रहता नहीं है।

कर्मों का उदय और वेदन ज्यादातर समान होने के बावजूद अनुक्रम और उदीरणा से उदय आये कर्मों का वेदन कहा जाता है और अपने आप उदय में आते कर्मों का अनुभव करना उदय कहा जाता है।

क्षीणमोह गुणस्थानक तक के जीव नामकर्म और गोत्रकर्म के उदीरक हैं, जैसेकि, सिद्धशीला में प्रस्थान करनेवाले जीवात्म को आयुष्य कर्म कम हो और नामगोत्र की स्थिति (मर्यादा) ज्यादा हो तब केवली को भी नामगोत्र की उदीणा करके उन दोनों कर्मों को खपाना पड़ता है।

कृतयुग्म कृतयुग्म राशि प्रमाण के संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव छः लेश्यावाले जानना।

दुर्गति तरफ जानेवाले जीवों को कृष्ण-नील और कापोत लेश्या जाननी और सद्गति को प्राप्त करनेवाले जीवों को तेज पद्म और शुक्ललेश्या जाननी। इन छः लेश्याओं के मालिकों का स्वभाव कैसा हो उसका निर्णय इस प्रकार है।

(१) कृष्णलेश्या :—खाते-पीते, उठते बैठते अत्यंत रौद्र स्वभावी हो। निमित्त या बिना निमित्त भी प्रतिक्षण क्रोध के अवतारी हो। मत्सर, ईर्ष्या अदेखाई आदि स्व-पर घातक वृत्तिमय हो। निर्घृण निर्ध्वंसी, दयारहित और क्रुर हो।

सीमातीत बैर-विरोध, मारपीट आदि तत्वों से भरपूर हो। ऐसे मनुष्य कृष्णलेश्या के मालिक जानना।

(२) नीललेश्या :—पराये काम करने में आलसी और बेदरकार हो, काम, क्रोधादि के कारण बुद्धि में मंदता हो, परस्त्री में निर्लज्ज प्रकार से आसक्त हो. अपने और परायों को ठगनेवाला हो, गंदे कार्यों से हमेशा भयग्रस्त हो, सदैव और सर्वत्र अभिमानी बनता फिरता हो, ऐसे जीव नीललेश्या के स्वामी जानना।

(३) कापोत लेश्या :—शोक-संताप और आधि-उपाधि से ग्रस्त हो, प्रतिक्षण रोष की मात्रा जिसके चेहरे पर झांक रही हो, पराये की निंदा में लीन हो, अपने आपकी प्रसंशा के अलावा दूसरी एक भी बात सुनने को तैयार न हो। ऐसे भाग्यशाली कापोत लेश्यावाले जानना।

(४) तेजोलेश्या :—नई नई विद्या का व्यासंगी हो, करुणा, दया, प्रेम और सद्बुद्धि का वारसदार हो, कार्याकार्य, भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय में विचारनेवाला हो, लाभालाभ में संतोषी हो, ऐसे स्वभाववाले जीव तेजोलेश्यावाले जानना।

(५) पद्मलेश्या :—जिसके स्वभाव में क्षमा प्रधानता रही हो, मिली या प्राप्त की गई चीजों का त्याग करने की भावना हो, देव-गुरु और धर्म का परमोपासक हो, बाह्य और आंतर जीवन में पवित्र हो, प्रसन्नचित हो, ऐसे जीव पद्मलेश्यावाले जानना।

(६) शुक्ललेश्या :—राग, द्वेष, मान, माया, लोभ रहित परमात्मा संपति का रुचीवाला हो, ऐसे स्वभाववाले शुक्ललेश्या के मालिक जानना।

पंचेन्द्रिय संज्ञी जीवों में कोई मिथ्याजीवी, कोई सम्यक्त्वी और कोई मिश्र (सम्यकत्व-मिथ्यात्व) होते हैं। ज्ञानगुण की तरह दर्शन भी आत्मा का गुण है। ज्ञानगुण को जिस तरह ज्ञानवरणीयकर्म आच्छादित करता है, उसी प्रकार सम्यकत्व-सम्यगदर्शन को भी मिथ्यात्व-मोह के अंतर्गत दर्शन मोहनीय कर्म आच्छादित करनेवाला होने से, किसी वक्त कर्मों का आवरण जब खिसकता है तब सम्यक्त्व की प्राप्ति होने से जीव सम्यकत्वी कहलाता है और आवरण जोरदार हो तब जीव मिथ्यात्वी होता है और कोई समय ऐसा भी होता है जब जीवात्मा सम्यकत्व और मिथ्यात्व के बीच में भटकता रहता है। उससे जीव की आन्तरदशा 'गंगागये गंगादास' तथा 'आया राम गयाराम' जैसी होती है। यह विषय प्रथम भागों में चर्चित हो जाने के बावजूद ज्यादा उपयोगी होने से फिर से उसके बारे में सोच लें।

मिथ्यात्व-मिथ्यात्वी :

शराबपान के नशे की तरह मिथ्यात्व होने से मोहमदिरा में मस्तान बने जीवों को मिथ्यात्वी कहा जाता है। अव्यवहार राशिगत निगोद के जीव तथा व्यवहार राशिगत एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय., तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को अव्यक्त मिथ्यात्व, जिसको जैन परिभाषा में अनाभोग मिथ्यात्व कहा जाता है। यह जीव बहुत लम्बे अर्से तक उन स्थान में रहनेवाले अकामनिर्जरा के योग से या फिर सिद्ध शिलागामी जीवात्मा के पुण्ययोग से, अव्यवहार राशि में से निकलकर व्यवहार राशि में प्रविष्ट होते हैं। वहाँ लम्बे समय तक रहकर जब तक दीर्घकालिकी संज्ञा की छाप

प्राप्त न हो तब तक उस जीव को अव्यक्तत्व मिथ्यात्व होता है।

अकाम निर्जरा के प्रबल योग से किसी वक्त अव्यक्तत्व मिथ्यात्व में से बाहर आकर व्यक्त मिथ्यात्व को प्राप्त करते हैं। जो १४ गुणस्थानक में प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानक कहा गया है। यद्यपि यह मिथ्यात्व ही है तो भी अव्यक्त मिथ्यात्व के मालिक सम्यग्बोध न होने के बावजूद भी भद्रिकता, दानरुची के अलावा साधु पुरुषों की ओर कुछ मायालु होने से, प्रथम कक्षा का विद्यार्थी जिस तरह दूसरी कक्षा में आये उस तरह आनेवाले किसी भव में या तो विद्यमान भव में भी भाग्यशालीओं को सम्यकत्व का प्रकाश मिलने का संभव है।

व्यक्तत्व मिथ्यात्व चार प्रकार से है ?

(१) अभिग्रहिक मिथ्यात्व यानि अपने चालू भव की जाति-कुल आदि की परंपरा से चलें आते धर्म को या व्यवहार को ही सत्य मानने की बुद्धि उपरोक्त मिथ्यात्व के कारण है।

(२) अनभिग्रहिक मिथ्यात्व-संसार में चलते सब धर्म, संप्रदाय, व्यवहार, मार्ग, सच्चे हैं यह समझ मिथ्यात्व के कारण है।

(३) अभिनिवेशिक मिथ्यात्व-मेरी मान्यता के मुताबिक की ही बात सच्ची, मेरा धर्म, मेरा संप्रदाय, मेरा संघाड़ा ही सच्चा, दूसरे सब झूठे ऐसी मान्यता इस मिथ्यात्व को आभारी है।

(४) सांशयिक मिथ्यात्व यानि कि अब जो मैं मानता हूँ वह सच होगा ? कि दूसरे की मान्यता सच होगी ? इत्यादि

प्रसंगों में एक भी तत्व का निर्णय न होने में मिथ्यात्व ही कारणभूत है। उपरोक्त चार भेद यद्यपि मिथ्यात्व के हैं तो भी उसे व्यक्त करने का आशय इतना ही है कि, समय के परिपाक या द्रव्य-क्षेत्र-काल के प्रभाव से पंच महाव्रतधारी के सहवास में जब सत्यतत्व समझ में आता है तब मिथ्यात्व को दूर होने में देर नहीं लगती।

इस मिथ्यात्व के दूसरे प्रकार के दस भेद नवतत्व से जान लेना।

सम्यक्त्व और सम्यक्त्वी मिथ्यात्व मोहनीय के उपशम में होनेवाला औपशमिक सम्यक्त्व।

मिथ्यात्व मोहनीय के क्षयोपशम् में होनेवाला क्षायोपशमिक सम्यकत्व मिथ्यात्व मोहनीय के क्षय में होनेवाला सम्यकत्व क्षायिक कहा जाता है।

सम्यक्त्व यानि सत्य जीवन।

" " निरासक्त व्यवहार।

" " जीवन व्यवहार और कर्मों में निर्लेपता।

" " मानवमात्र में कुछ अच्छा देखने की आदत।

" " दूसरे जीवों को देखने की दोष दृष्टि का नाश काल से पुष्ट तुच्छता की अलविदा।

" " असत्कर्मों की मर्यादा।

" " वक्रभाषा में सरलता और सत्यता का प्रवेश।

सम्यक्त्व यानि

" " सभी जीवों को खड्ड में या शीशे उतारने की बददानत के बदले में कल्याण भावना की उदार वृत्ति।

" " शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य की वृद्धि।

" " अरिहंत परमात्मा के शासन प्रति श्रद्धा।

" " अरिहंतों को पूजना, वन्दना करनी, सत्कार करना तथा उनको बहुमानित करना, ढाईद्वीप के तीन क्षेत्र में बिराजमान पंचमहाव्रतधारी मुनिराजों की श्रद्धा से इज्जत करना।

" " जैनत्वपूर्ण, दयापूर्ण, जैनधर्म की श्रद्धा बढ़े और शासन के प्रत्येक कार्य में भावोल्लास जागृत होता है।

मिश्र :—घड़ी में सम्यक्त्वी, दूसरी क्षण में मिथ्यात्वी और तीसरे पल में पद्मावती का भक्त, बाद में शीतलादेवी का पूजारी। इस तरह से धर्म्यजीवन में तथा अधर्म्यजीवन में कहीं भी स्थिर नहीं रहने में अनिर्णीत बुद्धि का चमत्कार है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव ज्ञानी है ? अज्ञानी हैं ?

उत्तर में भगवंत ने फरमाया कि अनंतानुबंधी कषायों का जहाँ सद्भाव होता है, वहाँ मिथ्यात्व भी होता है और जिस जगह मिथ्यात्व है वहाँ पोथीपंडितों का ढेर सा सारा ज्ञान भी अज्ञान होता है। किन्तु दीपक व सूर्य का एक किरण मिलने से अंधेरे के पुद्गल भी तैजस् अर्थात् प्रकाशमय बनते हैं, उस तरह आत्मा में सम्यग्दर्शन की ज्योत प्रकटने पर अज्ञान

को सद्ज्ञान बनने में देर नहीं लगती। अज्ञानावस्था में आँख के डोरे पौद्गलिक पदार्थ पर स्थिर रहते हैं, जबकि सम्यग्-ज्ञानावस्था में वह आँख पौद्गलिक भावों का त्याग करके आत्मा में स्थिर होती है, और ज्ञान में आध्यात्मिक का प्रवेश सुलभ बनता है। अज्ञान दरमियान मानव का बौद्धिकतंत्र शरीर तथा संसार की माया की ओर रहता है, जब सम्यग्-ज्ञान में संसार, शरीर और कुटुम्ब की विद्यमानता चाहे भले हो, पर उनका आत्मिक कुटुंब सर्वथा भिन्न होता है जिसके संसर्ग से आत्मा का विकास प्रतिसमय बढ़ता रहता है और आखिर केवलज्ञान की सीमा तक पहुँचाता है।

इस प्रकार के सम्यग्ज्ञान को पाने के लिए, व प्राप्त ज्ञान को टिकाने के लिए :—(१) सांसारिक माया क्रमशः कम करनी पड़ेगी।

(२) शारीरिक कोमलता के लिए बेध्यान रहना पड़ेगा, जिससे किराये के मकान जैसा यह शरीर आपकी आत्म-कल्याण में सहायक बनेगा।

(३) भोग तथा उपभोग की सामग्री मर्यादित व संयमित करनी है, जिससे भोग और भोगवटे में आपका आत्मा निर्लेप रह पायेगी।

(४) शरीर, इन्द्रिय और मन जड़ है और आत्मा चैतन्य है, यह भेदज्ञान होते व्यवहार की माया कड़वी जहर जैसी लगेगी।

(५) इन्द्रियों के तूफान, मन की उछलकूद धीरे-धीरे कम करना, जिससे आत्मा की जागृतावस्था आपके सम्यक्चारित्र को ज्यादा मजबूत करेगी।

इत्यादिक कारणों से सम्यग्ज्ञान मिलेगा और आत्मा का कुटुंब नीचे की तरह रहेगा।

आत्मा का कुटुंब परिवार कौन सा ?

जीव को द्रव्य कुटुंब और भाव कुटुंब रुप में दो प्रकार के कुटुंब होते हैं, उसमें द्रव्य परिवार पशु को तथा मानव को भी होता है। पशुओं को जब तक स्तनपान का समय होता है तब तक ही माता की ओर प्रेम होता है और वह काल की समाप्ति के बाद कुटुंब व्यवस्था पशु-पंखीओं में समाप्त होती है तभी तो आज का बछड़ा बड़ा होकर सांड बनकर अपनी माता के साथ ही व्यभिचार कर सकता है। लेकिन मानव के लिये सर्वश्रेष्ठ मानवता (मानव धर्म) की लक्ष्मण रेखा बीच में आती है. इसलिए पशु और मानव में आकाश और पाताल का अंतर है। इसलिए मानव को माता की ओर मातृत्व धर्म, पिता की ओर पितृत्व धर्म, धर्मपत्नी की ओर पतित्व धर्म, स्वपुरुष की ओर पत्नीत्वधर्म आदि धर्म व्यवहार उत्पन्न हुये हैं, यद्यपि यह व्यवहार अनित्य, अशाश्वत और विद्यमानभव तक ही सीमित हैं, इसलिए इस भव का पिता-माता-पत्नी-पुत्र या पति आनेवाले भव का पिता नहीं, माता नहीं, पत्नी नहीं, पुत्र नहीं या पति नहीं है।

यह हकीकत होने के बावजूद भी मानव जीवन में जहाँ तक मिथ्यात्व का जोर ज्यादा होता है वहाँ तक जिन्दगी के अंतिम समय तक भी उसको अपने परिवार की माया रहती है। लेकिन सम्यक्त्व की श्रेणी प्राप्त होने के बाद वह माया कम हो जाती है फिर भी जीवात्म को परिवार के साथ संबंध होता है, वह परिवार कैसा होता है ? उसकी रूपरेखा निम्न-लिखित है।

सम्यगदृष्टि आत्मा का परिवार :

(१) उदासीनता–आत्मा को सुरक्षित रहने का घर है, जिसके प्रताप से बाह्य घर संसार में रहने के बावजूद भी उस आत्मा में निर्लेपता का आवास होता है, इसलिए कहा गया है कि,

'सभक्ति दृष्टि जीवडो, करे कुटुंब प्रतिपाल,
हैयाथी अलगो रहे, ज्यूँ धाव खेलावत बाल।'

हॉस्पीटल की नर्स तत्कालीन जन्मे बच्चे को खिलाती है, स्नान कराती है और अवसर आने पर स्तनपान भी कराती है, तो भी वह समझती है कि बच्चा उसका नहीं है। उसी प्रकार सम्यकत्व की प्राप्ति होने के बाद जीवात्मा को संसार में रहने के बावजूद भी माया नहीं होती।

(२) विरति—आत्मा की माता है, जिसके कारण सीमातीत भोगों का और भोग विलासों का स्वामी होने के बावजूद भी साधक आंतर जीवन में त्याग धर्म की ओर भावना रखने लगता है।

(३) योगाभ्यास—आत्मा का पिता है, जिससे भोग्य तथा उपभोग पदार्थों में संयमपूर्वक योगी जीवन का अभ्यास करने का भाव होता है।

(४) समता—रुपी धाव माता की गोद में खेलता आत्मा पराये के दोष पाप, अपराध देखकर या सुनकर भी अपने आंतरजीवन में क्रोध, रोष, ईर्ष्या या निंदा आदि विकृति का प्रवेश होने नहीं देता है।

(५) विरागता—आत्मा की बहन का रूप धारण करती है, तब उसके सहवास में भी मनचाहे पदार्थ की और भी विरागता यानि रागरहित जीवन दशा की प्राप्ति होती है।

(६) विनय :—आत्मा का बंधु बनता है, तब असद् मार्गों का त्याग तथा सदाचार, सत्य, प्रामाणिकता और सब जीवों के साथ मैत्री भाव का बढ़ावा होता है।

(७) विवेक :—आत्मा का पुत्र बनता है. व्यवहार में भी सुपात्र पुत्र वृद्ध बने पिता के लिए आंख का तारा बनता है, उस तरह विवेक गुण भी जीवात्मा के लिए अंतरचक्षु (दिव्यचक्षु) है, जिससे अनादिकाल की कुटेव, पाप भावना, गंदी चेष्टा आदि का अंत होता है और दिव्यज्ञान की ओर आत्मा का प्रस्थान सुलभ बनता है।

(८) सम्यक्त्व :—जीवात्मा के लिए अक्षय भंडार जैसा है। जिसके प्रताप से आत्मा की शक्ति का विकास होता है, तब कषाय नाम का लुटेरा, कामदेव नाम का गुंडा, तथा राग-द्वेष आदि की शक्ति समय समय पर घसती चली जाती है।

(९) तप—अश्वरुप बनता है, जिस पर सवारी करनेवाला आत्मा इन्द्रियों और मन के महावेग को कमजोर करने में समर्थ बनता है।

(१०) पवित्र-भावना—आध्यात्मिक जीवन के लिए कवच के रुप में सहायक बनता है, जिससे मानवी की गंदी भावनाएँ विदाय ले लेती हैं।

(११) संतोष :—जब सेनापति के पद पर बिराजमान होता है, तब आत्मारुपी महाराजा निश्चित अवस्था भुगतने के लिए योग्य बनता है।

(१२) सम्यग्ज्ञान—आत्मा के लिए अमृत भोजन समान है, यह भोजन एक बार किया जाये तो भी अनादिकाल तक

वैकारिक तामसिक, राजसिक आदि भावों का नाश हो जाता है।

(१३) सुमति—आत्मा की चहेती रानी के स्थान को जब शोभा बढ़ाती है तब ही आत्मा को अनुपम, अद्वितीय अनुभवज्ञान सुलभ बनता है, जो इस प्रकार है :—

काया शीशे की चूड़ियाँ जैसी है,
भोगविलास नाग की फन जैसे कातिल हैं,
श्रीमंताई बिजली की चमक जैसी क्षणिक है,

सत्ता हाथी के कान जैसी चंचल है और आयुष्य या जीवन भी पानी के फोरे जैसा क्षण भंगुर है।

इस प्रकार के अनुभवज्ञान के प्रताप से ही मानव शरीर रुपी रथ, इन्द्रियरुपी घोड़े और मन रुपी सारथी पर आत्मा नाम के सेठ की प्रभुता चिरस्थाथी बनती है। परिणाम स्वरुप आत्मा का सम्यक्चारित्र की ओर प्रस्थान बढ़ता है।

उपरोक्त अनुसार सम्यक्त्ववासी आत्मा का परिवार होता है। जिससे ९ पाप के दरवाजे बंद होते हैं और पुराने पाप एक के बाद एक कसे जाते हैं।

मिथ्यात्वी आत्मा का परिवार :

सम्यगदर्शन से विपरीत मिथ्यात्व-मिथ्यादर्शन है और ज्ञान के विपरीत अज्ञान है। उसका मालिक मिथ्यात्वी-मिथ्यादर्शनी और अज्ञानी होता है, जिसकी चर्चा प्रथम भाग में अमग अलग जगह पर की गई है। आत्मा जब मिथ्यात्व मे हनीय अवस्था में भूलता है तब आत्मा की अनंत शक्तिओं को बिगाड़नेवाले अनंतानुबंधी कषायों का जोर बढ़ता है और शराबी की तरह आत्मा भी मोहमाया के झूले में झुलने

लगता है, माया के मजबूत बंधन में बंध जाता है। उस वक्त उस आत्मा का परिवार कैसा होता है ? यह जानने की सर्व को जरुरत होने से उसकी चर्चा इस प्रकार से है—

(१) आसक्ति :—आत्मा का घर है यानि कि, आत्मा के एक एक प्रदेश पर संसार और संसार के प्रत्येक पदार्थ की माया के रंग पूर्ण रूप से लगे होने से पर पदार्थ, परभाव और परधर्म (हिंसा-झूठ-चोरी, मैथुन और परिग्रह यह पांच पाप परधर्म हैं) की ओर आत्मा को अत्यंत आसक्ति होती है।

(२) अविरति :—माता तुल्य होने से संसार के भोग्य तथा उपभोग्य पदार्थों को भुगतने में ही जीवनधन बरबाद होता है।

(३) भोगाभ्यास :—आत्मा का पिता होने से पाँच इन्द्रियों के २३ विषयों को भुगतने में ही यह भाईसाब जिंदगी की अमुल्य रातें, दिन, महीने और बरस समाप्त करते हैं। इसके परिणाम स्वरूप संसार के पंचे छक्के खेलने को आते हैं लेकिन लोगस्स सूत्र की गाथा नहीं आती है।

क्लग चा चौरे पर बैठकर राजकथा, देशकथा, भोजनकथा रंगीली मानुनीओं की कथा आदि करने को आता है लेकिन सामायिक करने का ख्याल नहीं आता है।

एक की पगड़ी दूसरे को पहनाने को आती है लेकिन सब के अपराध माफ करके मैत्री भावना की साधना करने का जी नहीं होता है।

धर्म संप्रदाय या गुरुसंस्था के नाम पर खुद लड़े झगड़े लेकिन खुद धार्मिक नहीं हो सके।

परायी चिंता, परायी भांगजड़ तथा कोट कचहरी में देवदुर्लभ मनुष्य अवतार समाप्त किया, लेकिन जैनत्व की साधना नहीं कर सके।

(४) विषमता :—आत्मा की धावमाता के रूप में होने से जीवात्म की प्रतिक्षण प्रतिक्रिया, खानपान, रहन-सहन व्यापार रोजगार आदि में विषमता नाम की राक्षसी की प्रत्यक्ष हाजरी होती हैं।

[५] सरागता—आत्मा की बहन होगी, तभी तो मन और इन्द्रियों के गुलाम बने आत्मा को मनचाहे भोजन, वस्त्र, इत्र, ठंडे पेय, मुलायम वस्त्र, नृत्यांगना और अभिनेत्रीओं के गायन आदि क्रियाओं में ही राग प्रवर्तमान होता है।

परमात्मा के चैतन्य वंदन, भजन उसके कान को कठोर लगते हैं, धर्मपत्नी या माँ के बनाये भोजन कड़वे लगते हैं, लेकिन रात को रास्ते के पाव भाजी, दही बड़े, आदि तथा अमुक होटल के सभार आदि अच्छे लगते हैं। यह रागवृती तुफानी बनी रहती है।

[६] अविनय :—आत्मा का भाई बनता है इसलिए ही आत्मा के बैरी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अत्यंत दुःख-दायी दुषणों का शमन नहीं होता है।

[७] अविवेक—पुत्र रुप में होता है, तब कुपात्र पुत्र जिस तरह पिता और समग्र परिवार का बैरी होता है, उस प्रकार अविवेक के कारण अच्छी खानदानी का होने के बावजूद, विद्वान और पंडित होने के बावजूद, संस्कृत और प्राकृत पढ़ाता होने के बावजूद, भक्तामर, कल्याण मंदिर से वीतराग की स्तुति करनेवाला होने के बावजद, कर्मग्रंथ की

प्रकृतिओं को दूसरों के सामने अच्छी बताने के बावजूद भी अपने आंतर जीवन में भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय, वाच्यावाच्य में कहीं भी विचार करने की क्षमता उनके पास नहीं होती है।

[८] दुर्मति [दुर्बुद्धि] जब आत्मा की पटरानी बनती है, तब आत्मा की आंतर स्थिति सन्निपात के रोगी जैसी हो जाती है।

उपरोक्त अनुसार मोहराजा के सामंतों के बीच में नाचता, कूदता, गाता यह जीवात्मा हजारों-लाखों, करोड़ों मानवों का तथा दूसरी सृष्टि भी द्रोही बनता है, मारक बनता है, घातक बनता है। अपने स्वार्थ के खातिर कई जीवों को मौत के घाट उतारता है, भूखों को मारता है तथा मिथ्या अहंकार और मिथ्या प्रतिष्टा की बाढ़ में हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीगमन, प्रपंच और उनसे उद्भवित क्रोध, मान, माया, परपरिवाद, मायामृषावाद जैसे आसुरी परंपरागत दुर्गुणों के वश होकर "अधो गच्छन्ति तामसाः····के न्याय से दुर्गति की ओर प्रस्थान करता है।

इन जीवों को कितने प्रकार के योग कहे गये हैं :

जवाब में भगवंत ने फरमाया कि सामान्यतः योग के तीन भेद हैं :

[१] मनोयोग [२] वचनयोग [३] काययोग।

सिद्धात्माओं को छोड़कर, इन तीन योग में से सिर्फ काययोग के मालिक ८४ लाख जीवयोनि के सारे जीव होते हैं। उनमें भी कार्मण और तैजस शरीर योग सब को अनिवार्य है। यह दोनों शरीर सूक्ष्म होने से जीवात्मा चाहे

विग्रह गति में हो कि अविग्रह गति में हो, अनुत्तर विमान-वासी हो या ब्रह्म लोकवासी हो, सूर्य-चंद्र हो या सब को लाभ दिलानेवाला हो केवली भगवंत या फिर चौदह पूर्वधारी हो, चक्रवर्ती या वासुदेव हो, सब को दो शरीर अवश्य रहेंगे। जबकि आहारक शरीर के मालिक चौदह पूर्वधारी के अलावा और कोई नहीं, देव और नारक वैक्रिय शरीरवाले और एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय चाहे संज्ञी हो, असंज्ञी हो, पर्याप्ता हो या अपर्याप्ता हो सब को औदारिक शरीर होते हैं।

८४ लाख जीवयोनि में से—

७ लाख पृथ्वीकायिक ७ लाख वायुकायिक
७ लाख अप्कायिक १० लाख वनस्पतिकायिक
७ लाख अग्निकायिक १४ लाख सामान्य"

कुल ५२ लाख

उपर्युक्त ५२ लाख जीवयोनि के अनंतानंत जीवों को वचनयोग (जीह्वा) तथा मनोयोग (मनन शक्ति) यह दो योग नहीं होते। इसलिए उन्हें सिर्फ एक काययोग है शेष सारे ८४-५२=३२ लाख जीवयोनि के जीव यथाशक्य तीन योग के मालिक हैं, फिर भी गर्भ से उत्पन्न होनेवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य के सिवा अन्य जीवों को जीभ की प्राप्ति होने पर भी सिर्फ आहार व पानी के उपभोग के सिवा और कोई उपभोग उनके भाग्य में नहीं है। यानि कि अपने मन की प्यास की वेदना भुगतने से होनेवाली मुश्किली का एहसास जीभ को हो नहीं पाता। चार लाख योनि के असंख्य जीव पुण्यशाली

होने के कारण सम्यग्ज्ञान दृष्टि सम्पन्न देव के अलावा अन्य देवों की जीभ अपने अर्थ और कामवटे के उपभोग के सिवा औरकिसी भी काम में नहीं आती है। जबकि चार लाख नरकगति के नारक पापकर्मों से दबे हुये होने के कारण परस्परोदीरितः'–इस सूत्र के अनुसार एक दूसरे की मारपीट में और पूर्वभव के बैर आदि की स्मृतिपूर्वक बदला लेने के लिए जीभ का उपयोग करते हैं। मनुष्य सद्बुद्धि और सद्विवेक मिश्रित मनन शक्तिपूर्वक मनोयोग वाले यदि हो तो उनकी जीभ, मन, इन्द्रिय और शरीर भी दूसरों के उपकार के लिए, दीन-दुःखी को दाल-रोटी दिलाने के लिए, अनाथों का रक्षण करने के लिए और अहिंसा धर्म का प्रचार करने के वास्ते उनकी जीभ होती है। अन्यथा मिथ्यात्व के जोरदार हमले के कारण पापव्यापार तथा पापपाशित मन जैसे का तैसा होता है और उनकी जीभ--

कुल्हाड़ी जैसी तेज धारवाली।

कड़वी तुंबडी के बीज जैसी भयंकर कड़वी।

विषवेल के फल जैसी ऊपर से मीठी और अंदर से विषयुक्त स्वार्थ के लिए या उसके बिना भी दूसरों के घर तोड़ने वाली।

दूसरों के पुत्र, बहन या बेटियों को भूखा रखनेवाली।

दूसरों की मिल्कत को अपने कब्जे में लेनेवाली।

विषयवासना में मस्त बनकर पराये लोगों की बहन बेटीयों को ललचाती है, फलस्वरुप ऐसे प्रकार के गर्भज मनुष्यों को भी फिर से नरकगति में या तिर्यंच गति में जाने के अलावा दूसरा रास्ता नहीं रहता है।

कृतयुग्म कृतयुग्म राशीप्रमाणवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को साकार तथा निराकार रुप से दोंनों उपयोग होते हैं।

ज्ञातव्य वस्तु की जाति, गुण, नाम पर्यायादि का विशेष प्रकार से ज्ञान हो उसे साकारोपयोग कहते हैं और जिस ज्ञान में जाति आदि का ख्याल न हो उसे निराकारोपयोग कहते हैं। सामने दिखता पदार्थ मनुष्य है लेकिन जानवर नहीं है क्योंकि जानवर की शरीराकृति और मनुष्य की शरीराकृति में फरक होने से जानवर जाति का निषेध करके सामनेवाला मनुष्य ही है ऐसा विशेषज्ञान साकारज्ञान है। इसी प्रकार जीभ पर पड़ा रस लींबु का है, नारंगी का नहीं है, पहना हुआ वस्त्र रेशमी है, सूती नहीं है अतर गुलाब का है हीना का नहीं है, सुने शब्द अपनी स्त्री के हैं, दूसरी के नहीं हैं, इत्यादि ज्ञान में विशेषता होने से 'आकारेण जातिप्रभृति विशेषेण सहितं ज्ञानं साकारज्ञानम् उसे .साकारोपयोग कहते हैं।

मतिज्ञान का विकास जिस प्रकार से हुआ हो उस प्रकार से मानव को स्पष्ट या अस्पष्ट ज्ञान, ज्यादा या कम, तत्काल या वि ंब से होता है। उसमें स्पष्ट ज्ञान साकारोपयोग और स्पष्ट ज्ञान निकारोपयोग होता है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को पांचवर्ण, पांच रस, दो गंध, और आठ स्पर्श होता है। उसमें शुभनामकर्म का उदय हो तो शरीर का वर्ण अच्छा होता है; उस प्रकार रस, गंध और स्पर्श भी अच्छा होता है। अशुभ नामकर्म के कारण शरीर का वर्ण किसी को भी न भाये ऐसा काला, पसीना कड़वे रस का बदबूवाला, शरीर का स्पर्श कठोर और खुदहरा और उष्ण होता है। जैसे कि एक आदमी का पसीना सुगंधमय हो तो

दूसरे का मृत जानवर की तरह दुर्गंधमय होता है। एक के हाथ पैर मक्खन की तरह मुलायम तो दूसरे के कठोर होते हैं।

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव विरत, अविरत और विरताविरत होतें हैं?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम अमुक जीव विरत अमुक अविरत और अमुक विरताविरत होते हैं।

'रम्' धातु के भूतकृदंत का 'क्त' प्रत्यय लगने से 'रत' शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'खेला' ऐसा होता है और 'वि' उपसर्गपूर्वक 'विरत' शब्द का अर्थ 'विराम' किया ऐसा होता है। जीवात्मा अनादिकाल से अनंत जीवों के साथ और अनंत पुद्गलों के साथ का माया से बंधा होने से पाप भावना, पाप चेष्टा, और पाप कर्मों में ही मस्त बना रहता है। उसके बावजूद सद्गुरुओ के सहवास के बाद ज्यों ज्यों उसकी शक्तियों का विकास होता जाता है, त्यों त्यों वह पापद्वारों को मन, तन, वचन, काया से बंध कर देता है, करने नहीं देता, कराने नहीं देता है। तब वह जीवात्मा 'विरत' कहलाता है और एक भी पाप को नहीं छोड़नेवाले को 'अविरत' कहते हैं।

ऐसे मानव के लिये पाप के सब भोग, मन, वनच, काया से सर्वथा और सर्वदा खुल्ला होने से कभी भी कहीं भी पापों का सेवन सुलभ बना रहता है। सद्गुरुओं के पास से सद्ज्ञान मिला होने के बावजूद भी मन, वचन, काया की शक्ति न होने से या तो पारिवारिक परिस्थिति अनुकूल न होने से अमुक पापों को छोड़ता है और अमुक को छोड़ नहीं सकता है इसलिए वह 'विरताविरत' है, विरत आत्मा के लिए

छठा गुणस्थानक, अविरत को प्रथम और विरताविरत को चौथा गुणस्थानक समझना।

इन जीवों को मन, वचन और काया प्राप्त होने से और उसमें वीर्यांतराय कर्म का क्षयोपशम मिश्रित होने से प्रति-समय ऐसे जीव क्रियावाले ही होते है, तथा जहाँ जहाँ क्रिया है वहाँ कर्मों की विद्यमानता भी हीगी ही। वीर्यांतराय कर्म का क्षयोपशम केवल मानव के मन-वचन और काया में स्फूर्ती, परिस्पंदन का दान करके समाप्त होता है, लेकिन मोहकर्म का उदयवर्ती यह जीव पाप बुद्धि का वारीस होने से तीनों का उपयोग पापमार्ग में ही करेगा, जो मनदंड़, वचन-दंड और कायादंड के नाम से जाना जाता है। जबकि सद्बुद्धि का वारीस तीनों का उपयोग पवित्र मार्ग में ही करेगा।

अपनी अपनी योग्यता के अनुसार क्रियावंत जीव किसी समय समय ८-७-६ और अंत में एक प्रकार से कर्म का बंधन करता है।

केवल सातावेदनीय कर्म का बंधन करनेवाले केवली भगवंत है।

यह जीव आहारादि संज्ञा के उपयोग वाले है :

जवाब में भगवंत ने कहा कि, जीव, आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा के उपयोगवाले यानि उसमें आसक्त और अनासक्त भी है। जब आहारादि संज्ञा में जीव डूबा रहता है तब उसके जीवन में क्रोध-मान-माया-लोभ कषाय की विद्यमानता अवश्यभाविनी है और ११-१२-१३ गुणस्थानक में विराजमान पुण्यशाली आहार संज्ञा में अनासक्त होने से कषाय रहित भी है।

जो कषायवंत जीव हैं उन्हें 'नोकषाय' की माया जरुर से होती है। क्योंकि, कषाय को भड़कानेवाला नोकषाय है। उसमें भी पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसंकवेद की माया बहुत ही बलवान होने से, उसके कारण दूसरे नोकषाय भी भड़कते हैं, और ऐसा होने से चार कषायों की चांडाल चौकड़ी में उस जीवात्मा को फंसना ही पड़ता है।

वेद का मैथुनाभिलाष अर्थ समझना, कोई भी उम्र में जब जीवात्मा को मैथुन का सेवन करने की इच्छा होती है तब पुरुष को पुरुषवेद, स्त्री को स्त्रीवेद और नपुसंक को नपुसंक वेद का उदय जानना, या तो मैथुन इच्छा को पूर्ण करने में उन साधनों द्वारा उदीर्णा अर्थात् उसे बलवान् बनाकर जान-बूझकर निमित बनाकर उदय में आया वेदकर्म जले बिना नहीं रह सकता है।

वृद्धावस्था में शरीर के गात्र और इन्द्रियाँ शिथिल और ठंडी पड़ जाती है लेकिन वेदकर्म के वेग को रोकना कठिन है, क्योंकि भुगते हुये भोगों की स्मृति होते ही मानव का मन कोई भी स्थिति में चलायमान हो ही जाता है। सारांश यह है कि, मृत्यु शैया पर पड़े आदमी को भी उसने गुजारी मधुरजनी की स्मृति की याद दिलाकर उसका भव बिगाड़ने की ताकत वेदकर्म की है। इसलिए—

"भुक्तनारी स्मरण मात्रेऽपि पुरुषं वेदयति मूढीकरोतीति पुरुषवेदः।

भुक्तनर स्मरणमात्रेऽपि स्त्रियं वेदयति मोहनीति स्त्रीवेदः।
भुक्तपुरुषस्त्रीस्मरणमात्रेपि नपुसंक वेदयतीति नपुसंकवेदः।"

पूर्वभव में किये गये पाप-पुण्य के फलस्वरूप इस भव में तीन वेदों का अनुभव करनेवाले और फिर से वैसे अध्यवसायों में खेलनेवाले जीवात्मा अपने अपने अध्यवसायों की योग्यता के अनुसार तीन वेदों का उपार्जन करके आनेवाले भवों में उन वेदों को भुगतने वाले बनेंगे।

किस किस प्रकार के अध्यवसाय और उनसे कौन सा वेद उपार्जित होता है यह जानना रसप्रद है।

पुरूष वेद कर्म बांधने का कर्म :

मन्द क्रोधकषायादिना स्वदाररतिप्रियताऽवक्रताऽनीर्ष्यालुत्वसत्यवादित्वादि भवनरुपत्पं पुरुषवेदस्य लक्षणम। (आर्हतदर्शन दीपिका ३६०)।

अदम्य पुरुषार्थ से कषाय जब मंद ताकतवाले बन पाते हैं, तब मानव का जीवन सरल, स्वच्छ, परोपकारी और सहिष्णु बनने पर पुण्यकर्मों का संचय होने में देर नहीं लगती।

तीन वेद में पुरुषवेद को पुण्य प्रकृति में मानने का कारण एक ही है कि स्त्री और नपुंसकों को अपना वेद शांत करने के लिए पुरुष का आश्रय लिए बिना और कोई मार्ग नहीं है। इसलिए पुरुष हरहालात में भोक्ता है तथा अपना और स्त्री का वेद शांत करने के लिए स्वतंत्र है।

पूर्वभव के पुण्यकर्मों के कारण इस भव में पाये हुये पुरुषवेद को मोहांध या कामांध बनकर यदि बिगाड़ा न जाय तो आनेवाले भव में भी वह फिर से पुरुषवेद को प्राप्त करने का हकदार बनेगा, फिर चाहे वह पुरुषावतार में जन्म ले, देवावतार में या फिर पशु-पक्षी के अवतार में जन्म ले पाये।

पुरुष, स्त्री व नपुंसक यदि अपना चालू जीवन पवित्र बनाये रखे, तो इस भव की स्त्री आनेवाले भव में पुरुषावतार को पायेगी, तथा नपुंसक भी दूसरे भव में पुरुष बन सकेगा। इस कारणवश अनुभवी महापुरुष कहते हैं कि—मेट्रीक, ग्रेज्युएट, राजनैतिक, श्रीमंत आखिर संत-महासंत बनना सरल हो, किन्तु अपने आंतर्गत जीवन को शुद्ध रखने की कला हस्तगत करनी सरल नहीं है क्योंकि कई बार शारीरिक प्रकृतियों के बजाय मानसिक प्रकृतियाँ जब मलिन बन जाय तब जीवात्मा के अध्यवसाय, मानसिक विचारधारा और आखिरकार भाव (सूक्ष्म) मन भी अशुद्ध, अशुद्धतर, या अशुभतम बन जाता है और उससे बँधे जानेवाले कर्म भी अनिष्ट, कठिन, चीकने बनेंगे, जो कई भवों में वेदना भोगवटे में परवशता प्राप्त करानेवाले बनेंगे।

उपर्युक्त सूत्रानुसार से :—

(१) क्रोध-मान-माया और लोभ में मंदता आने पर मानव की आहार, भय, मैथुन और परिग्रहसंज्ञा मर्यादित और संयमित बनेगी। जिसके कारण भोग (एक बार का भोग्य पदार्थ) और उपभोग (एक ही पदार्थ बार-बार भोग्य हो) के भोगवटे में भी निर्लेप, पापभावना रहित, उदासीन और ममतारहित बनेगा; फलस्वरुप विकसित विचारसरणी के कारण परस्त्री, विधवा, वेश्या और कुमारिका के त्याग को ही धर्म तथा धर्म्य कार्य समझकर अपनी धर्मपत्नी की ओर राग रहेगा। मनुष्य जीवन में सबसे बड़ा पाप मैथुन संज्ञा से भड़का हुआ मैथुनकर्म है, वह जब संयमित और मर्यादित बनेगा तब तप, त्याग, स्वाध्याय और उन्नत विचारों से मर्यादित बन पायेगा और परस्त्री की ओर का राग धीरे-धीरे

कम होता चलेगा और स्वस्त्री का राग, उसमें भी धर्म्य, व्ययहार, सभ्य चेष्टा और गर्भ में रहे हुये व २-३ साल के बाद गर्भ में आनेवाले संतान के प्रति भावदया उत्पन्न होगी और इसके कारण मानव के बहुत सारे पापकर्म रुक जायेंगे तथा पुण्यकर्मों की वृद्धि होगी।

(२) मन-वचन और काया के योग में से वक्रता जायेगी और अवक्रता का प्रवेश होगा। जैन शासन ने इन तीनों को योग कहा है। क्योंकि "कर्मणा सह योजयतीत योगः" नये कर्मों के साथ आत्मा को जोड़ दें वह योग है, इसलिये इन में अनादिकाल से रही और बढ़ी वक्रता के कारण आत्मा का प्रस्थान दुर्गति की ओर का रहा है। लेकिन कषायों की मंदता जब बढ़ती है तब योग में अवक्रता (सरलता) आते ही आत्मा का प्रस्थान सद्गति की ओर आगे बढ़ता है।

(३) 'गुणौधनाशिनी ईर्ष्या' इस न्याय से अधार्मिक जीवन में ईर्ष्या उत्पन्न होती है। बढ़ती है और मानव का जीवन वैरझेरमय बन जाता है, लेकिन कषायों की मंदता के कारण काली नागिन से भी बदतर ईर्ष्या आहिस्ता आहिस्ता घट जाती है और मानव शत्रुओं के बीच में भी शांति और समाधि प्राप्त करता है।

[४] सत्यवादिता यानी सत्यभाषी, सत्य व्यवहारी आत्मा में सम्यक्त्व के स्पर्श का किसी ने निषेध नहीं किया है। अंत में परमात्मक स्वरुप को जानने के लिए मौलिक कारण ही सत्य है। ऐसा सत्वादी आत्मा पापमार्ग पर कैसे जायेगा।

कषायों के तीव्रता के कारण जीवन में से सत्य कर्म जाता

है और असत्य आता है। इसलिये जैन शासन ने झूठ बोलने वाले में "कोहा वा, लोहा बा, भया वा, हासा वा' क्रोध, लोभ, भय और हास्य की तीव्रता का स्वीकार किया है, लेकिन उस तीव्रता को मंद करने के लिये जो साधक सफल बना होगा वही पापकर्म रोके बिना और पुण्यकर्म बांधे बिना रहेगा नहीं।

उपरोक्त कारण से यानि कि, राग द्वेष और कषायों की मंदता, स्वस्त्री की प्रीति, अवक्रता, ईर्ष्या रहित जीवन और सत्यवादिता को पुरुषवेद बाँधने का कारण कहा है।

स्त्रीवेद कर्म बांधने के लक्षण :

"शब्दादि विषयेषु गार्ध्यैर्स्यालुत्वानृतवादित्यवक्रता पस्दास्रति प्रियतादिकरण रूपत्वं स्त्रीवेदाश्रवस्य लक्षणम्।"

[आर्हत दर्शन दीपिका]

[१] पांच इन्द्रियों के शब्द-रस-गंध-स्पर्श और दर्शन के मनचाहे २३ विषयों में अत्यंत आसक्ति, लालसा, ममता और उनको भुगतने में अनहद राग रखने से आध्यात्मिक शक्तिओं का ह्रास होता जाता है, इन्द्रियां बेकाबू बनती है, मन की शैतानी बढ़ती है और बहुत परिश्रम के बाद प्राप्त ज्ञान और विज्ञान निष्फल और निरर्थक बनता है, तब आत्मा को संयमित रखने में एक भी शक्ति मानव के हाथ में नहीं रहती है।

[२] ईर्ष्या :—जिस व्यक्ति में बेमर्याद ईर्ष्या होती है, उसकी मानवता ही मर जाने से चाहे कैसे भी निमीत्त मिले तो भी पापमार्ग पर जाने का उनके लिये सरल रहता है। एक

बार हम मान लें कि, ईर्ष्यालु मानव के हाथ में लकड़ी, बंदूक या छुरी न हो तो भी उसके आत्मिक दुषण इतने खतनाक होते हैं कि जिसके कारण वह किसी के साथ भी बैर-विरोध, ईर्ष्या लड़ाई, दलीलबाजी करने पर उतारू हो जाता है। इस-लिये द्रव्यपाप से पापभाव ज्यादा जोखमी है, ईर्ष्या का अर्थ इस प्रकार है : –

[१] परगुणाऽसहनमीर्ष्या (उतरा, ६५६)

[२] पर संयतौ चेतसो व्यारोष, (वैयाकरण)

[३] परोत्कर्षासहनमीर्ष्या (कोषकार)

इन तीनों अभिप्रायों का तात्पर्य यह है कि, "पराये वस्त्र, पुत्र, स्त्री, मकान, हाट, हवेली, मोटर गाड़ी आदि देखकर उनके प्रति अपने मन में जो जलन हो आँखों में रोष आये" जीभ में कटुता और बकवास आये वह ईर्ष्या है।

"पराये के गुण, वकतृत्व, व्यक्तित्व, रूप, विद्या, तपश्चर्या, पुण्योदय, दान आदि को देखकर उनकी निंदा करनी, उनकी प्रवृत्ति में भूल निकालनी, बोलने में और अंत में उनको बदनाम करने की भावना रखनी उसको ईर्ष्या कहते हैं" 'लाज सब गुणों की माना है' यानि कि, लज्जाशील मानव को सब गुणों की वरमाला भाग्य में रहती है। जब महापुण्योदय से प्राप्त या प्राप्त किये गये सद्गुणों का नाश करने में ईर्ष्या मुख्य कारण है, क्योंकि, बढ़ती हुई ईर्ष्या से मानवता, दया, सतकर्मिता और अंत में सहिष्णुता का भी नाश होता है, तब वैसा आदमी जिस तरह दूसरों को भी खड्डे में उतारता है उस प्रकार अपने आत्मा का भी नाश करता है, इसलिए शास्त्रकारों को कहना पड़ा है कि, मर्यादा

तीत ईर्ष्या के मालिक अवसर आने पर कैसे भी गंदे पापकर्म करते हैं और ईर्ष्या के कारण इस भव का पुरुषवेद का मालिक आनेवाले भव में स्त्री शरीर प्राप्त करता है और इस भव की स्त्री भी ज्यादा ईर्ष्यालु होगी तो फिर से उसके भाग्य में स्त्रीवेद और स्त्रीशरीर ही शेष रहता है।

[३] अनृतवादित्व :—असत्य भाषा, असत्य व्यवहार और व्यापार तथा रहन-सहन में प्रायः सम्यक्त्व का प्रकाश न होने से मानव के सत्यकार्य केवल व्यवहार तक ही सीमित रहते हैं। देव दुर्लभ मनुष्य अवतार पाकर भी वे निर्जरा या संवर का मार्ग स्वीकार नहीं सकते हैं। इसलिए उनके पास आश्रवमार्ग के अलावा एक भी मार्ग न होने से पापमार्ग हमेशा खुले रहते हैं। उससे खानदानी के सत्यकार्य बिगड़ेंगे, पढ़ना-लिखना श्रापमय बनेगा और ज्यादा झूठ-प्रपंच से वह आदमी पशु से भी भयंकर बनेगा।

हाथी जैसे महाकाय पशु के लिए अंकुश, घोड़े के लिए लगाम तथा सायकल और मोटर के लिए ब्रेक होती है, लेकिन चाहे कितना भी बड़ा आदमी क्यों न हो वह अंकुश रहित रहेगा तो उसके आंतरजीवन में वह हिंसक दुराचारी बनेगा। इसलिए मर्यादा का त्याग करके किये गये झूठ, प्रपंच, काले कर्म स्त्रीवेद के कारण बनेंगे।

[४] वक्रता :—मन, वचन और काया की वक्रतावाले या तो संसार की माया के कारण वक्र बने मानव का एक भी सत्यकार्य जीवन के आदि मध्य या अवसान में भी सरल नहीं होते हैं।

और ज्ञान संज्ञा को पाने के लिए या बढ़ाने के लिए

उनको उत्साह भी नहीं होता है। फलस्वरूप उनका विद्यार्थी जीवन, लग्नजीवन व्यापार जीवन भी केवल व्यवहार या स्वार्थ तक ही सुंदर रहने पाता है। इस कारण उनके जीवन में कभी भी आनेवाले भवों को बिगाड़ने के लिए असत्यकार्य, दुर्जन मित्र, गंदा साहित्य या सिनेमा आदि तैयार ही रहते हैं।

[५] परदाररति प्रियता :—स्त्रीवेद को बांधने की योग्ता-वाले जीवात्मा में परस्त्री गमन में मोह रखनेवाले भी होते हैं। एक मछली सारे तालाब को गंदा करती हैं, उस प्रकार एक दुषण में मानव जीवन को संपूर्णतया परवश करने की ताकत है।

परस्त्री गमन चाहे मजाक में या लाचारी में स्वीकारा हो तो भी उसकी माया आजीवन नहीं छुटेगी परिणाम स्वरुप :—

[१] धर्मपत्नी की रसोई नहीं भायेगी और परस्त्री का खाना अच्छा लगेगा।

[२] चरणों की दासी जैसी सादी और खूबसूरत पत्नी की की ओर नफरत होगी और मेकअप में छुपी पराई स्त्री अच्छी लगेगी।

[३] दीन-दुखी और अनाथ के लिए पांच पैसा भी नहीं होगा लेकिन परस्त्री को सब लुटा देगा।

[४] धार्मिक स्थल, बड़ों का सहवास माता-पिता की सेवा मन को कड़वी लगेगी लेकिन परस्त्री की महमानवाजी अच्छी लगेगी।

इसके अलावा हद से ज्यादा क्रोध, अभिमान, ईर्ष्या, झूठ, दूसरों को ठगने की भावना, अतिशय शृङ्गार प्रेम तथा दूसरों की स्त्रीयों के हाव भाव कटाक्ष, उनके वस्त्र, आभूषण आदि देखने की तीव्रइच्छा भी आनेवाले भवों में स्त्रीवेद का कारण बन सकती है।

इत्यादि दूषणों से कामदेव को जागृत करने में या मरे हुये कामदेव को फिर से उत्तेजित करने में तथा अखद्य, अपेय आदि पदार्थों का भक्षण पान करनेवाले अगले भव में स्त्रीवेद के मालिक बनेंगे।

नपुंसकवेद कर्म बांधने के लक्षण :

तीव्र कोधादिना पशुनां वध निर्लाञ्छनमुण्डन स्त्रीपुरुष विषयकानङ्गसेवन, शीलव्रत गुणधारिविषयक मैथुनसेवनेच्छा तीव्र विषयानुषङ्गितादिकरणरुपत्वं नपुसंकवेदास्रवस्य लक्षणम्
(आर्हन दर्शन दीपिका)

महारंभ, महापरिग्रह, मांसाहार, शराबपान, परस्त्रीगमन, जुगार तथा शिकार आदि में अत्यासक्तिपूर्वक मनुष्यावतार को समोत्तर करके, अपक्रांति द्वारा फिर से उन अवतार को पानेवाले जीवात्माओं के पास नपुसंकवेद शेष रहता है। बाकी के चार लाख देवता, ४ लाख लाख तिर्यंच पंचेन्द्रिय और १४ लाख मनुष्यों में से देवलोक के देव पुण्यशाली होने से उन्हें यानि चार जाति के देवों को नपुसंकवेद नहीं है, जब कि मनुष्य और तिर्यंच में जो संमूर्च्छिम है, वह सब नपुसंक ही होते हैं, शेष रहे हुये भी पूर्वभव के पापकर्मों के कारण उदयवर्ती मनुष्य और तिर्यंच भी नपुसंकवेदवाले होने से नपुसंक शरीर धारण करने को उपयुक्त हैं। जिसका वर्णन

प्रथम भाग में हो गया है, अब हम यह देख लें कि इस वेद को बाँधनेवाले कौन हैं ?

(१) अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन कषाय में जब तीव्रता, तीव्रतरता, तीव्रतमता का जोर बढ़ता है, तब मानव के बेमर्याद बने हुये क्रोध, अभिमान, माया, प्रपंच और लोभ की डिग्री आखिर के पोइन्ट पर आ खड़ी रहती है। और मानव का जीवन व्यवहार, भाषा, व्यापार, रहन सहन भी बेमर्याद, बेलगाम, बेरहम बेशरम और बेईमान बन जाता है।

इस परिस्थिति में उस जीव की हिंसक वृत्ति, मृषावाद, चौर्यकर्म, मैथुनकर्म और धन-दौलत का परिग्रह, बेशुमार, बन जाता है. तब हजारों, लाखों और करोड़ों प्राणीओं के शाप उनके भाग्य में शेष रहते हैं। फलस्वरुप उन पापों को भुगतने के लिए नपुंसक शरीर धारण करना पड़ता है। क्योंकि अपनी मायाजालरूप में तथा पैसों की जाल में फँसी कन्या, विधवा या सधवा को अमुक स्थान में शीलभ्रष्ट करके उस बाई को जब अपने सतीत्व धर्म के या पाप के परिणाम स्वरुप मृत्युतुल्य सामाजिक मुसीबतें प्राप्त होगी तब उस बाई के मुँह से शापित वचन बाहर आयेंगे।

'मुझे फँसाकर जिस मनुष्य ने मुझे भ्रष्ट किया है वह अगले भव में बुझदिल, नपुंसक, हीजड़ा ही बनेगा फलस्वरूप इस शापों को भुगतना ही पड़ेगा।

लोभ की मर्यादा जब खानदानी कर्म भूल जाती है, तब असंख्यात तिर्यंच पंचेन्द्रिय मूंगे प्राणीओं को कतलखाने में मशीन द्वारा मरवा कर, उनके मुलायम चमड़े का व्यापार करके लाखों कमाते हैं।

जंगल के जंगल अपने ठेके में लेकर वहाँ के असंख्य वृक्षों को काटकर उसके कोयले का व्यापार करके श्रीमंत बनेंगे।

अपने गाँव के दलालों के जरीये गाँव के गोवालों के पास से हजारों लाखों की संख्या में गाय, बैल, बकरा, पाडा, मुरगे, भूंड आदि अबोल जानवरों को खरीदकर कसाई को बेचने का धंधा करेंगे।

अपने तालाबों का ठेका देकर उसमें उत्पन्न होती छोटी मोटी मछलीयाँ, मेढ़क, कछुये आदि की हत्या द्वारा लखपति बने श्रीमंतों को आप पहचानते हैं ?

इस तरह पशुओं का वध करनेवाले या करानेवाले को अगले जन्म में नपुंसकवेद ही भुगतना पड़ता है।

(३) निर्लांछन कर्म :—इस कर्म के द्वारा अबोल पशुओं के नाक, कान का छेदन करायेगा, या उसकी गुप्तेन्द्रिय को कटवाकर उनको विषयसुख से वंचित रखने का भयंकर अंतरायकर्म का उपार्जन करेगा, तब यह अबोल जानवर कौन सा श्राप देंगे ? यह सब उपाश्रय में जाकर मुनिराजों के पाससे जानलोगे तो मिथ्यात्व के रंग से रंगकर किये अपकृत्यों से कंपारी छुट जायेगी।

(४) स्पर्शेन्द्रिय का गुलाम बनकर जो कन्या या छोटे खुबसूरत बालकों का शरीर खराब करते हैं, उनके शरीर के साथ अपनी विषयवासना संतुष्ट करने की या गंदी चेष्टायें करते हैं, पीपरमींट आदि का प्रलोभन देकर अपनी गोद में बिठाकर क्षणिक आनंद में अपना अमुल्य जीवन धन, पुण्य धर्म लीखना, पढ़ना और युवान अवस्था को सर्वथा बरबाद करने के बाद अपनी पत्नी के सहवास में स्तंभनशक्ति के

अभाव में या जननेन्द्रीय शिथील होने के कारण शक्तिहीन बनकर अपने सर पर हाथ रखकर बैठनेवालों को आपने देखा है ? जाना है ? अपनी पुरुषातनशक्ति को अप्राकृतिक स्थानों पर व्यय करके इस भव में नपुंसक बने अगले भव में भी नपुसंक क्यों नहीं बनेंगे।

(५) विषयवासना जब मर्यादातीत (हद से ज्यादा) हो जाती है तब शीलव्रत को अपनानेवाले या गुणीयल आदमी के साथ या बहनें, व्रतधारीओं के साथ भी मैथुनकर्म की चेष्टा किये बिना रहा नहीं जाता है।

पाप भावना का मन में उदय होता है और मौका मिलता है तब :—

(१) शियलव्रतों को भी भ्रष्ट करने की दानत होती है।

(२) छोटी वय के बालक-बालिकाओं को फंसाता है।

(३) अपने खूबसूरत शरीर से युवानों को वासना में धकेलता है।

(४) पैसे की लालच में दूसरों की लाज छुड़ाता है।

(५) पग दबाने की आड़ लेकर व्रतधारी के शरीर के साथ गंदी चेष्टा करता है।

(६) अंत में कागज पर या तो पत्थर की मूर्ति के साथ भी अपना शरीर गंदा करता है।

इत्यादि कृत्य सर्वथा निंदनीय, दंडनीय होने से ऐसा करनेवाले जीव समाज में निंदित, अपमानित और तिरस्कृत होते हैं और भवांतर में पुरुष या स्त्री के शरीर के बजाय नपुसंक शरीर प्राप्त करते है।

(७) स्पर्शेन्द्रिय की गुलामी स्वीकारने के बाद इन पुरुषों की पाँच ज्ञाननेन्द्रिय और उपस्थ (स्त्री पुरुष की गुप्तेन्द्रिय) तथा गुदाकर्म भी बेकाबू बन जाता है, ऐसी स्थिति में इन जीवों के पास अनंगकीड़ा और विषयवासना के तीव्रानुराग के सिवा और कोई अध्यवसाय नहीं रहता । अनंगक्रीडा यानि मानव या स्त्री का जब कामदेव का नशा मर्यादा बाहर चला जाता है, तब भोगविलास के मुख्य अंग के बजाय अन्य अंग द्वारा भी अपने नशे को समाप्त करते हैं । वृद्धावस्था में भी इस कुटेव से छुटकारा पाना आसान नहीं है । इस तरह यौवनावस्था को बरबाद करने के बाद मानव निस्तेज, अशक्त और कई अन्य रोगों का घर बन जाता है और देवदुर्लभ मनुष्यावतार को खत्म करके अगले भव में नपुंसकत्व प्राप्त करता है ।

तीव्रानुराग यानि अपनी उम्र वृद्धावस्था के करीब है, घर में पुत्र और पुत्रवधु है, बहन-बेटियाँ हैं । फिर भी अपनी विषय-वासना को भड़काने के लिए शक्तिवर्धक दवा और पौष्टिक खुराक खोजने में व खाने में गतिमान रहता है। पेपरों के पत्तों में वीर्यवर्धक, वीर्यस्तभंक और अन्य प्रकार की ताकत पाने की औषधियाँ खोजते रहते हैं । (इत्यलं विस्तरेण)

सम्यक्त्व का जबरदस्त प्रभाव :

अनाभोग मिथ्यात्व को छोड़कर दूसरे चार प्रकार के जीव यद्यपि मिथ्यात्वी कहलाते हैं, फिर भी मोक्ष में जाने का प्रथम दादर होने से आकाश में उदित होनेवाले सूर्यनारायण से एक घंटे पहले संसार को उजाला मिल जाता है, इस तरह इन जीवों में भी मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता मिलती है,

और जब यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण द्वारा मिथ्यात्व टल जाता है और सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उस वक्त अनंतानुबंधी आदि सात प्रकृतियों का क्षयोपशम होते ही आत्मा में आध्यात्मिक शक्ति की प्राप्ति और उसका विकास होना प्रारंभ होता है।

जिससे आनेवाले भव में पुरुषवेद बांधने के भाग्यशाली बन पाते हैं, यानि कि सम्यक्त्व की मौजूदगी में महाभयंकर पापवासना, उस प्रकार की भावना, चेष्टाओं का अंत होने पर उनकी स्त्रीवेद और नंपुरुषवेद बाँधने की लायकात भी नाश होती है। चौथे गुणस्थानक में रहा हुआ जीवात्मा यदि आध्यात्मिकता में आगे बढ़े तो बहुत अच्छा हो। फिर भी सभी जीवों के ऋणानुबंधन ऐसे नहीं होने से यदि चतुर्थ-स्थानक से नीचे गिरे और तीसरे गुणस्थानक तक पहुँचे, यानि कि नीचे गिरने की तैयारी हो गई है, फिर भी उनके जीवन में सम्यक्त्व का प्रकाश सर्वथा नहीं बुझा है, इसके कारण स्त्रीवेद को बांधने की योग्यता भी उनके जीवन में नहीं रहती।

सारांश यह है कि तीसरे गुणस्थानक स्थित जीव स्त्रीवेद को बाँधता नहीं। अब तीसरे से नीचे उतरनेवाला जीव दूसरे सास्वादन गुणस्थानक में आयेगा उस वक्त भी उनके पास सम्यक्त्व का प्रभाव (आस्वादन) रहा होने के कारण नपुंसकवेद जैसा निकृष्ट पाप उनसे बाँधा नहीं जाता। सारांश कि सम्यक्त्व की मौजूदगी में जीवात्मा आध्यात्मिकता के प्रकाश में मस्त होने से इन दोनों बंधन में से मुक्ति पाता है।

इस सम्यक्त्व के प्रकाश दरमियान यदि यह जीवात्मा

सत्यस्वरुप से सम्यक्त्वी होंगा तो उद्दीर्णाकरण से मोहकर्म भड़क उठे ऐसी स्त्रीओं का सहवास, उनके साथ ज्यादा बैठना-बोलना, या अन्य किसी प्रकार की प्राकृतिक व आप्राकृतिक चेष्टा भी उनके जीवन में नहीं होती, इसलिए पापजनक, पापजन्य, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद को न बांधते हुये सिर्फ पुरुषवेद के बंधक हैं। जबकि परमात्मा को क्षायिक सम्यक्त्व और यथाख्यात चारित्र होने के कारण एक भी वेद बांधता नहीं है।

प्रथम समय के कृतयुग्म कृतयुग्म राशि प्रमाण संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का उपपात, परिमाण और आहार प्रथम उद्देशक से जानना है। अवगाहना, बंध, वेद, वेदना, उदय और उदीरक प्रथम समय के दोइन्द्रिय की तरह समझना। विशेष यह है कि दोइन्द्रिय जीव नपुंसकवेदवाले हैं और संज्ञी पंचेन्द्रिय तीन वेदवाले हैं तथा वे संज्ञी और असंज्ञी होते हैं। शेष पूर्ववत्। इस तरह सोलह युग्म में जानना। साथ-साथ ग्यारह उद्देशक भी हैं। इन स्थानों में भी जीवात्मा अनंत-बार जन्म लेता है।

॥ शतक ४० अन्तर्गत शतक-१ समाप्त ॥



शतक ४० अन्तर्गत दूसरा शतक

कृष्णलेश्यावाले कृतयुग्म कृतयुग्म राशि प्रमाण संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को भी पूर्ववत् यानि कि इन जीवों को भी तीन वेद हैं लेकिन अवेदक नहीं हैं। आयुष्य स्थिति जघन्य से एक समय की और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त अधिक तैंतीस सागरोपम की सातवीं नरक भूमि की अपेक्षा से जाननी। क्योंकि कृष्णलेश्या के मालिकों को, यानि मृत्यु समय यह लेश्या हो तो उन जीवों के लिये सातवीं नरकभूमि मान्य है। अन्तमुहुर्त अधिक आशय इस प्रकार है। सातवीं नरक में जाने से पहले चालू भव में मृत्यु समय में कृष्णलेश्या के परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये अन्तर्मुहूर्त अधिक तेतीस सवरोपम कहा है।

(इस प्रकार ११ उद्देशक भी जानना)

॥ शतक ४० अन्तर्गत २ शतक समाप्त ॥

शतक ४० अन्तर्गत तीसरा शतक

नील लेश्यावाले कृतयुग्म कृतयुग्म राशि प्रमाण संज्ञी जीवों की स्थिति जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से पांचवीं नरक पृथ्वी के ऊपर के प्रतर में पल्योपम के असंख्यातवें भाग से अधिक दस सामरोपम की जाननी। यु तो पांचवीं नरक की उत्कृष्ट स्थिति १७ सागरोपम की है, और नील लेश्यावाले कों पांचवी नरक है, इसलिये ऊपर के प्रतर के हिसाब से १० सागरोपम से अधिक कही है। यहाँ अन्तमुहुर्त ज्यादा नहीं

कहा गया है इसका मतलब यह है कि पूर्वभवीय अवतार में मृत्यु के वक्त यद्यपि इस लेश्या का आगमन हो जाये तो भी उसका समय पल्योपम के असंख्यातवें भाग में समाविष्ट हो जाता है।

(शतक ४० अन्तर्गत ३ शतक समाप्त)

शतक ४० अन्तर्गत ४ से ७ शतक

कापोत लेश्यावालों की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग से अधिक तीन सागरोपम की जाननी। यहाँ भी ऊपर प्रतर की अपेक्षा समझनी। क्योंकि इस लेश्या के जीव तीसरी नरक भूमि से आगे नहीं जाते।

तेजोलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग से ज्यादा दो सागरोपम की जाननी। क्योंकि, तेजोलेश्यावाले जीवों की स्थिति देवभूमि में यहाँ तक ही कही गई है, शेष पूर्ववत्।

पद्मलेश्यावालों की उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्त से अधिक दश सागरोपम की जाननी। जो पांचवें देवलोक के आश्रयी है। अधिक के लिए पूर्ववत् यानि कि मनुष्यवतार छोड़ने से से पहले इस लेश्या का उदय होता है।

शुक्ल लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त से अधिक तेतीस सागरोपम की जाननी जो अनुतर विमान की है। यानि कि, इस लेश्या के मालिक स्वार्थसिद्धि विमान में भी जाने की योग्यता रखते हैं।

(शतक ४० के अन्तर्गत ४ से ७ शतक समाप्त)

शतक ४० अन्तर्गत ८ से १४ शतक

कृतयुग्म कृतयुग्म राशि प्रमाण भवसिद्धिक के लिए यह जानना कि, सब जीवों का उत्पात यहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि अनादिकाल से अभवसिद्धिक किसी भी काल में भी भव सिद्धिक नहीं होंगे।

इससे पहले के शतक की तरह जिस प्रकार भवसिद्धिक कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्यावाले जीवों के लिए प्रत्येक का एक एक शतक जानना। विशेषता यह है कि. इसमें अभवसिद्धिक का उत्पात नहीं होता है।

अभवसिद्धिक	तथा	प्रथम	समय के	अभवसिद्धिक के
			लिए	शतक १५
”	कृष्णलेश्यावाले		”	” १६
”	नीललेश्यावाले		”	” १७
”	कापोतलेश्यावाले		”	” १८
”	तेजोलेश्यावाले		”	” १९
”	पद्मलेश्यावाले		”	” २०
”	शुकललेश्यावाले		”	” २१

सिर्फ उतपात में भवसिद्धिक किसी काल में भी अभवसिद्धिक होते नहीं हैं। शेष चार गति में से उतपात समझना। वे मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, अविरतिवाले होते हैं। अनुतर विमान उनके भाग्य में नहीं हैं। केवल शुक्ललेश्यावाले जीवों की उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्त से ज्यादा ३१ सागरोपम की है,

क्योंकि अभव्य नववें ग्रैवेयक तक जाते हैं। वहाँ की आयुष्य स्थिति इतनी ही है, वहाँ उनको शुक्ललेश्या होती है।

(शतक ४० अन्तर्गत ८ से १४ शतक समाप्त)

'समाप्ति वचनम्'

जैनागमों के रहस्यवेत्ता, कर्मग्रंथादि साहित्य के पारगामी, स्याद्वाद, नय, विक्षेप और प्रमाणवाद को आत्मसात करनेवाले, शास्त्र-विशारद, जैनाचार्य, स्व० श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी म० जैन धर्म के आंगन में बीसवीं शताब्दी के शुक्र के तारे की तरह तेजस्वी थे। चन्द्रमा की तरह शीतल और कलामय थे। सूर्य की तरह प्रचंड प्रतापी और प्रभावशाली थे। मेरुपर्वत की तरह धीर-वीर और गंभीर थे। उपरियालादि तीर्थों के उद्धारक थे। पालीताणा के यशोविजयजी जैन गुरुकुल आदि सैकड़ों गुरुकुलों के संस्थापक थे उनके शिष्य शासन दीपक बंगाल, बिहार और सिंध जैसे मांसाहारी देश में भी अहिंसा के असली तत्व से निरामिष भोजन का व अहिंसा का प्रचार करनेवाले, मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज प्रचंड शक्ति संपन्न थे। उनके शिष्य, न्याय-व्याकरण-काव्यतीर्थ, पंन्यास श्री पूर्णानंदविजय (कुमारश्रमण) ने भगवतीसूत्र सारसंग्रह में ४० वाँ शतक स्वपर कल्याण के वास्ते विक्रम सं० १९३६ के भाद्रपद सुद १४ के दिन अंधेरी (वेस्ट) शांतवाड़ी जैन उपाश्रय में चातुर्मास की मर्यादा में पूर्ण किया है।

भद्रं भूयात् सर्वेषां जीवानाम्।
जीवाः सर्वेऽसंज्ञित्वं त्यजेयुः॥

शतक : ४०वां समाप्त

शतक ४१

भगवती सूत्र का यह आखरी शतक है। यद्यपि अंतिम चार युग्मों के चार शतकों का विषय सिर्फ केवलीगम्य है, इसलिए इसे श्रद्धा से मानना और जहाँ तक मतिज्ञान पहुँच सके वहाँ तक पहुँचाने में कोई हर्ज नहीं। क्योंकि संसार के पदार्थ केवलीगम्य और तर्कगम्य रुप से दो प्रकार के हैं। तर्कगम्य पदार्थों में अपना मतिज्ञान विस्तृत बना कर उन पदार्थों तक पहुँचना ठीक है, पर जो पदार्थ केवलीदृष्टि या गम्य हो उनमें तर्क लगाने की धृष्टता करना हितावह नहीं है, क्योंकि सपने जैसे छद्मस्थ मानव के भाग्य में मतिज्ञान से भी मतिज्ञानावरणीय कर्म और श्रुतज्ञान से भी श्रुतज्ञानवरणीय कर्म की सत्ता कुछ ज्यादा होने उन पदार्थों तक पहुँचने की शक्ति अपने में नहीं, इसलिए इन तत्वों और उनकी प्ररुपणाएँ श्रद्धा से मानना यह हमारा काम है।

संसार में पूर्णरुप से फँसे हुये अपने माता-पिता, भाई-बहन या शिक्षक की बातें यदि हम श्रद्धा से मान लेते हैं, तो फिर केवली भगवंत सर्वथा पवित्र होने से उनकी प्ररुपणाएँ, जो अपने मतिज्ञान के विषय में नहीं उतर पाती हो तो उनमें अपने मतिज्ञानावरणीय कर्म का दोष है, यह समझकर अपने मन का समाधान कर लेने में ही कल्याण समा हुआ है। बेशक! उन विषयों के ज्ञाता पूज्य गुरुदेव के चरणों में बैठकर उन विषयों की समझ पाने में उन्हें सीखने में हानि नहीं किन्तु लाभ है।

जिन पदार्थ की संख्या को हम नाप सकते हैं उसे हम अंक में बोलकर या लिखकर गिन सकते हैं। किन्तु जीवराशि यानि षट्काय के जीवों की संख्या ऋषभदेव परमात्मा के वक्त में भी अनंतानंत थी, महावीरस्वामी के समय में अनंतानंत थी और ऐसी अनंत चौबीसी के बाद भी जीवराशि अनंतानंत रहनेवाली होने से उन संख्या के लिए अपने पास अंक कैसे हो सकते हैं। उसी तरह समय की गिनती अमेय होने से पल्योपम तथा सागरोपम से समझाने की आवश्यकता होती है, उस प्रकार नरक गति में या वनस्पति गति में जाने वाले और वहाँ से बाहर आने वाले जीव जब अनंत हैं तो फिर उन्हें यदि चार युग्मों से समझाया जाए तो उसमें आश्चर्य किस बात का ?

चार गतिओं के जीवों को इन चार युग्मों में समाविष्ट किया गया है, उनमें से कई जीव जो कृतयुग्म राशि में हैं वह कृतयुग्म कहे गए। इस तरह कई त्र्योज, द्वापर और कई कल्याज राशिवाले कहलाते हैं। क्योंकि जीवों का एक गति में से निकल कर दूसरी गति में जाने का क्रम सांतर और निरंतर होता है। सांतर हो तो भी उनमें साल दो साल का अंतर नहीं होता पर अमुक समय का होता है, इससे जिस वक्त वनस्पति या नरक के जीवों का परिमाण कृतयुग्म राशि प्रमाण हो उन्हें केवलीज्ञानी के सिवा और कौन जान पाएगा ? और उपपात या उद्वर्तन सांतर तथा निरंतर होने से किसी वक्त जीवों का उत्पात हो या उद्वर्तन हो तभी उसे त्र्योज भी कहते हैं, द्वापर और कल्योज भी कहते हैं। सारांश यह है कि, गणनातीत जीवों की गणना करने का इसके अलावा दूसरा मापदंड कौनसा हो सकेगा ?

आस्तिक, नास्तिक, धर्ममूठ, ज्ञानमूठ या संप्रदायमूढ जीव किताबों के पन्ने चाहे जितने भी क्यों न पढ़ लेते हों, या उसकी चर्चा विवाद या वितंडावाद से भी क्यों न करते हों, फिर भी संसर और उसके पदार्थ जो अपने सामने हैं उसका निर्णय करने में वे कैसे भूल जायेंगे ? और मतांध बनकर यदि भूल बैठे तो भी बिसी के सिद्धांत से संसार के पदार्थों में तो किसी भी काल में कोई फरक पड़ने वाला नहीं है।

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस शरीर में जो अनंतानंत जीव जन्म लेते हैं, मरते हैं, खुश होते हैं, काटे जाते हैं, जिनका छेदन हो जाता है, और फिर से नवपल्लीन हो जानेवाले वह प्रत्यक्ष पदार्थ का अपलाप करने से उसको नुकसान होगा ? ऐसी परिस्थिति में दोनों का यथार्थ जाने तो किसी को भी नुकसान नहीं है ? इसलिए अपने कल्पित सिद्धांतवादी बनने से तो वास्तविक रुप से आत्मवादी, लोकवादी और क्रियावादी बनने में क्या बुराई है ?

जीवराशि की अनंतानंत संख्या की प्रथम भाग में चर्चा की गई है।

आत्मवादी :—आत्मा को सत्यस्वरुप से बोलनेवाले को आत्मवादी कहते हैं। इसलिए वह द्वैतवादी, अद्वैतवादी या विशिष्टद्वैतवादी नहीं होता है, क्योंकि समग्र ब्रह्मांड में कोई भी पदार्थ या तत्व अद्वैत भी नहीं, द्वैत भी नही या विशिष्टाद्वैत भी नहीं। तब यह मतांतर केवल धर्म के नाम तिलक के नाम, अपने अहं के नाम या मिथ्या प्रतिष्ठा के लिए लड़ाई करके धर्म के असली स्वरुप को बिगाड़ने के लिए पैदा हुये हैं।

संसार के स्वरुप को अर्थात् द्रव्य और पर्याय स्वरुप संसार को यथार्थ दृष्टि से प्रत्यक्ष किये बिना केवल तर्कवाद के भरोसे से तत्वो का निर्णय करने में भारत देश के भाग्य में बैर-विरोध और मिया-महादेव की तरह अपने मतमतांरों को अलग अलग करने के सिवा और कौन सा हेतु सिद्ध होगा ? आज भी यह मतांतर हरिजन की तरह एक-दूसरे के लिये अस्पृश्य रहे हैं। इसलिए उनके जीवन में धर्म नहीं, धार्मिकता नहीं है और केवल तिलक और धर्मकांड जैसे असार क्रिया-कांड ही शेष रहे हैं।

पूरे संसार में अनंतानंत जीव और अनंतानंत पुद्गल स्कंध सबको प्रत्यक्ष है। इसलिए अपने आत्मा की तरह दूसरे आत्माओं को भी मानने के लिये उसे आत्मवादी कहा गया है। ऐसे सत्यस्वरुपी आत्मावादी को देवी-देवों के आगे हजारों लाखों की संख्या में मूक प्राणीओं को मारने का या कतल करने का नहीं होता है। कालका, चामुंडा, या महाकाल का देवीओं की कल्पना करके जगदंबा स्वरुप माताओं के सामने घेटे, बकरे मुरगे, पाड़े, बैल आदि की क्रूर हत्या करने वाले, उनके लिये मकान या यज्ञस्तंभ खड़े करनेवाले, मांस बेचनेवाले, खानेवाले या दूसरों को परोसनेवाले को आत्मवादी कैसे कहा जायेगा ? ऐसे जीव जो आत्मवादी नहीं हैं, उनको नास्तिक कहने में कौन सी बाधा है ? तब बुद्धिशालीओं को ही निर्णय करने का रहेगा कि, आत्मा को असली स्वरुप में माननेवाले जैन नास्तिक हैं ? या देव देवीओं के सामने प्राणीओं की कतल करनेवाले नास्तिक हैं।

अरिहंत परमात्मा के शासन को माननेवाले प्रत्येक जीवात्मा को अपने आत्मा की तुल्य मानते हैं और उसके

मुताबिक ही वर्तन करते हैं। इसलिए इस प्रकार के जैनों को नास्तिक कहने में वेद संस्कृति ने भी कौन सा फायदा निकाला ?

भारत देश के राजा-महाराजा या श्रीमंतों में इन्द्र के अंश की कल्पना करके या कराके सुरा (शराब), सुंदरी (वेश्या-स्त्रीपर आदि) और शिकार (जीव हत्या) आदि का नाद लगानेवाले जैन है ही नहीं।

लोकवादी :—और जो आत्मावादी हैं वह सच्चा लोक-वादी है। "पृथ्वी देवता, आपों देवता" के सिद्धांत को सत्य-स्वरुप क्यों मानेगा ? क्योंकि पृथ्वी या पानी देवता नहीं है, लेकिन अनंत जीवों को अपने अपने निकृष्टतम पापोदय के कारण पृथ्वी में या पानी में उत्पन्न होना अनिवार्य स्थान है। मिटी स्वरुप पृथ्वी पृथ्वीकाय के जीवों का शरीर है और द्रव-स्वरुप पानी, जलकाय के जीवों का शरीर है।

दो पैर फैलाकर कमर पर हाथ रखकर खड़े आदमी की आकृति के तुल्य लोक की आकृति मानी गई है।

उसमें नाभि के नीचे सात नरक पृथ्वी शाश्वती है। जो एक के नीचे दूसरी पृथ्वी इस क्रम से अनादिकाल से पृथ्वी है और अनंतकाल तक भी वैसी ही रहेगी। इस सात भूमिओं में कर्म और पाप से भारी बने जीवात्मा आते हैं और आयुष्यपूर्ण करके बाहर निकलते हैं। उसमें जो प्रथम पृथ्वी है उसमें भवपति देव भी अपने अपने मकान में रहकर देव-लोक के सुख का अनुभव करते हैं।

उस लोकाकृति के नाभी का स्थान तिरछालोक कहलाता है। जिसमें असंख्य द्विप और समुद्र का समावेश होता है।

जो जम्बुद्विप से असंख्यात द्वीप समुद्र के बाद स्वयंभूमरण तक के सब द्विद्विगुणित यानि दोगुनी चौड़ाईवाले हैं।

जम्बुद्वीप के बराबर बीच में मेरुपर्वत स्थित है। जिसकी ऊंचाई जमीन के बाहर के भाग में ९९ हजार योजन की है और शाश्वत है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे के विमान मेरुपर्वत के बीचोबीच चक्कर काट रहे हैं। उसके बाद उर्ध्व-लोक आता है, जिसमें बारह वैमानिक देवों के विमान उसके बाद नौ ग्रैवेयक विमान और अंत में अनुतर देवों के विमान हैं। इन चार निकाय देवों की संख्या कितनी है? जवाब में कहा गया है कि, देवलोक के देव प्रतिदिन जितनी संख्या में च्यवन पाते हैं उससे ब्रह्मांड के मानवों की संख्या कम है, इन तीनों लोक को कोई उत्पन्न नहीं कर सकता, नाश भी नहीं कर सकता, उसी प्रकार अपने कर्मों के अतिरिक्त दूसरा कोई रक्षक भी नहीं है। इस प्रकार के लोक की व्यवस्था सब देव, इन्द्र, वासुदेव, या चक्रवर्ती साथ मिलकर आयुष्य पूर्ण कर लेंगे तो भी लोक की व्यवस्था में कोई भी तबदिली नहीं कर सकेंगे।

लाख योजन प्रमाण के जम्बुद्वीप में सबसे छोटा ५२६, योजन प्रमाण भरतक्षेत्र आया है, उसमें स्थित अष्टापद पर्वत को भी आज के वैज्ञानिक और रोकेट तलाश नहीं कर पाये, तो फिर मेरुपर्वत को कैसे तलाशा जायेगा? इसलिये यह सब बातें केवलीदृश्य होने से चर्मचक्षुगोचर नहीं बनेगी। इसलिए आत्मबादी है वह लोकवादी है। क्योंकि जो अपने आत्मा की स्थिति, गति, आगति आदि जानने के लिए समर्थ नहीं बनता वह इतने बड़े लोक को यथार्थ रुप से कैसे देख सकेगा?

क्रियावादी :—और जो लोकवादी है वह क्रियावादी भी होता है। जहाँ तक शरीर को आत्मा के साथ सम्बन्ध है तब तक आत्मा भी सक्रिय होता है। सत्-असत् शुद्ध अशुद्ध, शुभ अशुभ क्रिया के दो प्रकार हैं। आत्मा और लोक के ज्ञान बिना की आत्मा की क्रिया असत्, अशुद्ध और अशुभ ही होती है। क्योंकि जिसको खुद का होश नहीं है उसकी क्रिया में असत् आये बिना नहीं रहता।

इसलिए सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होते ही आत्मा का स्वरुप यथार्थ जाना गया है। उसे स्थिर करने में सम्यगज्ञान का सहकार मिलता है, लेकिन सम्यक्चारित्र (सत्क्रिया) बिना आत्मा नये पापों के द्वार बंध नहीं कर सकता है, और पुराने पापों का निकंदन भी नहीं कर सकता है। ऐसी परिस्थिति में आत्मा का कल्याण हजारों माईल दूर रहने पाये यह मान्य हकीकत है।

जैनत्व (अल्पांश या सर्वांश राग द्वेष रहित) की प्राप्ति होते ही आत्मवादी लोकवादी और क्रियावादी बना आत्मा आस्तिक ही होता है इसलिये तीर्थंकर परमात्माओं की प्रत्येक प्ररुपणा को सत्यस्परुप समझकर अपना कल्याण करने में बाधा नहीं आती है।

अब हम प्रस्तुत भगवती सूत्र के अंतिम शतक को मूल आलोचना के अनुसार यथामति विस्तृत रुप से देखेंगे।



शतक ४१ : उद्देशक १

राशियुग्मो की चर्चा :

हे प्रभो आपके शासन में राशि युग्मों की संख्या कितनी है ?

जवाब में भगवंत ने फरमाया कि, हे दीर्घ आयुष्यमान गौतम, मेरे शासन में राशि युग्म चार प्रकार के हैं। (१) कृतयुग्म, (२) त्र्योजयुग्म, (३) द्वापरयुग्म, और (४) कल्योजयुग्म। इस प्रकरण में भी युग्म का अर्थ दो की राशि में नहीं बल्कि संख्यावाचक समझने का है। क्योंकि असंख्यात और अनंतानंत जीवों की गणना करने के यह चार मापदंड हैं।

संख्या छोटी हो या मोटी संख्यात हो या असंख्यात या अनंत हो उसमें चार से भागने से शेष चार बचे तो वह कृतयुग्म, शेष तीन बचे तो त्र्योज, दो शेष बचे तो द्वापर और एक शेष बचे तो कल्योज जानना।

कृतयुग्म नरक मे कहां से आते है ?

हे प्रभो कृतयुग्म राशि वाले नारक जब नरकगति में उत्पन्न होते हैं, तब चारों गतिओं में से कौन सी गति में से आते हैं ?

जवाब में देवाधिदेव भगवंत ने कहा कि, हे गौतम! नरक गति में आयुष्य पूर्ण करके बाहर आया जीव तत्काल यानि कि नरक में से निकलकर तुरंत (दूसरे भव में ही) वापिस नरक में नहीं आता है और देवगति का जीव देवलोक में से

देव और नरक को छोड़कर तिर्यंच और मनुष्य को ही नरक-गति के प्रायोग्य कर्म को बांधने की शकयता होने से इन दोनों गति के जीव नरकगति में उत्पन्न होते हैं। इस विषय को प्रज्ञापना सूत्र का व्युत्क्रांतिपद देखने की सिफारीश की गई है।

कितनी संख्या में जोव नरक में जाते है ?

उसके जवाब में कहा गया है कि, ४-८-१२ आदि की संख्या से लेकर संख्यत्त या असंख्यात जीव एक समय में नरक में जाते हैं। नरक में जाते वे जीव सांतर या निरंतर जाते हैं। यदि सांतर उत्पन्न हो तो जघन्य से एक समय का अंतर पड़ता है और निरंतर हो तो जघन्य से दो समय और उत्कृष्ट से असंख्यात समय तक प्रत्येक समय में अंतर बिना निकलकर सीधा नरक में प्रवेश नहीं कर सकता है। क्योंकि नरक गति में कर्मों की वेदना और अल्पांश से या महद् अंश से निर्जरा ही करने की होने से तत्काल नरकगति के कर्मों को बांधना नहीं पड़ता है। देवलोक के जीव पुण्यकर्म के भोक्ता होने से नरक की योग्यता नहीं रखते हैं। इसलिए तिर्यंच और मनुष्य ही नरक में उत्पन्न होते हैं।

उसके जवाब में कहा गया है कि, ४–८-१२ आदि की संख्या से लेकर संख्यात या असंख्यात जीव एक समय में नरक में जाते हैं। नरक में जाते वे जीव सांतर या निरंतर जाते हैं। यदि सांतर उत्पन्न हो तो जघन्य से एक समय का अंतर पड़ता है और निरंतर हो तो जघन्य से दो समय और उत्कृष्ट से असंख्यात समय तक प्रत्येक समय में अंतर बिना ही उत्पन्न होता है।

जिस समय नरक के जीव कृतयुग्म राशिवाले होते हैं उसी वक्त वे त्र्योज, द्वापर या कल्योज राशिवाले नहीं होते हैं और जिस समय त्र्योज राशिवाले होते हैं उस वक्त कृतयुग्म, द्वापर या कल्योज नहीं होते हैं। इस प्रकार द्वापर या कल्योज के लिए भी जानना।

एक खड्क पर से दूसरे खड्क पर जाना हो तो कूदना ही पड़ता है, और जब मानव कोई भी दिवाल या खड़े को कुदने का प्रयास करता है तब गति को ज्यादा तीव्र करना पड़ता है, जिससे पलक झपते ही कुदा जा सकता है। इस प्रकार हजारों जीवों के साथ उपार्जित की गई ऋणानुबंधन की माया के कारण एक भव की माया को छोड़कर दूसरे भव की माया में जाता हुआ जीव तीव्र गति से कूदनेवाले की तरह दूसरी गति में जाता है।

यद्यपि किसी भी जीव को नरक या तिर्यंच गति में जाना पसंद नहीं होता है, तो भी कर्मसत्ता से सामने जीवात्मा की पसंदगी किसी काल में काम नहीं आती है। इसलिए एक शरीर को छोड़नेवाले जीवों को आनुपूर्व्वी नामकर्म अपने सिकंजे में लेता है और उस जीव को जबरन उन स्थानों में पटक देता है और जीवात्मा को अनिच्छा से भी उन गतिओं के दुःखों को झेलना पड़ता है। इसी कारण भगवंत ने फरमाया है कि, कूदनेवाले की तरह यह जीवात्मा एक की माया को छोड़कर दूसरी गति की माया को छोड़कर दूसरी गति की भाया का स्वीकार करता है।

जिसके हाथ पैर जंजीरों से जकड़े हों उस चोर को सिपाही ले जाते हैं लेकिन चोर अपने पैर से ही चलता है,

लेकिन उसे सिपाही जहाँ ले जाना चाहता है वहाँ जाना ही पड़ता है। यहाँ भी सिपाही की तुलना आनुपुर्व्वी कर्म से करनी और जीव अपने ही किये कर्मों के कारण अपने प्रयत्न विशेष से उन गतिओं में जाता है, जीवमात्र को कुछ भी करने में अपना प्रयोग ही काम में आता है।

नरक गति में जानेवाला जीव अपने आत्म संयम से वहाँ नहीं जाता है, लेकिन असंयम से ही वहाँ जाने का होता है। यानि कि, चार गतिओं में घूमने में आत्मा का असंयम ही मुख्य कारण है। मूलसूत्र में अपने "आयजसेण" शब्द है जिसका अर्थ आत्मा का यश होता है और "यशोहेतुत्वात् यशः संयमः" क्योंकि संयम यश या कारण है, जबकि अयश संयम के अभाव से होता है। चार गति का आयुष्य कर्म आत्मा के असंयम को आभारी है, टीकाकार के शब्दों से समझा जाता है कि, "इह च सर्वेषामेवाऽऽत्माऽयससैवोत्पतिः उत्पतौ सर्वेषामप्यविरतत्वादिति" उत्पति के विषय में सब जीवों के आत्मा में बसा अयश यानि कि असंयम द्वारा ही उत्पति हुई है, क्योंकि भवांतरोत्पति में सब जीव अविरत होते हैं।

उत्पत्ति में अविरत क्यों ?

उत्पत्ति के समय जीव अविरत क्यों होते होंगे ? उसका कारण टीकाकार ने दिखाया नहीं है। फिर भी समज में आये ऐसी बात यह है कि, संयम (विरत) का फल उत्पत्ति नहीं हैं लेकिन अनाश्रत्व है अर्थात् आश्रवरहित जीवन में ही संयम है, अनाश्रत्व का फल तप है, तप से कर्मों का नाश माना गया है। उससे निष्कर्मत्व और उसके बाद जीवात्म की सिद्धि

होती है, लेकिन जहाँ तक इतनी ऊँची स्थिति को जीवात्मा प्राप्त नहीं करता है, वहाँ तक चार गति में जन्म मरण सर्वथा अनिवार्य है। तथा जनम मरण भी जिन जीवों के साथ जिस प्रकार का ऋणानुबंधन होता है उसके यहाँ जन्म लेना पड़ता है। अभी जम्बुद्वीप भरतक्षेत्र के बम्बई में एक जीव का मृत्यु हो और वह घातकीखंड में जन्म लेता है, तथा घातकीखंड का राजाधीराज स्वयंभूरमण समुद्र में मत्स्य के रुप में भी अवतार लेता है और वहाँ से वह जीव नरकभूमि में जाता है है और वह भी नरक से पूर्व दिशा के कोने की ओर न जाते हुये पश्चिम दिशा में क्यों गया ? और वहाँ से बाहर आकर मानव-अवतार लेकर शहनशाह कैसे बन पाया ?

इन सब जीवन-मरण के चक्र में जीवात्मा का संयमभाव काम नहीं करता पर असंयमभाव काम करता है। क्योंकि संयमभाव में (अनाश्रवावस्था में) हरएक जीव के साथ रहे ऋणानुबंधन टूटते हैं। जबकि असंयमभाव में एक दूसरे के एक दूजे के साथ ऋणानुबंधन का बंधन होता है और उसके कारण पाप बंधते हैं।

संयमभाव में जीवात्मा का लक्ष्य मोक्ष के सिवा और कुछ नहीं होता और असंयमभाव में मोक्ष की ओर की जाती उपेक्षा से अन्य जीवों के साथ राग-द्वेष के सम्बन्ध जुड़ जाते हैं। इसमें कभी तीव्रता बढ़ जाती है तब नियाणे बाँधने की प्रक्रिया की ओर ढलने में जीव को ज्यादा वक्त नहीं लगता और जब उन नियाणे की ओर दृष्टिपात किया जाय तब "निदानग्रस्तानां बोधिलाभोऽपि दुर्लभः" इस सूत्रानुसार उन्हें प्रायः बोधिलाभ नहीं होता है तो फिर संयमभाव कैसे हो सकता है ?

भवोत्पत्ति में दूसरे जीवों के साथ बाँधे हुये ऋणानुबंधन से अन्य क्या कारण हो सकता है ? तब चालु भव का जीव जंबुद्वीप के भरतक्षेत्र के अमुक गाँव में मर जाता है और किसी भी भव की अखूरी लेन-देन, प्रपंच, मार-धाड़, रोना-हँसना, भूखों मरना या मारना, भोग्य या भोक्ता बनकर एक दूसरे के शत्रुकर्म पूर्ण करना। जितने समय में यह काम पूर्ण होंगे उतने वक्त के लिए भी ऋणानुबंधन के वश होकर धातकीखंड में जन्म लेना पड़ता है।

वहाँ का हिसाब पूर्ण करके भरत क्षेत्र में जन्म लेता है। इन सब बातों से समझा जाता है कि, जब वह जीव जंबुद्वीय के भरत क्षेत्र में था तब धातकी खंड को देखा भी नहीं है और सुना भी नहीं है, फिर भी ऋणानुबंध को लेकर मरते वक्त भी नियाणावश धातकी खंड का आयुष्य बांधना पड़ेगा, और यहाँ से मरकर वहाँ जन्म लेता है। वहाँ से थोड़े समय के लिए भक्ष्य-भक्षक के नियाणे के कारण जन्म लेते जीव का भक्ष्य या भक्षक अभी कोई भी नदी में, तालाब में या समुद्र में रहा होगा वहाँ ही जन्म लेना अनिवार्य होता है। वहाँ का अपना हिसाब किताब पूर्ण करके तथा किसी किसी भव के पुण्यकर्म के कारण नियाणावश बनकर बम्बई का शहनशाह भी बन जाता है।

इस प्रकार के जन्म मरण के चक्कर सर्वथा अनपवर्तनीय होने से तथा ऋणानुबंध का भुगतने का समय, दिन महीना या वर्ष भी अनपवर्तनीय होने से जीव का स्थानंतर होने का शक्य है। उपरोक्त कारण या दूसरे अगम्य कारणों को लेकर उत्पत्ति के समय में जीव को अविरत (असंयत) कहा गया

है। कोई भी छद्मस्थ मानव, मृत्यु पानेवाले मानवी की लेश्या कैसी होगी? उसे जान नहीं सकता है। यदि अनुमान से जान भी लो तो भी छद्मस्थ (विशिष्ट ज्ञानरहित) के सब अनुमान सच्चे नहीं पड़ते हैं।

आनेवाले भवों के लिए दूसरे जीवों के साथ के संबंध जोड़ने की इच्छा में राग द्वेष ही काम करते होते हैं। जो संयम नहीं बल्कि असंयम ही है। इस बाबत में यदि कह सके कि, यह वचन संयम के फल नहीं है लेकिन असंयम के फल हैं और जिस तरह के संबंध के नियाणे बांधे हैं वे मृत्यु समय भी स्मृति में आये बिना नहीं रहेगा, जो असंयम है।

केले के या आम के पेड़ के पास ही बबुल का पेड़ और वह भी अमुक ही ओर क्यों? ऐसे प्रयत्न मानव की बुद्धि के नहीं है। लेकिन कोई अदृष्ट कारण उसमें छुपा है, वह क्या होगा? मतिज्ञान पर जोर डालने से यह मालूम पड़ता है कि, आम के पत्ते नव दिशा में बाधा रहित होते हैं और एक ही दिशा के पत्ते शूल से (काँटों से) छेदे जाते हैं और उसमें भी जब जब पत्ते के जीव का असातावेदनीय उदय में आता है तभी ही पवन का एक झोंका आता है और पत्ते शूल से छेदे जाते हैं। इन सब बातों के कारणों को सूक्ष्मता से जाना जाये तो एक दूसरे के एक दूसरे जीवों के साथ के परस्पर के ऋणानुबंध में लेनदार, देनदार, भक्ष्य भक्षक, घात्य-घातक सुख-दुःख और रागात्मक या द्वेषात्मक संबंध के अलावा दूसरा एक भी कारण नहीं होता है। क्योंकि संसार के इस रंगमंच पर एक जीव भक्ष्य बनता है तो दूसरा भक्षक बनता है, एक जीव पुत्र, पत्नी, माता, जवाई या पुत्रवधु बनकर

अपना लेना (किसी भव का ऋण) वसूल करता है और दूसरा अदा करता है।

संसार में हम देख रहे हैं कि, पर्युषण, संवत्सरी, आयंबील की ओली, ज्ञान पंचमी या देव गुरू के सरघस जैसे धार्मिक अनुष्ठानों का ख्याल किये बिना भी उनको उतने प्रकार की मेहनत करके भी तथा अपने पुण्य कर्मों का दिवाला निकाल के भी उतने प्रमाण में पैसे कमाने ही पड़ेंगे। जो ऋण अदा करने में समाप्त हो जायेंगे। एक जीव दूसरे की मार खाता है, गालीयां सुनता है और दूसरा मार मारता है, गालियाँ देता है। एक जीव सुखदायक और हास्यदायक है, तो दूसरा सब के लिए दुःख दायक और शोक संताप कारक है। अमुक को देखकर राग आता है, तो दूसरे को देखकर द्वेष आता है। इन सब कारणों में असंयम-अविरत भाव स्पष्ट दिखाई देता है।

इस प्रसंग की थोड़ी तलस्पर्शी जाँच करें।

(१) जीरण शेठ का मानसिक उत्साह भगवान महावीर स्वामी को पारणा कराकर मोक्ष पाने का था। लेकिन दूसरे के हाथ से पारणा होते ही संयम श्रेणी से वंचित रहे और मोक्ष नहीं पा सके।

(२) शालिभद्रजी का जीवन वैराग्य से उत्कृष्ट था, उसमें किसी को भी शंका नहीं है, लेकिन 'आज मेरी माँ के हाथ पारणा होगा' इतनी सी माया के कारण संयम श्रेणी में स्थिर नहीं हो पाये और मोक्ष नहीं मिला पर देवलोक के अधिकारी बने।

(३) देवलोक में भी अपने से पहले उत्पन्न हुये और बाद

में उत्पन्न हुये हजारों-लाखों देवों की सेवा लेने में नियाणा भुगते बिना या सुंदर देवीओं के नाचगान देखने के नियाणे भुगते बिना संसार के बंधन कैसे टूटेंगे ? इसलिए मृत्यु के वक्त अविरत अवस्था होती है।

(४) हजारों-लाखों और करोड़ों जीवों के साथ माया के ऋणानुबंध भुगत लेने के बाद भी गोवालीया के रुप में जन्मे शय्यापालक के वैरानुबंध में से छुटे तब ही मोहकर्म सर्वथा निर्मूल हुआ और केवल ज्ञान के मालिक बने हम सब के तारणहार भगवान महावीर को कैसे भूलेंगे ? इत्यादि कारणों को लेकर सूत्रकार श्री सुधर्मास्वामीजी कहते हैं कि, "उत्पति में अविरत अवस्था ही काम करती है।"

अविरत जीव लेश्यावाले होते है ?

भगवान ने फरमाया कि, जो जीव आत्म असंयमी है, वे लेश्याओं से मुक्त नहीं होते अर्थात् लेश्यावाले होते हैं और जहाँ जहाँ लेश्या है, वहाँ वहाँ मन, वचन और काया की क्रियाओं का निषेध नहीं हो सकता। क्योंकि मानसिक व्यापारिक, वाचिक आत्मिक व कायिक व्यापार में लेश्याएँ जीवंत होती हैं, और जो क्रियावंत हैं वे इन स्थिति में किसी भी काल में सिद्ध नहीं होते और भवपरंपरा से मुक्त नहीं होते। क्योंकि तीन योग को तथा उससे उत्पन्न होनेवाली बादर क्रियाओं को समाप्त नहीं किया जाता तब तक कोई जीव सिद्ध नहीं होता है। मतलब कि जो क्रियावंत हैं वे लेश्यावाले होते हैं और जो लेश्या के मालिक हैं वे संसार की माया में मस्तान हैं इसलिए सिद्धत्व उनके लिए नहीं है। आत्मा के अध्यवसाय को लेश्या कहा गया है जो प्रशस्त और अप्रशस्त दो रुप में हैं।

इस तरह असुरकुमार से लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यंच की वक्तव्यता नारक की तरह जाननी है। केवल वनस्पतिकाय में जन्म लेनेवाले असंख्य और अनंत हैं।

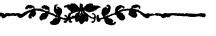
मनुष्यों के लिए भी उपर्युक्त वक्तव्यता है। इस स्थान पर आने के लिए आत्म असंयम ही कारण है।

आत्मा के अयश (असंयम) से मनुष्यावतार को प्राप्त करने बाद, वे आत्म संयम का और असंयम का आश्रय करते हैं। जो सम्यक्त्व सच्चारित्र और सद्ज्ञानी हैं उन्हें आत्मसंयम है, शेष को असंयम है।

आत्मसंयम का आश्रय करनेवाले लेश्या और अलेश्या के मालिक हो सकते हैं। जो लेश्यारहित हैं उन्हें क्रिया नहीं होती, इसलिए सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बनते हैं और आत्मसंयम के कारण जो लेश्यावाले हैं वे मुक्त नहीं बनते।

इस तरह त्र्योंज राशि के नैरयिक, द्वापर कल्योज के नैरयिक आदि १९६ उद्देशक के साथ ३९ वाँ शतक पूर्ण हुआ।

(शतक ३: उद्देशक ११२ समाप्त)



शतक ४१ : उद्देशक–२

शतक की पश्चाद् भूमिका और गौतम स्वामी का अंतेवासित्व :

खानदान, बृहत्काय गजराज की उपमा धारण करनेवाले, देव और इन्द्रों से पूज्य भगवतीसूत्र के ४१ वें शतकों में गणधर गौतमस्वामीजी ने स्वपर ज्ञानवृद्धि के लिए, केवलज्ञान के मालिक, देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी को जो प्रश्न पूछे हैं, उन जवाबों से परिपूर्ण इस प्रस्तुत ग्रंथ के ४१ शतक पूर्ण हुए हैं। विशद, उदात्त, भावपूर्ण और भावदयापूर्ण जवाब सुनकर प्रसन्नचित्त हुए गौतमस्वामीजी श्रमण भगवंत महावीर स्वामी को तीन प्रदक्षिणा देते हैं, परमात्मा के बायें हाथ की ओर से फिरते। फिरते दाहिने हाथ की ओर आकर सन्मुख होकर, 'नमो जिणाणं' कहते हैं उसे एक प्रदक्षिणा कहते हैं, इस तरह तीन प्रदक्षिणा दी जाती है।

भूखे आदमी को जब चारों ओर से खाने का अभाव हो, और जीवन में सर्वथा निराशा आ गई हो, उस वक्त कोई भाग्यशाली उसे मिष्टान्न से संतुष्ट करे तब आनंद से भरा वह अन्नदाता के पैर में पड़कर उसकी प्रशंसा करने में थकता नहीं है। उस तरह अगाध, अमाप तथा भयंकर संसार में में परिभ्रमण करनेवाले जीव को जब असली तत्त्वों का यथार्थ समझाया जाता है, तब उसके आनंद की सीमा नहीं रहती। क्योंकि आज दिन तक इस जीव ने तत्त्वों का ज्ञान विपरीत रुप से या असत्यरुप से पाया है, जिससे उसे कभी इस प्रकार की तृप्ति नहीं हुई थी, इसलिये ही उसकी भवभ्रमणा कभी पूर्ण नहीं हुई है और कम भी नहीं हुई।

यदि किसी वक्त जीव तत्त्व को जान सके हो तो भी उसे लगे तथा लगनेवाले पापकर्मों का यथार्थ निर्णय करने में इस जीव ने आलस्य, प्रमाद किया होने से जीव में से शिव, नर में से नारायण और आत्मा में से परमात्मा नहीं बन पाया।

अनंत संसार में भटकने वाले गौतमस्वामी के जीवात्मा की भी यही दशा थी। यावत् इन अंतिम भव में होने के बावजूद भी जीवन की बहुत सारी मंझिल मिथ्यात्व के रंग में तथा पंडिताई के घमंड में रहकर व हिंसादेवी के भक्त बनकर पूर्ण की थी।

जीवन में कई बार यह होता है कि, अभिमानादि कषायों का नशा जब मर्यादा से ज्यादा बढ़ जाता है तब कभी उसके अच्छे फल भी निकल आते हैं। मस्तिष्कशक्ति सीधे रास्ते आकर शांत होती है, तब ही तो क्रोध के आखरी पद पर पहुँचा हुआ चंडकौशिक नागराज तथा लोभ में पूर्ण रूप से डूबे आनंदकामदेवादि श्रावक भी सफल आराधक बन पाये थे। भोग तथा उपभोग में पूर्ण रूप से मस्तान बने हुये शालिभद्रजी को जब संसार की माया का नशा उतरता है तब वैभारगिरि के शिखर पर अनशन करने में उन्हें कहाँ देर लगी? उसी तरह पांडित्य गर्विष्ठ बने गौतमस्वामीजी (इन्द्रभूतिजी) ने जब महावीरस्वामी की रुपसंपत्ति देखी तब धूप में रखे हुए बर्फ की तरह उनका अभिमान का बहुत सारा हिस्सा पिघल चुका था।

गरुडराज के पास जिस तरह नागराज की शक्ति सर्वथा शांत हो जाती है उसी प्रकार महावीरस्वामी के भावदया से

भरे दो शब्द सुनते ही इन्द्रभूति (गौतमस्वामी) के अभिमान का नशा चूर चूर हो गया था और जब उनकी कुल परंपरा के वेदवाक्य का सत्यार्थ सुना तभी उसी वक्त गौतमस्वामी महावीर स्वामी के अनन्य उपासक अन्तेवासी बनकर कृतकृत्य बन चुके थे, फिर भी पूर्णता अभी दूर थी, इसलिये भगवान के पास से जीव और अजीव तत्व, पुण्य और पाप तत्व, आश्रव और बंध तत्व तथा संवर निर्जरा तत्व की तलस्पर्शी व्याख्या सुनी तभी गौतम के मन वचन और काया परमात्मा के चरणों में झुके उसमें क्या आश्चर्य ?

मानिनी स्त्री को अपनी वेणी पर, व्यापारी को अपने व्यापार पर जिस तरह अगाध माया होती है, उस प्रकार ब्राह्मीन को अपने गले की जनोई और तिलक को माया लगी होती है, फिर भी यह माया केवल मोह के रंग से रंगी होने से जब भी जीवात्मा को सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र, निष्काम-भाव आदि की प्राप्ति होती है तब संसार की माया स्वतः झूठी, नाशकारिणी और आत्मघातिनी जैसी लगती है। इसी कारण हजारों-लाखों की संख्या में स्त्री पुरुष कैवल्यपद को प्राप्त कर सके हैं। उस तरह अपने परंपरा के धर्म की ओर अटूट श्रद्धा रखनेवाले इन्द्रभूति को जब सम्यक् प्रकाश मिला तब श्रमण वेष को पहनने में देर नहीं लगी। साथ साथ अपनी जाति, कूल, आदि तथा संप्रदाय की माया छोड़कर सम्यगज्ञान की माया के पूर्ण भक्त बनते है।

अविच्छिन्न ३० साल तक श्रमण भगवंत महावीरस्वामी के चरण कमल में अंतेवासित्व प्राप्त करके, जीवमात्र का भला हो, सब का मिथ्यात्व का रोग, माया का रोग, मोह का

कौटिन्य कामदेव का मारक विष दूर होकर जीवमात्र सम्यक्त्वी हो मोहमाया के विषकुंड से बाहर आकर संसार के सब भावों की ओर सर्वथा निर्ममत्वभाव उत्पन्न करानेवाला वैराग्य को पाता है ऐसे सब परमात्मा को पूछते हैं, जिससे अगणित मानव, तथा स्त्रीयाँ देवाधिदेव के चरण को पा सके हैं और अपना कल्याण पाने के लिए भाग्यशाली बने हैं।

यद्यपि गौतमस्वामी खुद शुद्ध मतिज्ञान, पवित्र श्रुतज्ञान अबाध अवधिज्ञान और स्पष्टरुप से दीखे ऐसे मनःपर्यायज्ञान के मालिक होने से कृत्य कृत्य बने हैं फिर भी केवल भावदया के स्वामी बनकर ही परमात्मा को प्रश्न पूछे हैं। क्योंकि समवरसण में बैठे किसी जीव को नरक, नरकावास, नरक-शरीर, उनके खानपान तथा आयुष्य मर्यादा के विषय की शंका हो, तो किसी को देव, देवविमान, देवीयाँ, उनके रंगरुप, भौतिक सुख आयुष्य मर्यादा जानने की इच्छा हो, तो किसी को द्वीप, समुद्र, मछलीयाँ, उनकी गति, ह्रद, तालाब, नदी, महानदी, पर्वत उसके अलावा तैर्यंच प्राणी के पापकर्म तथा उनकी गति-अगति को जानने की तमन्ना रखते हैं। किसी को मनुष्य उनके परिवार, कर्म, सुख-दुःख, संयोग वियोग, धर्म-अधर्म, तथा उनके पुण्य-पाप को जानने की इच्छा होती है। इस प्रकार सब लोगों के भावों को अपने मनःपर्याय ज्ञान से जानकर गौतम महावीरस्वामी को प्रश्न पूछते हैं। क्योंकि सब एक ही श्रद्धावाले थे या इस विषय में देवाधिदेव भगवान क्या फरमायेंगे और भगवान के श्रीमुख से जब जवाब सुनता है तब पांच मिनट पहले जो भयंकर क्रोधी, कामी, लोभी, प्रपंची और ईर्ष्यालु होता है, वह मानव भी समताशील, निष्कामी; निर्लोभी, और सरल बन जाता है और सर्वविरती

धर्म, देश विरति धर्म सम्यक्त्वधर्म और मार्गानुसारी धर्म स्वीकार के कितने ही लोग मोक्ष में गये हैं। कितने अनुतर विमान के, कितने वैमानिक देवलोक के मालिक बने हैं। तब नव महापुरुषों ने तीर्थंकर नाम कर्म निकाचित करके भविष्य में लाखों-करोड़ों मानवों को मुक्तिमार्ग पर लाने की योग्यता प्राप्त की है।

भगवान की दिव्य वाणी सुनकर देव-देवेन्द्र, असुर असुरेन्द्र, राजा रानी, शेठानी तथा कामदेव के झूले में झूलते श्रीमंत पुत्र, पुत्रीयां भी खुश होकर मन, वचन तथा काया से परमात्मा के चरणो में झुक जाते थे, तो फिर गौतम स्वामी खुश न हो यह कैसे हों सकता है ?

अपने को भी शीघ्रता से केवलज्ञान की प्राप्ति हो, उसके लिए माया, मिथ्यात्व और निदानस्वरुप तीन शल्य, मन-वचन और काया के दुराचार स्वरुप त्रिदंड, तीन लोक और तीन योग की वक्रता को दूर करने में पूर्ण समर्थ भगवान को तीन प्रदक्षिणा करते हैं, उसके बाद नमन और वंदन करते हैं।

व्यावहारिक भाषा में वंदन तथा नमन लगभग एक ही अर्थ के बाचक है तो भी भगवतीसूत्र में कहीं भी वंदन के बाद नमन शब्द आता ही हो तब उन दोनों में आर्थिक दृष्टि से कोई न कोई फरक हो सकता है। जैसे कि व्याकरण में वंदन अर्थ 'वदुङ् स्तुत्यभिवादनयोः' धातु विद्यमान है। "स्तुतिगुणैः प्रसंशा, अभिवाद पादयोः प्रणिपातः" सारांश यह है कि इस धातु के दो अर्थ हैं जो इस प्रकार है :—

(१) वंदनीय व्यक्ति के गुणों से उनकी प्रशंसा करनी उसे स्तुति कहते हैं। गुणों की चरम सीमा अरिहंत परमात्मा के चरणों में समाप्त होने के कारण विशिष्टतम वंदनीय है, जिससे

उनके एक गुण को लेकर, या अनेक गुणों को लेकर उनकी प्रशंसा करनी वह स्तुति है।

(२) वंदनीय व्यक्ति के चरणों में प्रणिपात अर्थात् मस्तक झुका देना उसे अभिवादन कहते हैं।

उपरोक्त दोनों अर्थवाले इस धातु के 'वन्दित्वा' वंदन करके तथा 'वंदितु' वंदन के लिए, इत्यादि अनेक रुप होते हैं। अंत में चैत्यवंदन, गुरुवंदन आदि शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है। फिर भी वंदन के बाद नमन क्यों रखा? सामान्य आदमी की प्रवृति भी निरर्थक नहीं होती है तो फिर महावीरस्वामी के प्रबल पटधर, चौदह पूर्व के ज्ञाता और द्वादशांगी के रचयिता सुधर्मास्वामी जी की रचना का तात्पर्य हमको समझना ही चाहिये, जो इस प्रकार है। संसार की माया अगाध होने के कारण तथा जीव मात्र को कर्मों का उदय ज्यादा विचित्र होने के कारण जीवात्माओं में स्वार्थांधता, मायांधता, लोभांधता, कामांधता इत्यादि दुर्गुण सत्ता स्थान पर रहते ही हैं।

इत्यादि कारणों से अपने स्वार्थ के लिये, माया-लोभ-काम-वश बनकर भी स्थार्थवृति से या काम की पूर्ति के लिये उनके चरणों में अपना सर रख देते हैं। यानि कि स्वार्थी आदमी अपने स्वार्थ के लिये, लोभी अपने लोभ के लिये, मायावी अपनी मायाजाल में दूसरों को फसाने के लिये और कामदेव के नशे में चकचूर काम की पूर्ति के लिये ऐसे व्यक्तिओं की प्रसंशा करता है, हाथ जोड़ता है, उनके पैर पकड़ लेता है, सारांश यह है कि वंदन क्रिया में आत्मकल्याण से अतिरिक्त दूसरे मायावी दोषों का संभावना नकारी नहीं जा सकती।

इसलिये कर्मों की निर्जरा को ख्याल में रखकर वंदन शब्द के बाद नमन शब्द का प्रयोग करने में आचार्य भगवंतों ने विशिष्टतम दीर्घदृष्टि रखी है। क्योंकि, 'णमं प्रह्वत्वे-नम्रत्वे' नम्र धातु का अर्थ आत्मा की नम्रता में रहा है।

संसार के सब बाह्य और आंतर प्रपंच, माया, आदि को आत्मा के प्रदेश से दूर होने के बाद ही या तो विशिष्टतम आत्मा की शक्ति से उनको अमुक समय तक दबा देने के बाद ही आत्मा नम्र, सरल, पवित्र और अपने तथा पराये के गुणों का बहुमान करता है। इसलिये दो हाथ, दो पैर और सर झुकाकर नमन करना यह द्रव्य नमन है और आत्मिक जीवन में रहे क्रोधावेश, मायावेश, लोभावेश, कामावेश आदि तथा मायाशल्य, मिथ्याशल्य, और निदानशल्य आदि दोषों का शमन या क्षय करने के बाद जो नमन होता है वह भावन-मन है।

ऐसा भावनमन मोक्षाभिन्दी, आत्मकल्याणेच्छु या अनंत संसार में भ्रमण करते हुये भी जो नहीं मिला है उसे पाने के लिये पूर्ण तैयारी जब आत्मा में होती है तब वह भाग्यशाली मन-वचन और काया में से वक्रता को दूर करके भावपूर्वक अपना मस्तक प्रभु के चरणों में या गुरुदेव के चरणों में झुका देगा, क्योंकि, योगवक्रता और अमृता-नुष्ठानप्रद क्रिया को हमेशा बैर होने से इन दोनों का साहचर्य कोई काल में नहीं होता है।

योगवक्र की क्रिया भी वक्र ही होती है, तो फिर क्रियाओं का फल जो इष्ट सिद्धि है उसकी प्राप्ति न हो यह मानी जा सके ऐसी बात है। इसलिये कहा गया है कि, "योगावंचक

प्राणीआ फल लेतां रीझे" अर्थात् मन, वचन और काया का जो आदमी सरल होता है उसकी क्रिया भी सरल होती है। इसलिये इष्ट की सिद्धि होते देर नहीं लगती। इन सब कारणों को लेकर ऐसा भाव जब आत्मा में आता है तब वह साधक बार बार गुरु के उपकार याद आते ही गुरु के चरण में द्वादशावर्त वंदन करता है और नमन करता है। उनके 'अहोकायं' पादस्पर्श करके अपना मस्तक गुरु देव के चरणों में रख देता है। इसी कारण ही षडावश्यक (प्रतिक्रमण) में कई बार द्वादशावर्त से गुरु को वंदन करके नमन करते हैं।

प्रसन्न बने गौतम स्वामी प्रभु को वंदन तथा नमन करके बोले कि 'हे प्रभो! आपने जिस किसी तत्व की प्ररुपणा की है वह वही है, सत्य है, असंदिग्ध है, यानि कि, जीवतत्व है, अजीवतत्व है, पुण्य और पाप तत्व है, आश्रव और बंध है, संवर तथा निर्जरा तत्व है और संपूर्ण कर्मों का क्षय होने के बाद ही मोक्ष है। पुद्गल के सहवास से जीव रुपी है और चैतन्य स्वभाव से अरुपी है। समुद्घात को छोड़कर शरीर-प्रमाणी है। गत्यंतर स्वभावी होने से परिणामी है, कर्मों का उपार्जन खुद करता होने से कर्ता है और किये कर्मों को खुद भुगतता है इसलिये भोक्ता है। कर्म बंधन में बंधा होने से संसार की चार गतिओं में सफर करनेवाला खुद ही है तथा कर्म बंधन से छुटने के बाद खुद अपनी गति से ही मोक्ष में बिराजमान होता है, शरीर प्रमाणी होने से वह आत्मा अंगूठे या चावल के दाने जैसा नहीं है, तथा सर्वव्यापी भी नहीं है। आत्मा को तो ओसवाल, पोरवाल, श्रीमाली, हुमड, सरावक आदि एक भी जाति नहीं है। आत्मा मारवाड़ी, गुजराती, कच्छी, काठियावाली या मालवी नहीं है। आत्मा

काला नहीं, गोरा नहीं, गेहुएँ रंग का नहीं, या सुवर्ण समान भी नहीं है, केवल शरीर के कारण ही भादुती चीज की तरह व्यवहार तक ही विशेषणों से विशेषित बनता है इसलिये हे प्रभु ! जीव तत्व सत्य स्वरुपी और यथार्थ है।

अजीव तत्व भी है, कर्मों की वर्गणा जो जड़ है, पौद्गलिक है उसको जीवात्मा अपने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और प्रमाद से ग्रहण करता है। बंधे हुये ये कर्म आत्मा के प्रदेश के साथ दूध और सक्कर की तरह एकाकार बन जाते हैं और अपनी शक्ति से जीवात्मा को चार गतिओं में घुमाते हैं। पुण्य तत्व को लेकर जीव सुखी बनता है और पाप तत्व को लेकर दुःखी बनता है, दुर्गति को प्राप्त करता है।

इस प्रकार आपश्री की नव तत्व की प्ररुपणा यथार्थता को करती है। उसमें कोई शक या संदेह नहीं है। आपके द्वारा प्राप्त हुयी दिव्य चक्षु के कारण मुझे भी नरक भूमि, उसके शरीर, दुःख, मारकाट परस्पर की लड़ाई प्रत्यक्ष दिख रही है, उसी तरह देव, उनके विमान और पौद्गलिक सुखों का भुगतते हुये भी मैं देख रहा हूँ। इसलिए हे प्रभु ! आपश्री की वाणी यथार्थ है। तथा प्रकार की और असंदिग्ध है, फिर भी प्रमेहवाले को घी, कौये को रात तथा बउल को दिन का प्रकाश नहीं दिखता है उसी प्रकार अनादि काल के अनंत भवों की मिथ्यात्व की माया के ताप (ज्वर) के कारण आपश्री की वाणी उनको अच्छी नहीं लगती है। लेकिन मेरी तरह कोई भी आसन्न भवी आत्मा आपश्री के चरण कमल का स्वीकार करता है तो उसका मिथ्यात्व का भूत हमेशा के लिए पलायन हो जाता है। हे प्रभो ! आपश्री की अमृतवाणी मुझे भी इच्छित है। मुझे ऐसा लगता है जैसे आपश्री के चरणों में

बैठा रहूँ और आपश्री को सुनता रहूँ। हे प्रभो आपश्री की वाणी मुझे स्वीकार्य है, अर्थात् शंका, आकांक्षा या विचिकित्सा रखे बिना ही तुम्हारे उपदेश के शब्द का स्वीकार करता हूँ। क्योंकि आपश्री का यर्थाथ उपदेश सुन कर दूसरे किसी स्वार्थी को सुनने का जी नहीं चाहता है। क्योंकि वे अरिहंत न होने से रागवश, द्वेषवश, स्वार्थवश तथा ऋणानुबंध के कारण पदार्थ को यर्थाथ समझ नहीं पाते। देख नहीं सकते खुद समझ नहीं सके हैं, इसलिए दूसरों को भी समझा नहीं सकते।

इसलिए द्वादशांगी में सर्वश्रेष्ट इस भगवतीसूत्र में तत्वों की जो प्ररुपणा हैं, वो अन्य किसी जगह नहीं है। इसी कारण आपश्री की वाणी स्याद्वाद मुद्रा से मुद्रित होने से इसमें विपर्यता, संशयिता, संशयिता के अनध्यवसिता के भयंकर दोष का नाम निशान भी नहीं है। इसलिए आपश्री की निर्दोष निष्कपट और अवधिज्ञानी मनःपर्यज्ञानी, महा-तपस्वी, योगी, महायोगियों की वाणी से भी सर्वश्रेंष्ठ अमृत-वाणी का पान करके छः खंड के भोक्ता चक्रवर्ती भी आपश्री के शासन को पाकर कृतकृत्य बने हैं। इसके अलावा दूसरे भी अगणित जींवात्मा मुक्त बने, बुद्ध बने और मोक्ष के अनंत सुखों के मालिक बने हैं। इस प्रकार देवाधिदेव तीर्थकर श्री महावीर स्वामी का स्तवन करक, वंदन तथा पुनः पुनः नमन करके गौतमस्वामी जी अपने स्थान पर पधारे।

तीस साल की अखंड उपासना के बावजूद भी अपने आराध्य देव की ओर शुद्धतम प्रेम होने के कारण गौतमस्वामी केवलज्ञान के मालिक होने में समर्थ नहीं बन पाये हैं। इसलिए

खुद को एक समय का प्रमाद न सताये, संसार की एक भी माया स्मृति में न आये, इसलिये मन वचन और काया से पूर्ण समाधिस्थ बने और जागृत रहे तथा अपनी संयम साधना में तथा वपोधर्म की उत्कृष्ट आराधना में तत्पर रहकर भी आत्मा में विहरते रहे।

भगवतीसूत्र में शतकों की संख्या कितनी ?

अनंत संसार में द्रव्य, पर्याय, स्कंध, तथा जीव जिस तरह अनंत है, उस तरह ज्ञान और अज्ञान भी अनंत होने से उसके परिणाम का खयाल हमको न आये यह स्वाभाविक है, इसलिए कल्पसूत्र में चौद पूर्व में रहे अगाध ज्ञान को दिखाने के लिए कितने ही हाथियों के प्रमाण जितनी शाही से लिखा जाये उसे पूर्व कहते हैं, जैसे कि, हाथी ढक जाये इतनी शाही से लिखाये वह एक पूर्व है। उसके बाद चौदह पूर्व तक हाथीओं को भी दुगुना करना, इस प्रकार पूर्व का ज्ञान जिस तरह अपूर्व है, उस प्रकार द्वादशांगी में रहा ज्ञान भी अपूर्व है।

लेकिन महावीरस्वामी के निर्वाण के बाद कलयुग समझो या दूसरा कुछ और समझो, लेकिन सत्यार्थ यह है कि, बारह बारह वर्ष से अकाल पड़ा होने से पूर्व का ज्ञान अकाल की गर्ता में नष्ट हुआ, इसी प्रकार द्वादशांगी की भी वैसी ही हालत हुई होगी अन्यथा परिमाण में गौटाले क्यों हुये ? यदि दूसरों के हाथों भस्मीभूत हुये हों या काल क्वलित हुये हों तो उसे नकारा नहीं जा सकता।

हाल में जो भगवती आगम प्राप्त होता है, उसका प्रमाण इस तरह है। मूलसूत्र की संख्या ४१ की है, किन्तु अवांतर

शतकों को यदि गिना जाए तो १३८ की संख्या होती है। भगवती के प्रथमसूत्र को लेकर बत्तीस शतक के ग्रंथ में अवांतर शतक नहीं हैं। जब तैंतीसवें शतक से उनचालीस शतक तक सात मूल शतकों में बारह बारह अवांतर शतक हैं और चालीसवें शतक में अवांतर शतकों की संख्या इक्कीस की है और आखरी शतक अवांतर शतक रहित होने से सब मिलकर ३२-१-८४-१-२१-१-१ = १३८ शतक संख्या प्रमाण में भगवतीसूत्र का समापन हुआ है। सभी शतकों के उद्देशक की संख्या १९२५ है।

प्रस्तुत ग्रंथ में पदों की संख्या कितनी ?

उत्तोत्तम ज्ञान द्वारा सर्वदर्शी महापुरुषों ने इस भगवती-सूत्र में ८४ लाख संख्या प्रमाण के पद कहे हैं, और अपरिमित विधि और निषेध कहे हैं। इस तरह की हकीकत कहनेवाले उत्तमोत्तम ज्ञान-दर्शन के धारक होने से उनके कथन में कुछ शंका नहीं रहती। किसी वक्त इस ग्रंथ में क्वचित उन प्रमाण के पदों की संभावना हो सकती है। परन्तु अब के विद्यमान सूत्र में उतने पद होंगे ? उन पदों का प्रमाण किस तरह का ? और उनकी गणना कैसे करनी ? और किसी ने दो लाख अट्ठासी हजार पद कहे हैं, इन दोनों में सत्य क्या ? इन सब बातों का निर्णय किसी के पास नहीं हैं। इन पदों की 'गिनती कैसे की जाय उसके लिए टीकाकार, संप्रदायगम्यता पर नजर डाल रहे हैं, यानि कि अपअपने संप्रदाय तथा गुरु परंपरा से पदों की गिनती करनी है। इनमें 'विभक्त्यंतं पदं' इस तरह से पद संख्या गिनने की जरूरत नहीं है। क्योंकि किसी ने एक पद में ही ५१ करोड़ों श्लोकों का परिमाण कहा है। संभव है कि उनमें अनुष्टुम् श्लोक हो सकता है। फिर भी इस बात की

असलिसत केवली भगवंत के अलावा और कौन जान सकता है ?

विधिनिषेध यानि क्या ?

'आप यह कीजिये' यह विधिवाक्य कहलाता है।

'आप यह नहीं कीजिये' यह निषेधमुख वाक्य है। इस भगवती सूत्र में विधि-निषेध (भाव-अभाव) का अधिकार सार्वत्रिक समझना।

विधि यानि.....

प्राणातिपात विरमण, मृदावाद विरमण, अदत्तादान विरमण, मैथुन विरमण, और परिग्रह परिमाण करना। सारांश यह है कि हे जीवात्मन्।

(१) तू सर्वविरतिधर हो तो सर्व से और देश विरतिधर हो तो देश से, प्राणातिपात (दस प्रकार के प्राणों का हनन, मारण, ताड़न, दमन आदि) का विरमण करना।

(२) मृषावाद में तीन प्रकार के मृषावचन का विरमण करना।

(३) तीर्थंकरअदत्त, गुरुअदत्त, स्वामीअदत्त और जीव-अदत्त का विरमण करना।

(४) आठ प्रकार के मैथुनभाव का विरमण करना।

(५) और बाह्य व आंतर परिग्रह का विरमण करना।

इस प्रकार के कथन को विधिवाक्य जानना। जो भाग्य-शाली आत्मा पाँच पापों का विरमण करेगा उनका कल्याण होगा और भव परंपरा से मुक्त होने का अवसर आयेगा। निषेध यानि.....

(१) तू प्राणातिपात अर्थात् प्राणों का अतिपात नहीं करना।

(२) तू मृषादादी मत बनना।

(३) चार प्रकार का अदतादान ग्रहण नहीं करना।

(४) आठ प्रकार के मैथुन का सेवन नहीं करना।

(५) और परिग्रह की माया में नहीं करना।

सारांश यह है कि, तुं यदि प्राणातिपात करेगा तो दुर्गति का मालिक बनेगा, इस प्रकार निषेध मुख से बात की है।

आत्मा कल्याण हो और भाव लब्धि का परिपाक शीघ्र हो, काल लब्धि कम हो इसके लिए विधिवाकयों को विधिरुप मानना, यानि कि, जिस भोजन को, पान को, रहन सहन को, व्यापार को, व्यवहार को तीर्थंकर परमात्मा ने निषेध किया हो उसे तु भी निषेध समझकर आहिस्ता आहिस्ता छोड़ देने का प्रयास करना और विधिरुप से कहा है उसका स्वीकार करने के लिए ओध और लोक संज्ञा का त्याग करके ज्ञान-संज्ञापूर्वक प्रयत्न करना। इस प्रकार विधि निषेध वाकयों में स्याद्वाद का आश्रय लेने की भूल करना नहीं, अन्यथा जीव-हिंसा भी धर्म है और जीवहिंसा का विरमण भी धर्म है। मृषावाद धर्म है और सत्य भी धर्म है। इत्यादि प्रसंग उपस्थित होते ही मतिज्ञान में तूफान उठे बिना नहीं रहेगा। इसलिए जीवन शुद्धि की जो आचार संहिता हो उसमें स्याद्वाद को बीच में लाने की जरूरत नहीं है। इसलिए जीव हिंसा पाप ही है, चोरी, मैथुन, भाव, परिग्रह आदि पाप ही है। इसमें पाप की भावना कायम रहने से किसी समय उसका त्याग भी सुलभ बनेगा।

आचारांग सूत्र में जो आश्रव है वह संवर है और जो संवर है वह आश्रव है। यह वाकय ऐसे प्रकार की शरीरादि परिस्थिति के कारण केवल विशिष्टतम ज्ञानीओं के लिए ही जाननी, जिसका भाव आश्रव मिट गया है और द्रव्य आश्रव भी मर्यादित है। लेकिन सर्वसामान्य आदमी को आश्रव संवर नहीं बनता और संवर आश्रव नहीं बनता।

संघ समुद्र का जय हो :

प्रमाद और अतिचार रहित समिति गुप्ति के आराधक मुनिराज और साध्वीजी महाराज तथा मार्गानुसारी और श्रावक गुण विशिष्ट बारव्रत के धारक श्रावक और श्राविका जिसमें है उसे चतुर्विध संघ कहा गया है। या तो संघ को तीर्थ भी कहा गया है। ऐसे संघ को समुद्र की उपमा दी गई है, समुद्र में भरती होती है, पानी होता वेग होता है इसलिए समुद्र रमणीय बनता है, इसी प्रकार संघरुपी समुद्र में भी निर्मल सम्यग-ज्ञानरुपी पानी है, पानी की तरह ज्ञान भी विपुल है, क्योंकि संसार में द्रव्य अनंत है और एक एक द्रव्य के पर्याय भी अनंत है। उन सब को स्पर्श करने की ताकत सम्यगज्ञान के पास ही होने से उसे विपुल कहा गया है। सारांश कि विपुल ज्ञान जिसमें पानी के रुप से है, तप, नियम व विवेक भरती के रुप में हैं, तथा अनेक हेतु बड़े वेग की तरह है, ऐसे संघ का हमेशा जय हो।

गौतमादि गणधरों को वंदना :

शत प्रतिशत पुण्यकर्मों की सीमा तीर्थंकरों के चरनों में समाप्त होती है जब एक पैसे से नीचे का क्रम गणधर भगवंतों का है, क्योंकि वे भी पुण्य प्राप्त उसके बाद इन्द्र, वैमानिकदेव,

नागकुमार देव, चक्रवर्ती, वासुदेव और प्रतिवासुदेव तथा राजा, महाराजाओं का होता है।

केवलज्ञान के प्राप्ति के बाद तुरंत ही तीर्थंकरनामकर्म का उदय होते ही वे परमात्मा सातिशय तीर्थंकर कहलाते हैं, तब इन्द्रों के अचल सिंहासन भी चलित होते हैं और करोड़ों की संख्या में देव, देवी तथा चौसठ इन्द्र, तीर्थंकरपद का महोत्सव करते हैं और प्रथम देशना पूर्ण होते गणधरों की रचना के बाद चतुर्विध संघ की रचना होती है ।। वे गणधर तीर्थंकर परमात्माओं के अंतेवासी होने से प्रभु के श्रीमुख से प्रसारित वाणी का एक एक अक्षर अपने कर्मगोचर करते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर को गणधर संख्या एक समान नहीं होती। श्रीऋषभदेव के गणधर चौरासी थे और महावीरस्वामी को ग्यारह थे। साधु समुदाय एक स्थान पर जुटकर वांचना का स्वीकार करते हैं उसे 'गण' कहते हैं और वाचना देनेवाले गणधर कहलाते हैं। गौतमस्वामी सर्वप्रथम गणधर थे और सुधर्मास्वामी जी पाँचवें थे।

गौतम स्वामीजी :

मगधदेश के गुब्बरगाँव में (गोबरगाँव) में वसुभूति नाम के ब्राह्मन थे। उनकी धर्मपत्नी का नाम पृथिवी था और इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति नाम के तीन पुत्र थे। वे चौदह विद्या व ब्राह्मनशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे, गौतमगोत्रीय होंने से इन्द्रभूति, गौतमस्वामी के नाम से जगप्रसिद्ध हुये थे। जिन्दगी की लम्बी सफर यानि पचास साल तक गृहस्थाश्रम में रहकर ब्राह्मनकर्म, यज्ञयाग, पठनपाठन आदि में पूर्ण करते हैं। बहुत से पंडितों में बड़ा इन्द्रभूत होने से चारो

ओर उसका प्रभाव था और उनके उच्चारे हुये मंत्रो से यज्ञ में देव और देवियाँ भी हाजिर रहते थे । एक दिन सोमिल नाम का श्रीमंत, धनवान ब्राह्मन ने बहुत बड़ा यज्ञ किया। उनमें विधि विधानकार मुख्य ग्यारह पंडित थे। उनका शिष्य परिवार और यज्ञ में शामिल होनेवाले हजारों ब्राह्मन थे। जिस दिन यज्ञ का प्रारंभ हुआ, वह बैशाख सुद ११ का दिन था, पंडितों की पंक्ति में इन्द्रभूति सबसे पहले थे और मंत्रोच्चार कर रहे थे।

उस वक्त मगध देश के क्षत्रियकुंडनगर में सिद्धार्थ राजा के घर तीस साल की जवानी में वर्धमानकुमार (महावीर-स्वामी) ने दीक्षा का स्वीकार किया था और साढ़े बारह साल तक सर्वथा अद्वितीय तपश्चर्या रुपी अग्नि में कर्मकाष्ठों को भस्मसात् करके बैशाख सुद १० की रात को केवलज्ञान के मालिक बने थे। प्रथम देशना के वक्त रात का समय था, इससे देशना में कोई हाजिर नहीं था। क्योंकि मानव समाज द्रव्य और भावनिद्रा में सोया था, और देवों का व्रत, नियम और पच्चक्खाण नहीं होते हैं। उसके बाद जोगानुजोग लाभ के प्रसंग देखकर तीर्थंकर परमात्मा महावीर स्वामी जी चतुर्विध संघ की स्थापना का समय हो चुका है ऐसा जानकर विहार करके 'महासेनवन' में पधारे। देवों ने समवसरण की रचना की और परमात्मा पूर्वाभिमुख विराजमान हुये, मानव समूह समवसरण की ओर आने लगा और बैशाख सुदी ११ के मंगल दिन को प्रथम देशना हुई। उस वक्त ही लाखों करोड़ों देव-देवीयाँ, इन्द्र और इन्द्राणियाँ आकाश में जयघोष करते और देवंदुदुभी के जोरदार नारे लगाते हुये एक के बाद एक सम-

वसरण की ओर आने लगे। उस वक्त विस्तीर्ण आकाशमार्ग भी संकीर्ण हुआ।

इस प्रकार देव-देवीयों के दिव्यघोष को सुनकर यज्ञ में हाजिर पंडित खुश होकर प्रारंभ में कहने लगे कि, 'यह देव अपने यज्ञ में आ रहे हैं,' लेकिन उनको जब समवरण की ओर जाते देखा तो इन्द्रभुति की भ्रकूटि वक्र हो गई और वे अपने आसन पर से खड़े होकर पैर की एड़ी को तीन बार जमीन पर पटक कर बोले 'अरे देव। आप लोग पवित्रतम यज्ञ को छोड़कर अन्यत्र कहाँ जा रहे हैं? एक देव से पता चला कि वे महावीर नाम के सर्वज्ञ को वंदन करने जा रहे हैं।

यह बात सुनकर रोष, क्रोध और अहंकार से भरे इन्द्र-भूति अपने ५०० शिष्य के साथ महावीर के। पराजय देने के लिये तैयार होकर समवसरण की ओर निकले। लेकिन सम-वसरण के प्रथम सोपान पर ही उनकी दृष्टि महावीर परमात्मा पर पड़ी और उनके जीवन में हताशा ने प्रवेश किया।

ऊपर आने के बाद जब प्रभु ने कहा कि, "आईये इन्द्र-भूति आपका स्वागत है, बैठिये और थकान उतारिये" कुछ चलकर आये उसकी और भव भवांतर में घुमे उसकी भी जो थकान है उसे उतारिये। चाँदी की घंटी जैसे और हृदय के अन्दर से निकले महावीर के यह शब्द सुनकर इन्द्रभूति के मनरुपी पर्वत के आठों शिखर डोलने लगे। उसमें से एक के बाद एक जातिमद, कुलमद, विद्यामद, रुपमद और ऐश्वर्यमद आदि के पत्थर निकलते गये और इन्द्रभूति का मन प्रभुचरण में झुकने के लिये तैयार हो गया।

उसके बाद दया के सागर परमात्मा ने कहा कि, हे गौतम ! आप इतने बड़े पंडित हो तो यह बताईये कि, 'जीव है या नहीं ?' इस विषय की शंका तुम्हारे आंतरजीवन में तहलका मचा रही है यह सत्य है कि नहीं ? बाद में प्रभु ने वेदों के सत्य अर्थ से इन्द्रभूति को शंकारहित किया और उन पंडित का मन-वचन-काया, उनके ब्राह्मन कर्म, जनोई, खड़ाऊ, पीताम्बर, नीलांबर, चोटीय, तिलक आदि महावीर स्वामी के चरणों में रखा गया और इन्द्रभूति ने अपने शिष्यों के साथ श्रमण धर्म स्वीकारा।

भवभवांतर के स्नेह संबंध की माया के कारण गौतम-स्वामीजी विश्वासपात्र, संघ के अधिनायक, जीवमात्र में दयाबुद्धि को धारण करनेवाले तथा अपनी ज्ञानलब्धि से जीवात्मा को सम्यग्मार्ग दिखाने वाले सबसे प्रथम शिष्य थे। खुद चार ज्ञान के मालिक थे, फिर भी प्रभु के वचन उनके लिये श्रद्धेय रहे।

तीस साल तक प्रभु की सेवा में रहे और अस्सी साल की उम्र हुई तभी महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद तत्काल ही कार्तिक सुदी १ के मंगल प्रभात से पहले केवल ज्ञानी बने और उसी पर्याय में विचरे और ९२ वर्ष की उम्र में निर्वाण प्राप्त किया।

(२) अग्निभूति नामक दूसरे गणधर थे। ४६ साल तक गृहवास में रहकर दीक्षित हुये और संयम के बारह साल पर केवली बने, १६ साल तक केवली पर्याय में विचरे और महावीर से पहले ही अवसान हुआ।

(३) वायुभूति नामक तीसरे गणधर थे जन्म से ४२ वर्ष पर दीक्षित हुये, १० साल तक छद्मस्थ रहकर केवली बने, १८

साल तक केवली पर्याय में विचरे और प्रभु से पहले निर्वाण हुआ। (तीनों गणधर सगे भाई थे)

(४) व्यक्त नामक चौथे गणधर थे, कोल्लाक सन्निवेष के रहनेवाले धनमित्र और वारुणी दंपती के पुत्र थे, भारद्वाज गौत्र था। जीवन के ५० साल तक गृहवास में रहे, १२ साल तक छद्मस्थ रहकर केवली बने, १८ साल तक केवली पर्याय में विचरे और महावीर से पहले ही मोक्षवासी बने।

(५) सुधर्मा नामक पांचवें गणधर थे, कोल्लाक सन्निवेष गाँव में धम्मिल और भद्दिला दंपती के पुत्र थे। अग्नि वैशायन गौत्र के थे, जन्म से ५० साल तक गृहवास में रहे। उसके बाद दिक्षित हुये और ४२ साल तक छद्मस्थ रहे, ८ साल केवली पर्याय में विचरे और १०० साल का आयुष्य पूर्ण करके महावीर स्वामी के बाद निर्वाणाधीन हुये।

(६) मंडित नाम के छठे गणधर थे, मौरिक सन्निवेष के धनदेव और विजया दंपती के पुत्र थे, वासिष्ठ गौत्र था, ५३ साल तक गृहवास में रहे, १४ साल छद्मस्थ रहे, १६ साल केवली पर्याय में विचरे और ८३ साल का आयु पूर्ण करके निर्वाणाधीन हुये।

(७) मौर्यपुत्र सातवें गणधर थे, मौरिकसनिवेष के मौर्य और विजया दंपती के पुत्र थे, काश्यप गोत्र था, ६५ साल तक गृहावास में रहकर १४ साल तक छद्मस्थ रहे, १६ साल तक केवली पर्याय में रहे और ९५ साल में निर्वाण पाया।

(८) अकंपित नाम के आठवें गणधर थे, मिथिला नगरी के देवसेन और जयंती दंपती के पुत्र थे, गौतम गोत्र के थे, ४७ साल तक गृहस्थ रहे, ९ साल तक छद्मस्थ रहे और २१ साल केवली पर्याय में विचरे, ७८ की साल में निर्वाण पाया।

(९) अचल भ्राता नामक ९ वें गणधर थे। कौशला देश के वसु और नंदा के पुत्र थे, हरित गोत्री थे ४६ साल गृहवास, १२ साल छद्मस्थ, १४ साल केवली पर्याय और ७२ साल में निर्वाण हुआ।

(१०) मेतार्थ नामक दसवें गणधर थे, वत्सभुमि के तुंगिक संनिवेष के दत्त और वरुणदेवी के कौडिन्य गोत्र के थे। ३६ साल तक गृहावास, १० साल छद्मस्थवास, १६ साल केवली पर्याय और ६२ साल में निर्वाण हुआ।

(११) प्रभास नाम के ११ वें अन्तिम गणधर थे, राजगृह के बल और अनिभद्रा के कौडिन्य गोत्री थे। १६ वर्ष गृहवास ८ साल छद्मस्थवस्था, १६ साल केवली पर्याय और ४० साल में निर्वाण।

(पं० बेचरदास संपादित भगवती के प्रथम भाग में से)

ये ११ गणधर १४ पूर्व के ज्ञाता, लब्धि संपन्न, देदीप्यमान शरीरवाले, ऊंचे गोत्र के तथा विद्याओं के पारगामी थे। सब राजगृही नगरी में निर्वाणाधीन हुये।

गौतमस्वामी जी (इन्द्रभूतिजी) समचतुरस्र संस्थान, वज्रऋषभनाराच संघयण तथा कमल के केसरा जैसे सफेद वर्ण के थे। उग्र तपस्वी, दीप्त तपस्वी, तथा महान तपस्वी थे। उपरोक्त सब गौतमस्वामी प्रमुख गणधरों को मन-वचन और काया से वंदन है, भाववंदन है।

व्याख्या प्रज्ञाप्ति (भगवती) को वन्दना :

यह प्रस्तुत आगम ग्रंथ प्राकृत भाषा में विवाहपण्णत्ति और संस्कृत भाषा में 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' के नाम से प्रसिद्ध

हुआ है। तथा इस सूत्र में कई बार हरएक प्रश्न में, देवाधिदेव पुण्यनामधेय, परमात्मा श्री महावीर स्वामी का तथा प्रत्येक स्थल में मंगलमूर्ति, ऋद्धिसमृद्धिदायक, द्रव्य तथा भाव लक्ष्मी के दाता, मुक्ति तथा मुक्ति देनेवाले, श्री गौतमस्वामी जी (गणेश-गणपति-गणधर) का पवित्र नाम आने से यह ग्रंथ सबके लिए पूजनीय है, इसलिये यह 'भगवतीसूत्र' कहलाता है।

ग्रंथ रचयिता श्री सुधर्मास्वामी नहीं पर मूल ग्रंथ लेखक टीकाकार महासय व्याख्या प्रज्ञप्ति को वंदन करते हैं। क्योंकि पुस्तकारुढ़ अकार से लेकर हकार तक के शब्दों से लिखा गया आगमग्रंथ द्रव्यश्रुत होने पर भी भावश्रुत के लिए सर्वथा अलौकिक, अद्वितीय मौलिक कारण है, इसलिए जिससे इष्ट साधना होती हो वह द्रव्य हो फिर भी वंदनीय, पूजनीय, आराधनीय, स्मरणीय और श्रद्धेय है। इसलिए द्रव्यश्रुत को वंदन करना सबके लिये इष्ट है। अपने गुरु द्वारा लिखी किताबों से भी ज्ञान प्राप्त होता है, इसलिये उनका बहुमान करना यथार्थ है।

द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ, द्रव्यक्रिया तथा भावक्रिया, द्रव्यपूजा और भावपूजा का व्यवहार जैसे बहुमाननीय है, उसी तरह द्रव्यश्रुत और भावश्रुत के लिये जानना है। पालीताणा गिरनार, आबु, राणकपुर आदि द्रव्यतीर्थ हैं और उन तीर्थस्थलों में भ्रमण करते हुये आत्मा खुद अपना तारक बनता है, तब वह आत्मा भावतीर्थ कहलाता है। यह समझना सरल है कि आत्मा की इस प्रकार की विशिष्ट स्थिति प्राप्त कराने में यह द्रव्य तीर्थस्थल ही मुख्य हेतुरुप हैं।

प्रतिक्रमण, पूजा, जपमाला आदि द्रव्यक्रिया हैं और इन द्रव्यक्रियाओं को करनेवाला आत्मा एक दिन मन-वचन और काया से करण-करावण और चौरासीलाख जीव योनि के जीवों का हनन आदि तथा अठारह पाप-स्थानकों के सेवन आदि का 'मिच्छामि दुक्कडम्' देने की भावक्रिया का मालिक बनेगा। आज कोई भाग्यशाली द्रव्य-पूजा में मस्त है, तो इन द्रव्यक्रियाओं को करनेवाला आत्मा एक दिन इरियावही या नमुत्थुणं बोलते बोलते ही अपना कल्याण कर पायेगा। तीर्थंकर परमात्माओं के जीवात्मा भी एक दिन द्रव्यमुनि थे।

परंतु उन क्रियाओं का अभ्यास जब बढ़ता चला गया तब तीर्थंकर के भव में भावमुनित्व प्राप्त करने में पूर्ण सफल बने थे। द्रव्यलिंगधारी को देखकर भावलिंगी मुनि की कल्पना तथा स्थापना तीर्थंकर को देखकर भावतीर्थंकर को भी हृदय-कमल में स्थापित कर सकते हैं।

उस तरह द्रव्यश्रुत और भावश्रुत के लिए जानना है। साधक भावश्रुत को हृदयंगम करने की उत्कट भावना वाले होते हैं, किन्तु उनकी प्राप्ति द्रव्यश्रुत की आभारी है। समवसरण में बैठकर तीर्थंकर की वाणी श्रोतामात्र को द्रव्य-श्रुत है। आचार्य, उपाध्याय व मुनि मात्र का व्याख्यानश्रवण या पुस्तक श्रावक के लिए द्रव्यश्रुत है। यह समझने की बात बहुत आसान है कि पाँच मिनट पहले जो द्रव्यश्रुत था वह दूसरे समय में भावश्रुत का स्वरुप धारण कर लेता है। बेशक! उसे भावश्रुत की तरह परिणत करने की ताकत साधक को रखे बिना छुटकारा नहीं है।

यदि साधक यह शक्ति पायेगा, मनन शक्ति बढ़ायेगा, मतिज्ञान में काम, क्रोध, लोभ, प्रपंच आदि का अवरोध करने में समर्थ बनेगा, तो उस साधक के लिए आज का द्रव्यश्रुत कल का भावश्रुत बनने में देर नहीं लगेगी। अन्यथा चाहे कितने ही आगम, पाठ, सूक्त, व्याख्यान और पुस्तकों से भी जितना चाहिये उतना लाभ लिया नहीं जा सकेगा। इसलिये भावश्रुत को प्राप्त करने में द्रव्यश्रुत ही मौलिक कारण होने से भावश्रुत जिस प्रकार मन, वचन, और काया से वंदनीय है उस तरह द्रव्यश्रुत भी अवश्य वंदनीय बनेगा। इसी कारण ही जिस किताब से तत्वज्ञान पाने का है उस किताब की आशातना, हीलना या अपभ्राजना की नहीं जाती।

लेकिन इस हकीकत को समझने में भूल होने से परिणाम यह आया है कि, घी, तेल, वगार आदि के चिकने पात्रों को भी अखबार के पन्ने से साफ करने की धृष्टता बढ़ गई है। जो गृहस्थ को भी हीलना करने का कारण बनती है। इसलिये द्रव्यश्रुत चाहे कहीं भी लिखा हो उसकी आशातना पाप ही है।

द्रव्यपूजकों में से ८०-९० प्रतिशत आदमी भावपूजक बनते हैं, जबकि, द्रव्यपूजा, किया या श्रुत का तिरस्कार करनेवाले बहुधा ८०, ९० प्रतिशत निष्फल, कोरे और गंगा गये गंगादास, जमना गये जमनादास जैसे होते हैं।

व्याख्या प्रज्ञाप्ति यानि ?

(१) इसमें 'वि', आ, ख्या, प्र और ज्ञप्ति शब्दों का समास है। सबका अर्थ टिकाकार की तरह ही करेंगे।

'वि' यानि विशेष, भिन्न भिन्न प्रकार से, 'आ' का अर्थ अभिविधि या मर्यादा होता है । अभिविधि यानि अमुक प्रकार से संपूर्ण ज्ञेय पदार्थों की प्राप्ति जिसमें रही हो । मर्यादा यानि परस्पर असंकीर्ण-विशाल (हेत्वाभासादि दोषरहित) लक्षण से जिसमें तत्वों का प्रतिपादन किया हो ।

'ख्या' यानि कथन, भिन्न भिन्न प्रकार से जीव, अजीव आदि द्रव्यों का, पर्यायों का कथन ।

'प्र' प्रकृष्टतापूर्वक यानि कि, जिस कथन में कोई जात का संशय, विपर्यय या अनध्यवसाय आदि दोष (बाध) नहीं है । 'ज्ञप्ति' यानि प्रतिपादन ।

उपरोक्त शब्दों का सामूहिक अर्थ यह है । भगवान श्री महावीर स्वामी ने गौतम गणधरादि शिष्यों के पूछे पदार्थों का निर्णय अर्थात् प्रतिपादन की गई व्याख्या और उसका प्ररुपण श्रीमान पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी ने अपने मुख्य शिष्य श्री जम्बूस्वामी को जिसमें कहा है वह व्याख्याप्रज्ञप्ति कहा गया है ।

आगमो की रचना की पद्धति इस प्रकार है । 'आर्य सुधर्मास्वामी अपने मुख्य पटधर श्री जम्बूस्वामी को कहते हैं कि, 'हे आयुष्यमान ! जम्बू ! मैंने खुद ही समवसरण में बैठकर परमात्मा का एक एक वचन प्रमाद बिना जो सुना था वह तुझे कहता हूं ।' ऐसा कहकर भगवान के पास से सुना सब श्रुतज्ञान जम्बूस्वामी को कहते हैं, इसलिए इसका नाम 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' सार्थक है ।

(२) विविध प्रकार से जो श्रुतज्ञान तीर्थंकरों से कहा गया है, उन पदार्थों की वृतिओं का जिसमें कथन किया गया है

वह व्याख्या प्रज्ञप्ति है। सारांश यह है कि, अभिलाप्य और अनभिलाप्य रूप से दो प्रकार के पदार्थ हैं, यद्यपि केवली भगवंत के लिए कोई भी पदार्थ अनभिलाप्य नहीं होता, फिर भी उनकी आयुष्य मर्यादा कम होने से और पदार्थ अनंतानंत होने से जिन पदार्थों को तीर्थंकर भी कह नहीं पाये । जैसेकि एक लाख पूर्व के केवली श्री ऋषभदेव के लिए भी कुछ पदार्थ अनभिलाप्य थे, तो फिर सिर्फ तीस साल के केवली पर्यायवाले महावीरस्वामी के लिये भी अनभिलाप्य हो तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

और आठ साल तक के केवलीपर्यायवाले सुधर्मास्वामी जी सभी पदार्थों को जम्बूस्वामी को कैसे कह पायेंगे ? अपने केवलज्ञान में अमुक पदार्थ तीर्थंकरों के लिए भी अज्ञेय व अप्ररुपणीय हो यह अर्थ अनभिलाप्य का नहीं करना है, किन्तु हरएक पदार्थ का प्ररुपण क्रमशः होता हैं, इसलिये और आयुष्य मर्यादा कम होने से जिन पवार्थों का वर्णन करने की क्षमता नहीं होती वह अनभिलाप्य है। अथवा ऋषभदेव को जो अनभिलाप्य था वह महावीरस्वामी को अनभिलाप्य नहीं हो सकता। क्योंकि द्रव्यमात्र को और उनमें रहे अनंत पर्यायों के भूत, भविष्य तथा वर्तमान स्वरुप को सभी तीर्थंकर एक समान जाननेवाले होते हैं और प्ररूप सकते हैं, परन्तु उनकी प्ररुपणा करने के लिए आयुष्य मर्यादा सबकी एक समान होती नहीं है। इसलिए जिनकी परुपणा के लिए जितना समय इच्छित हो वह नहीं मिलता हो तो उनकी परूपणा नहीं की जाती।

इसलिये वह अनभिलाप्य है और इससे विपरीत यानि पूछी हुई बातें कहनी अभिलाप्य है। जो द्रव्य ऋषभदेव

परमात्मा को अभिलाप्य थे उनमें से कई द्रव्य महावीरस्वामी को अनभिलाप्य थे और जो महावीरस्वामी को अभिलाप्य थे वे सुधर्मास्वामी को अनभिलाप्य रहे थे।

(३) अरिहंत परमात्माओं ने की हुई अर्थ प्रतिपादनाओं की व्याख्याओं में प्रकृष्ट, श्रेष्ठ, सर्वथा अद्वितीय, दूसरों के लिये सर्वथा अशक्य ज्ञान जिनमें है, उसे व्याख्या प्रज्ञप्ति कहते हैं। इस सूत्र में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर आदि का ज्ञान समाविष्ट है, सारांश कि कर्मों के बंधन में से मुक्ति पाने के लिए आश्रव, संवर और निर्जरा तत्व भी स्वीकार्य हैं। क्योंकि संवर द्वारा आश्रव (कर्मों को आने का द्वार) को यदि रोका न जाये तो सिर्फ जीव का स्वरुप जानने से क्या फायदा ? तथा 'अह ब्रह्माऽस्मि, नित्योऽस्मि, शुद्धोऽस्मि, बुद्धोऽस्मि, एकोऽएंबहुस्याम्' आदि शब्द करोड़ों बार बोले जाये फिर भी संवर और निर्जरा रहित आत्मा का इष्ट कैसे हो सकता है ? क्योंकि अब के हाल में अपना आत्मा माया में, प्रकृति में, अज्ञान में तथा प्रकृति के जाल में फँसा हुआ होने से जीवात्मा को जिस तरह अपने स्वरुप का ज्ञान आवश्यक है, उस तरह पुण्य, पाप, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा तत्त्व भी जानने चाहिये, उन्हें समझकर जीवन में हेय को हेयस्वरुप से और उपादेय को उपादेय स्वरुप से स्वीकारना अति आवश्यक है। इस व्याख्याप्रज्ञप्ति में अलग अलग नव तत्त्वों का ज्ञान भरा होने से यह नाम सार्थक है।

(४) व्याख्या, प्रज्ञा और आप्ति इन तीन शब्दों के समास से व्याख्याप्रज्ञप्ति शब्द बनता है। व्याख्या यानि अर्थकथन और प्रज्ञा यानि अर्थकथन में हेतुरुप जिस बोध को प्रज्ञा कहा जाता है, उसकी आप्ति यानि प्राप्ति सारांश कि

उस उस व्याख्याओं को समझने के लिये बोध की प्राप्ति जिनमें विशिष्टरुप से हो वह व्याख्या प्रज्ञप्ति है।

(५) आप्ति के स्थान पर 'आत्ति' शब्द का ग्रहण भी होता है, यानि की व्याख्याओं का बोध ग्रहण करना व्याख्या-प्रज्ञप्ति है।

(६) विविध प्रकार से अर्थों का-नयों का प्ररुपण विवाह-प्रज्ञप्ति कहलाता है। इस प्रकार से श्रुतज्ञान के सागर समान भगवतीसूत्र को मेरी वंदना है।

द्वादशांग गणि पटिक को नमस्कार :

समवसरण में बिराजमान तीर्थंकर परमात्मा 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य' इस त्रिपदी का उपदेश देते हैं और गणधर भगवंत अपनी लब्धि विशेष से उनकी द्वादशांगी बनाते हैं। सारांश यह कि शरीर में जिस तरह बारह अंग मुख्य हैं, उस तरह तीर्थंकरों की बोली में भी बारह अंग हैं, इसलिये "द्वादशानामङ्गनां समाहार इति द्वादशांगी" कहते हैं। संसार में रहे हुये पदार्थों की जो स्वाभाविकी व कार्मिणी व्यवस्था है, उसे यथार्थवादी परमात्मा यथार्थ रुप से देखते हैं, द्रव्य मात्र में मूल द्रव्य रुप से ध्रौव्य और पर्याय रुप से उत्पाद और व्यय रहे हैं, इसलिये घास से लेकर इन्द्र तक के अनंत द्रव्यों में तीनों की व्यवस्था सुसंगत और तर्कगम्य है।

गणधर लब्धिविशिष्ट होने से अपनी ज्ञान लब्धि से तीन पदों का आलंबन लेकर द्वादशांगी की रचना करते हैं, जो आज भी विद्यमान है। उन सब में भिन्न भिन्न विषय हैं। क्योंकि चतुर्विध संघ के साधु साध्वी और श्रावक श्राविका के दो भेद हैं। उसमें साधु महाव्रतधारी और श्रावक अणुव्रतधारी

है, इसलिए द्वादशांगी में कितने अंग महाव्रतधारीओं के लिए और कितने श्रावक धर्म के प्रतिपादन करनेवाले हैं, जो हम संक्षिप्त में देख लेंगे।

(१) आचारांग :—द्वादशांगी का प्रथम अंग है, जिसमें समिति गुप्ति के पालक मुनिराज तथा साध्वीजी महाराज के अहिंसा संयम तथा तपोधर्म को पुष्ट करे ऐसा आचार, गोचरी (भिक्षा लेने की विधि) विनय, वैनयिक कायोत्सर्गादि करने के स्थान, विहारभूम्यादि में गमन, शरीर का श्रम दूर करने के लिए उपाश्रयों में गमन, आहारादि का प्रमाण, स्वाध्यायादि में नियोग, भाषा समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि (धर्मोपकरण) भात, पानी, उदगम, उत्पात और ऐषणादि दोषों की विशुद्धि, शुद्धाशुद्ध ग्रहण, व्रत, नियम, तप और उपधान का विस्तृत वर्णन हैं। यानि कि प्रथम आचरांग में इतने विषयों का स्पष्टीकरण है। उसके दो श्रुतस्कंध, पचीस अध्ययन, ८५ उद्देशक, समुदेशक और १८ हजार पद हैं।

(२) सूत्रकृत (सुअगडांग) :—द्वादशांगी का दूसरा अंग है। जिसमें स्वसिद्धांत, परसिद्धांत, स्वपरसिद्धांत जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध, और मोक्ष तक के पदार्थ के अलावा इतर दर्शन से मोहित, संदिग्ध नये दीक्षित की बुद्धि की शुद्धि के लिये १८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवादी, तथा ३२ विनयवादीओं का मत बदलकर तथा उनका परिक्षेप करके, स्वसमय (जैन सिद्धांत) का स्थापन करने में आया है। इसके दो श्रुतस्कंध, २३ अध्ययन उद्देशक ३३ समुदेशक और ३६ हजार पदों की संख्या है?

(३) स्थानांग :—द्वादशांगी का तीसरा अंग है, जिसमें स्वसमय का, परसमय का, और स्वपरसमयका, जीवादि पदार्थों का स्थापन करने में आया है। इसमें पांच श्रुतस्कंध, दस अध्ययन, २१ उद्देशक तथा ७२००० पद है।

(४) समवयांग :—यह चौथा अंग है। तथा स्व और पर सिद्धांतों की चर्चा, एक संख्यावाले पदार्थों की संख्या से लेकर दो तीन आदि तक का वर्णन है। इसमें एक श्रुतस्कंध; एक अध्ययन एक उद्देशक समुद्देशक और एक लाख चव्वालीस हजार पद हैं।

(५) व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र) द्वादशांगी में पांचवा अंग है। जिसमें स्वसमय, परसमय, जीव, अजीव, जीवाजीव लोक, अलोक, लोकालोक, भिन्न भिन्न प्रकार के देव तथा राजा, राजर्षि और अनेक प्रकार के संदिग्ध पुरुषों के प्रश्न हैं। तथा जिनेश्वरदेव के दिये जवाब हैं। इसमें द्रव्य, गुण क्षेत्र, काल पर्याय प्रदेश अनुगम निक्षेपण नय प्रमाण सुनिपुण उपक्रमापूर्वक यथास्थित भाव का प्रतिपादन है। देवेन्दों से पूजित होने से सबके लिये श्रद्धेय हैं, संसार समुद्र से तारनेवाले हैं अज्ञानांधकार के नाशक हैं एक ही श्रुतस्कंध है साधिक सौ अध्ययन हैं दस हजार उद्देशक तथा दस हजार समुद्देशक हैं छत्तीस हजार प्रश्न और चौरासी हजार पद हैं।

(६) ज्ञाताधर्म कथा :—यह छठवाँ अंग है। जिनमें उदाहरणभूत पुरुषों के नगर उद्यान चैत्य वनखंड राजा समवसरण धर्माचार्य धर्मकथा आलोक और परलोक के ऋद्धिविशेष भोगपरित्याग प्रवज्या श्रुतपरिग्रह तपविधान उपधान पर्याय संलेखना भक्तप्रत्याख्यान पादपोगमन

देवलोकगमन तथा सुकुल में जन्म बोधिलाभ और अंत-क्रियाओं के विषय में हैं।

दो श्रुतस्कंध, उनतीस अध्ययन-अध्ययन दो प्रकार के हैं : चारित्र और कल्पित। धर्मकथा के दस वर्ग हैं। उनमें एक एक धर्मकथा में ५००–५०० आख्ययिकि हैं, उनमें भी अन्य कथाएँ हैं २९ उद्देशक और उतने ही समुद्देशक हैं तथा संख्याता लाख पद हैं, मतलब कि पाँच लाख और छहत्तर हजार पद हैं।

(७) उपासकदशा—सातवाँ अंग है। इनमें श्रमणोपासक के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखंड, राजा, महाराजा, समवसरण, धर्माचार्य, श्रावकों के शीलव्रत, गुणव्रत, प्रत्याख्यान, बोधिलाभ और अंतक्रियाएँ हैं। एक श्रुतस्कंध, दस अध्यतन, दस दस उद्देशक तथा समुद्देशक हैं तथा ग्यारह लाख बावन हजार उद्देशक हैं।

(८) अंतकृतदशा—आठवाँ अंग है। जिनमें अंतकृत पुरुषों के नगर, चैत्य, वनखंड, धर्माचार्य, धर्मकथा, लोक तथा परलोक की वृद्धि, भोग परित्याग, प्रवज्या, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, बहुविध प्रतिमा, क्षमा, आर्जव, मार्दव, सत्य, शौच, संयम, उत्तम ब्रह्मचर्य, संतोष, समिति, गुप्ति; अप्रमादयोग; उत्तम स्वाध्याय जितपरिषह तथा चार प्रकार के कर्मों के क्षय पश्चात् होनेवाले केवलज्ञान की बातें हैं। एक श्रुतस्कंध दस अध्ययन; सात वर्ग; दस उद्देशक तथा समुद्देशक २३ लाख ४ हजार पद हैं।

(९) अनुत्तरोपपातिक—अनुत्तर विमान में जानेवालों के नगर आदि के वर्णन हैं। एक श्रुतस्कंध, दस अध्ययन, तीन वर्ग तथा दस उद्देशक और समुद्देशक हैं तथा ४६ लाख ८ हजार पद हैं।

(१०) प्रश्न व्याकरण—इसमें १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न तथा उतने ही प्रश्नाप्रश्न हैं। विद्या के अतिशय तथा नागकुमार तथा सुवर्णकुमार के साथ हुये दिव्य संवाद हैं। एक श्रुतस्कंध, ४५–४५ उद्देशक समुद्देशक हैं। ९२ लाख १६ हजार पद हैं।

(११) विपाकश्रुत—इनमें सुकृतकर्म तथा दुष्कृत कर्मों का फल विपाक है। वह संक्षेप से दो प्रकार का है। (१) दुःख-विपाक, (२) सुखविपाक, उनमें दस दस अध्ययन है। धर्म और अधर्म के कारण, दुःख तथा सुख की परंपरा आदि का वर्णन है। २० अध्ययन व एक करोड़ चौरासी लाख और बत्तीस हजार पद हैं।

(१२) दृष्टिवाद—इनमें सबका समावेश है। यह दृष्टिवाद परिकर्म-सूत्र-पूर्वगत-अनुयोग और चूलिका रूप से पाँच प्रकार का है।

ऊपर की तरह द्वादशांगी है। बतायी गई पदों की संख्या में कालानुसार चढ़ाव उतार आता है।

(पं० बेचरदास संपादित भगवतीसूत्र में से) जिसके पठन से, मनन से, निदिध्यासन से आत्मा में रहे अनादिकाल के कषाय भावों का उपशमन, वैषयिकभवों का दमन, औदयिक भाव का निरसन होकर आत्मा में परम शांति समाधि जिससे हो वह आगम है; सम्यग्ज्ञान, सम्यक् तप है।

ग्रंथ की समाप्ति के वक्त द्वादशांगी को भी वंदन किया गया है।

श्रुतदेवी मेरे गतिज्ञान के नाश करनेवाली हो :

जिसके चरणकमल कछुये की तरह सुन्दर और निर्मल कोरंट वृक्ष की कली जैसी श्रुतदेवी, वाग्देवी, सरस्वतीदेवी, शारदादेवी मुझ में रहे मतिज्ञान का नाश करो।

शरीर के वर्णन के साथ श्रुतदेवी के पास अज्ञान के नाश की याचना जब की गई है, तब उस श्रुतदेवी की विद्यमानता में शंका करने का कोई अर्थ नहीं है।

सांसारिक रागातिरेक तथा द्वेषातिरेक के कारण देवभूमि को प्राप्त करनेवाले देव वहाँ रहकर भी मानव समाज तथा प्राणी पशु समाज का भला बुरा कर सकते हैं। तथापि सम्यग्-दृष्टि सम्पन्न अल्पांश से या सर्वांश से विरतिधर तथा रोम-रोम में अहिंसा संयम और तपोधर्म की आराधना करनेवालों की ओर प्रीति रखनेवाले तथा मृत्यु के वक्त भी मैं इस भव में केवलज्ञान नहीं पा सका' इसलिये रास्ते पर चलनेवाले, सम्यगज्ञान की उपासना करनेवाले, जीवमात्र का हित करने-वाले जीवमात्र के सम्यगज्ञान की वृद्धि के लिए सहायक बनू ऐसा आशय रखकर देवगति में आनेवाले जीव उस विषय के अधिष्ठाता बनते हैं और भव्य जीवों को मदद करते हैं। खराब पदार्थों की भी रक्षा करनेवाले अधिष्ठाता देवी या देव भी होते हैं। यह सबको मान्य हकीकत है।

प्रत्येक तीर्थंकर परमात्मा के शासन तथा रक्षक की रक्षिका अधिष्ठाता देवी तथा देव होते हैं। 'नमो अरिहंताणं' पद की तथा 'नमो सिद्धाणं' पद आदि की भी अधिष्ठात्रीयां' भिन्न भिन्न होती हैं। उसी प्रकार अरिहंत प्ररुपित श्रुतज्ञान की अधिष्ठाती देवी भी सबको मान्य होने से भगवतीसूत्र के

अंत में उस देवी की प्रार्थना करनी सुसंगत हैं । प्रतिक्रमण जैसी भाव आध्यात्मिक क्रियाओं में भी एक नवकार का ध्यान करके श्रुतदेवी का स्मरण किया गया हैं जैसेकि :—

'सुअदेवया भगवइ, नाणावरणीय कम्मसंघाय ।
तेसिं खवेउ सययं जेसिं सुअसायरे भती ॥'

अर्थ :—जिन भाग्यशालीओं की सम्यग् श्रुतज्ञानरुपी सागर पर अटूट श्रद्धा है और प्रतिसमय, प्रतिदिन जो श्रुतज्ञान की वृद्धि के लिये प्रयत्न करनेवाले हैं, उनको विघ्न करनेवाले ज्ञानावरणीय कर्म की हानि हो इसलिये हे, श्रुतदेवी ! आप मेरी सहायक बनो ।

"कमलदल विपुल नयना, कमल मुखी कमल गर्भ समान गौरी ।
कमले स्थिता भगवती, ददातु श्रुतदेवता सिद्धिम् ॥

(साध्वीओं को बोलने की स्तुति)

अर्थ :—कमल के पत्ते जैसी विस्तृत यानि लंबी आंखवाली, विकसित कमल समान मुखवाली, कमल का मध्य भाग यानि दांडी के ऊपर के भाग की छाल उतारने के बाद उसका गर्भ बहुत ही गोरे वर्ण का होता है, उस प्रकार श्रुतदेवता भी बहुत ही उज्वल है तथा कमल के ऊपर विराजमान हुये हैं वे श्रुतदेवी, सरस्वतीदेवी हमें ज्ञान पाने में मदद करें ।

जल तरंग से मूल तक कंपायमान तथा पराग की खुशबू से मस्त बनकर चारों ओर झंकार (गुनगुन) करते भंवरे से सुशोभित ऐसे कमलपत्र पर आये भवन में बसनेवाली, कांतिपूज (शरीर की देदीप्यमान कांति) से दिव्यरुप को धारण करनेवाली, हाथ में सुंदर कमल रखनेवाली, गले में पहने भव्य हार से दिव्य रुप में दिखनेवाली और द्वादशांगी वाणी

की अधिष्ठाती हे श्रुतदेवी ! मुझे संसार से पार करने में मौलिक कारण जैसे श्रुतज्ञान की प्राप्ति से प्राप्त होनेवाले मोक्ष का वरदान दो ।

(संसारदावे की चौथी स्तुति)

कुंद पुष्प, चन्द्रमा, गाय का दूध और बर्फ जैसे सफेद वर्णवाली, कमल के पुष्प पर बैठी, एक हाथ में कमल तथा दूसरे हाथ में किताब रखनेवाली, हमारी स्तुति से प्रसन्न सरस्वती देवी हमारे लिए सुख का निर्माण करो ।

(कल्याण कंद की चौथी थुई)

(कुंद और मोगरे के पुष्प एक समान होने के बावजूद भी मोगरे के पुष्प से कुंद के पुष्प ज्यादा सफेद होते हैं)

इत्यादि अगणित जैनाचार्यों ने सरस्वती माता की स्तुति की है । तथा जैन समाज के प्रत्येक संप्रदाय की किताबों में सरस्वती माता के मंत्र, जंत्र तथा तंत्र प्रसिद्ध हुए हैं ।

ज्ञानावरणीय कर्म का नाश करनेवाला कौन ?

अपने मलिन अध्यवसायों से आत्मा का समूचा तंत्र जब मिथ्यात्व, मोह, काम, क्रोध और संसार की माया में मस्तान बनता है, तब जीव स्वयमेव ज्ञानावरणीय कर्म का उपार्जन करता है, इसलिए उसका क्षय करनेवाला भी आत्मा ही है, वह जब सम्यकत्व वासी बनकर अपने आत्मीय दोषों का जोर दबानेवाला बनेगा तब खुद अपने कर्मों का क्षय करनेवाला भी बनेगा । यह हकीकत है, फिर भी अंधे आदमी को जिस तरह लकड़ी की जरूरत पड़ती है, उस तरह ऊपर से नीचे आनेवाले को कगेडा पकड़ने की जरूरत पड़ती है, उस तरह आज हम सब का संघयणबल, ज्ञानबल कमजोर

होने के कारण सम्यगदृष्टि सम्पन्न सरस्वती देवी की सहायता की जरूरत पड़ती है।

संसार में हम बहुत से आदमियों को देखते हैं कि, अमुक प्रसंगों में खुद समर्थ होने के बावजूद भी दूसरों की सहायता ही उनकी सिद्धि का कारण बनती हैं। उस तरह जीवात्मा ने किए कर्म कौन से वक्त कैसे उपसर्ग करनेवाले बनेंगे उसकी किसी को खबर नहीं होती है। इसलिए सम्यगदृष्टि देवी देवों की सहायता के इच्छुक ? साधक आनेवाले उपसर्गों में से रहित बनकर अपनी साधना में दिन-प्रतिदिन आगे बढ़ता रहता है।

जहाँ तक जीवात्मा में ऐसी आत्मिक शक्ति का विकास नहीं होता है, वहाँ तक अपने पूर्वज आचार्य भगवंतों ने भी शासनदेव या श्रुतदेवता की सहायता ली है। इसी कारण अगणित आचार्य भगवंत जैन शासन की तथा समाज की अभूतपूर्व सेवा कर सके हैं।

ऋषभदेव परमात्मा के पुत्र नमि तथा विनमि को इन्द्र महाराज ने हजारों विद्यायें दी हैं और उन विद्या की आराधना करके वे विद्याधर कहलाये हैं। उन विद्यादेवीओं में रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रश्रृंखला, वज्रकुंशी, अप्रतिचक्रा, पुरुषदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गांधारी, सब शस्त्रों को धारण करनेवाली-महाज्वाला, मानवी, वैरोट्य अच्छुप्ता, मानसी, महा-मानसी यह १६ विद्यादेवीयें शास्त्रसंमत हैं, जिनकी आराधना से साधक भिन्न-भिन्न विद्याओं को प्राप्त करनेवाला बनता है। फिर भी जब अपनी आत्मसाधना खूब आगे बढ़ती है तब अपने पुरुषार्थबल से ही इन साधकों ने केवल-ज्ञान पाया है।

इस सूत्र के लेखक महाशय श्रुतदेवी के पास से अपने मतिअज्ञान के नाश की मांग करते हैं। क्योंकि, गुरुदेव के चरणों में चाहे जितना भी श्रुतज्ञान या मतिज्ञान पाया होगा तो भी दूसरों का उपसर्ग अपने को आडा आये या न आये तो भी आत्मा में रहा ढेर सारा मतिज्ञानावरणीय और श्रुतज्ञानावरणीय कर्म ही अपना दुश्मन बना हुआ है, जिसके कारण किसी वक्त मतिअज्ञान या श्रुतअज्ञान विश्वासघात करेगा यह कहना मुश्किल है, इसलिये यह अज्ञान कमजोर हो इसलिए श्रुतदेवी की सहायता स्वीकारने में बाधा नहीं है।

किताबों में लिखे शब्द क्या जड़ नहीं है?

संसार जड़ और चैतन्य का मिश्रण होने से जड़ की असर बिना चैतन्य नहीं और चैतन्य की असर बिना जड़ नहीं है। चैतन्य की असर जड़ पर पड़ने से भिन्न भिन्न जात के फेर-फार अवश्य दिखते हैं। जड़ के प्रभाव में आत्मा फंसी होने से बहुलता से आत्मा भ्रान्त है, अज्ञानी है, अविवेकी है, अविनयी और अपनी जातका निर्णय कर सकने में असमर्थ है, इसलिये अपनी अनिश्चितता के कारण वह कुछ भी करना या समझना नहीं चाहता, तो भी उसे अमुक समय या परिस्थिति में संसार की माया की भयंकरता सताये बिना नहीं रहती।

माता पिता या धर्मपत्नी को मरे दस साल हो गये हो तो भी किसी अगम्य कारण से उनकी याद स्मृतिपट पर आ ही जाती है। उस वक्त हम सब की विह्वलता की सीमा नहीं रहती और उसे दूर करने के लिए आज दिन तक इच्छा भी नहीं की थी फिर भी माता पिता या धर्म पत्नी की तस्वीर बनाने की प्रेरणा होती है और उसके मुताबिक उनकी तस्वीरें

बनाकर योग्य स्थान पर घर में रखी जाती है । उसके बाद उनके गुणों को और उपकारों को याद करके उनको नमन-वंदन या पूजा करते हैं नैवेद्य रखते हैं घी का दीप जलाते हैं धूप करते हैं और अंत में भावविभोर बनकर उनके सामने नाचते हैं, कूदते हैं, उनके गुणगान करते हैं । धर्मपत्नी की तस्वीर देखकर उसकी सेवा को याद करते हैं । गुणों को स्मृति में लाते हैं, अवसर आने पर आंख में आंसू आ जाते हैं । इस प्रकार आत्मा में हर्ष, शोक की भावना जगाने की ताकत जड़ में है, और धर्मपत्नी के साथ मस्ती में गुजारी रात्रि का स्मरण कराके आदमी को पागल बनाने की ताकत भी स्त्री की तस्वीर में है ।

जिस चीज पर आदमी की जैसे प्रकार की माया हो उसमें उस आदमी के भावों से निश्चित फेरफार होता ही है ।

व्यवहार की दृष्टि से देखा जाये तो माता या पिता की तस्वीर चाहे जड़ रहीं हो, फिर भी मानव का हृदय जब भक्ति रस में डूब जाता है तब जड़ में रहा जड़त्व सर्वथा गौण बन जाता है और उसमें माता या पिता का चैतन्य मुख्य बनता है । इसलिए किसी प्रसंग पर हजारों आदमीओं के समीप में पहचान देते हुये कहता है कि यह मेरी माता है, और यह मेरे पिता है । ऐसे जात अनुभव सबको होते रहते हैं । इसलिए प्राथमिक कक्षा के हम जैसे मानवों के लिए भी जड़ का उपकार कम नहीं है, यह बात माननी पड़ती है ।

उसी प्रकार अनादिकाल से अपनी आत्मा अर्थ और काम की उपासना में मस्त बनकर अपने भवों को निरर्थक

किया है। किसी वक्त उसको भुगतने में आदमी को जब आघात लगता है तब उसके सुषुप्त मन में अर्थ और काम से भी किसी नई चीज की स्मृति होती है और वह है देवाधिदेव अरिहंत परमात्मा।

जीवमात्र को आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त करानेवाले राग, द्वेष तथा मोह माया से बचाने वाले, क्लेश-कंकास से पूर्ण संसार में आदमी को थोड़ा सुखी करनेवाले अरिहंत परमात्मा की स्मृति होते ही उसकी मूर्ति, तस्वीर और स्मरण जहाँ से भी मिलेगा वहाँ जाकर उसके चरणों में बैठेगा और सुख-शांति और समाधि पायेगा।

माता-पिता या धर्मपत्नी की तस्वीर जिस प्रकार जड़ है, उस प्रकार परमात्मा की मूर्ति या तस्वीर भी स्वतः जड़ होने के बावजूद उसमें निरूपित अरिहंततत्व ही सबको नई प्रेरणा देने में, आत्मा को चेतनवंता बनाने में और पुत्र परिवार तथा संसार की माया में असारता का भान कराने में पूर्ण समर्थ है जो प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है, और जब मूर्ति या तस्वीर में आत्मा का, उसके केवलज्ञान का तथा उसके उपकार का अपने आत्मा में साक्षात्कार होता है तब उन परमात्माओं का द्रव्व तथा भावपूजन करने का मन होता है। यह मानव जीवन की स्वाभाविकता है। यह स्वाभाविकता झूठी नहीं है, क्योंकि तीर्थंकर परमात्मा की मूर्ति का या अपने मान्य पूज्य गुरुदेव की तस्वीर के सानिध्य और सामीप्य से जैसे-जैसे ध्याता, ध्येय और ध्यान का एकी भाव होता जाता है, तब आत्मा में नई जागृति होती है, जिसका हर किसी को अनुभव होता है।

मूर्ति में जड़त्व या चैतन्य की स्मृति मानव के सुषुप्त मन पर आधारित है। मन यदि जागृत होगा, सुसंस्कृत होगा, धार्मिकता का जिज्ञासु होगा तथा पूर्वग्रह के अभिशाप से हजारों मील दूर होगा तो स्थापना निक्षेप से सर्वत्र उसको चैतन्य के ही दर्शन होंगे और ज्ञानमूढ़ बने आदमी को सर्वत्र जड़त्व का ही अहसास होगा।

सांसारिक जीव में मानव चाहे कितना भी चालाक या सावधान क्यों न हो लेकिन यह नहीं भूलना चाहिये कि, वह छद्मस्थ है, और छद्मस्थ में रागातिरेकता, द्वेषातिरेकता या प्रपंचतिरेकता आदि दोष भरपूर रहते हैं, ऐसी स्थिति में निरालंबन ध्यान का दावा रखना निरी अज्ञानता है, क्योंकि अपने मन को परमात्मा की भक्ति में डुबो देना अच्छे-अच्छे योगियों के लिए भी कठिन काम है। इसलिए सबके लिए यानि कि चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थानक में रहे गृहस्थों या मुनिराजों के लिए भी परमात्मा के चरणों में बैठकर किये अपराधों की माफी मांग लेनी और वीतरागता का ध्यान करना।

ऊपर दिये गये किताब या ताड़पत्र के अक्षर जड़ हैं, उसमें कुछ कहने का नहीं है। फिर भी भूलना नहीं चाहिए कि, उससे आत्मा में जागृति आती है, वैराग्य आता है, और संसार की माया में रहने के बाद भी उसकी असारता का ख्याल आता रहता है इसमें जड़ का प्रत्यक्ष चमत्कार दिख रहा है, उसका इन्कार कैसे किया जाता है। इसलिए आत्मीय ज्ञान का मूल कारण द्रव्यश्रुत ही है। ऐसी स्थिति में द्रव्य-ज्ञान को या उसकी अधिष्ठात्री देवी को स्मृति में लाना जैन शासन को मान्य है।

शारीरिक दृष्टि से कमजोर आदमी के सामने यदि राणा-प्रताप की तस्वीर आती है तो उसमें वही वीरता और शक्ति आ जाती है। माता की तस्वीर में भक्ति का प्रादुर्भाव होता है और प्राणप्यारी, मनमोहिनी स्त्री को प्रतिकृति को देखते ही आँखों में शृङ्गार रस का चमत्कार आ जाता है।

यही कारण है कि, अपना सरल, पूर्वग्रहरहित और मिथ्यात्व के चक्कर में नहीं पड़ा मन कह देता है कि, मानव चाहे योगी हो या ज्ञानी, तपस्वी हो या अवधूत, उसके वैकारिक या संचारित भावों में जड़त्व का कारण छुपा रहता है। इसलिए अशुभ आकार मूर्ति या तस्वीर का त्याग करके मानसिक जीवन को शुभ बनायें ऐसी तस्वीरें मूर्तियाँ या किताबों की उपासना अवश्य करनी, उसमें ही सबका हित है।

योगोद्वहन के लिए अन्तेवासित्व जरूरी है ?

शरीर के साथ संबंध रखनेवाली भोजनक्रिया की विधि है, शयन की भी विधि है। इत्यादि किसी भी वस्तु को ग्रहण करने के लिए क्रिया का विधि निश्चित है। अंत में लक्ष्मी और विद्या पाने का विधि भी निश्चित है। विधिपूर्वक की जाती कोई भी क्रिया शरीर को तथा व्यवहार को तुष्ट पुष्ट करती है। अन्यथा शरीर रोगिष्ट बनेगा, व्यवहार कलंकित और व्यापार हानिप्रद बनेगा।

इसी प्रकार आत्मा के शुद्धतम प्रयोग के लिये जो श्रुत-ज्ञान ग्रहण करने का है उसके लिये विधिविधान हो वह स्वभाविक है। क्योंकि अनादिकाल से आत्मा को सम्यग्ज्ञान का अभाव रहा है। यदि किसी भव में सम्यगज्ञान की हाजरी में उसकी प्राप्ति हुई होगी तो भी दर्शन के वमन में ज्ञान का

भी वमन हो गया होता है, इसलिए इस भव में इसका अनुसरण न होने पाये उसके लिये विधि विधानपूर्वक ज्ञान पाने की आवश्यकता नकारी नहीं जा सकती।

गुरुदेव के चरणों में अंतेवासित्व प्राप्त किये बिना सम्यग्बोध लगभग दुर्लभ माना गया है। मनस्वी तरीके से हजारों गाथा, या श्लोक का पठन करना या रचना या एक ही गाथा पर घंटों तक व्याख्यान देना हो सकता है, लेकिन मन, वचन और काया की वक्रता के त्यागपूर्वक आत्मा मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर का संपूर्ण समर्पण बहुत ही कठिन होने से अन्तेवासित्व दुःशक्य, दुराराधनीय हो यह मानने जैसी हकीकत है। इसलिए इसे प्राप्त करने के लिये उसी प्रकार की कष्टसाध्य तपश्चर्या और कठिन से कठिन अनुशासन की आवश्यकता स्वीकार्य बनती है, उसके बिना शरीर की जड़ता, वाणी की दुर्विलासिता और मनमर्कट की गुढ़ातिगुढ़ चेष्टाओं का अंत नहीं होता है।

इस प्रस्तुत विषय में अकेले मन का, वचन का या काया का अन्नेवासित्व न लेते हुये तीनों का अन्तेवासित्व लेने का है। यानि कि, परमतारक गुरु के चरणों में केवल श्वासोच्छ-वास (बहुवेल संदिसाडू बहुवेल करेंगे) की क्रिया को छोड़कर शेष सब मानसिकवाचिक और कायिक क्रियाओं का साहचर्य साधना उसे अन्तेवासित्व कहते हैं।

इस प्रकार की साधना को सिद्ध किये बिना सम्यगदर्शन ज्ञान और चारित्र का शुद्धिकरण भी लगभग अशक्य है। क्योंकि आत्मा के एक एक प्रदेश पर ज्ञानावरणीयादि कर्मों की अनंत अनंत वर्गणा की अपनी सत्ता को जमाकर बैठी है। उसमें से किस कर्म की कौन सी सत्ता कब, कौन से

निमीत्त से उदय में आयेगी उसका ख्याल किसी को भी नहीं आ सकता है। इसलिये मोहकर्म की पुरानी चेष्टाएँ, दर्शनावरणीयकर्म के कारण आनेवाला प्रमाद, ज्ञानवरणीयकर्म के कारण आनेवाली मतिमंदता, अंतराय कर्म के कारण आनेवाली दीनता, मानकर्म के कारण बढ़ा आकुल, ऐश्वर्य, ज्ञान, लाभ, बल, रुप, तथा तप की मदोन्मतता, शुभनामकर्म के कारण शरीर की अहंकारिता और अशुभनामकर्म के कारण खिन्नता आदि का नाश हो, उसके प्रत्येक कुसंस्कार का नाश हो और ऐसी चेष्टा फिर न हो इसके लिए सावधानी बरतनी योगोद्वहन से ही संभव बनेगी। क्योंकि, तपश्चर्या से पुराने कर्मों की चेष्टा समाप्त होगी और क्रियाओं से पापजन्य तथा पापजनक नई चेष्टाओं का अवरोध होगा तभी साधक को अन्तेवासित्व की प्राप्ति होने पर हजारों प्रकार से सम्यग-बोध की सुलभता होगी। इसलिये गुरु और शिष्य का तथा सिद्ध और साधक का एकीकरण दे उसे अंतेवासित्व कहते हैं।

जिसके कारण आज का साधक कल सिद्धि पाये तथा आज का शिष्य कल गुरु बने उसकी योग्यता करने का आद्यकारण ही उपधानमय योगोद्वहन है। उसके बिना तो साधक कभी पुण्यकर्म से गुरु बन सकेगा तो भी उसका गुरुत्वपद कलंकित, रागद्वेषमय बनेगा और सब शिष्यों को द्रव्य तथा भाव प्रमाद की बक्षीस देनेवाला होगा।

दीक्षित अवस्था को शिक्षित करने के लिए भी योगोद्वहन की आवश्यकता स्वीकार्य है। अन्यथा शिक्षा बिना की दीक्षा स्वपर घातक बनेगी और समाज को क्लेश तथा कंकास की

बत्तीस देगी, तभी तो 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' यह जैन सूत्र ही जयवंत बनता है। योगोद्वहन में पठन-पाठन और स्वीकृत चारित्र में एकाग्रता के लिए क्रियाओं का समावेश हुआ है।

श्रुतज्ञान पाने के लिये योगोद्वहन में उद्देश-समुद्देश और अनुज्ञान का विधान है। गुरु अपनी ज्ञानपरंपरा की अनुज्ञा जिस शिष्य को देना चाहता है, उसकी परीक्षा ही उद्देश और समुद्देश में छुपी है, जब वह साधक इन दोनों में अपनी परिपक्वता की खात्री देता है और तभी गुरुजी उसे सूत्रों की अनुज्ञा देने के लिए तैयार होते हैं। जो इस प्रकार है-- "हे शिष्य ! अमुक वक्त की मर्यादा में तुझे यह पाठ करने का है।" ऐसी आज्ञा को उद्देशक्रिया कहते हैं। नया ज्ञान प्राप्त करने की तमन्नावाला शिष्य गुरु के दिये पाठ को प्रमाद किये बिना कंठस्थ करता है। उसके अर्थ की विचारणा करता है। उसके बाद साधक यथाशक्ति उसकी पुनरावृति में परिश्रम करता है और गुरु के दिये पाठ को अणिशुद्ध करके गुरुजी को सुना देता है। जब शुद्ध पाठ का यकीन होता है तब गुरुजी कहते हैं कि, 'याद किये पाठ को स्थिर करने के लिए "थिरपरिचिये करिज्जाहि" अर्थात् फिर से न भुला जाये तथा काना मात्रा भी कम या ज्यादा न बोला जाये इस प्रकार सूत्र का पठन करने की आज्ञा ही समुद्देश है। इतनी परीक्षा में से पसार होनेवाले शिष्य को "तुं तेरे शिष्य तथा संघ को ज्ञानदान देना" उस आज्ञा को अनुज्ञा कहते हैं।

इस प्रकार की अनुज्ञा का इच्छुक साधक मुनि काल-ग्रहण, सझाय और कालमांडला के कठिन में कठिन विधानों की साधना से उन सूत्रों को बोलता है, शुद्ध बोलता है और एक शब्द भी ज्यादा या कम या बार बार न बोलना पड़े

उसका वह अभ्यास करता है। इस प्रकार अवधान तथा उपधान के शुद्धानुष्ठान के माध्यम से प्रसन्नचित से तैयार हुआ साधक, गुरु के पास वंदन के लिए आता है और गुरु उसे पुराना पाठ लेने के साथ नये पाठ की आज्ञा देता है उसे अनुष्ठान क्रिया कहते हैं। इसमें गुरुदेव श्रुतदाता है, कालग्रही साधक है और दांडीधर उतरसाधक है। (अभी तो दशवैकालिक सूत्र की १७ गाथा में स्वाध्याय सीमित हुआ है)

उपर्युक्त विधिपूर्वक अनुक्रम से मांडलिया, दशवैकालिक, उतराध्ययनादि के योगोद्वहन की पूर्णता होने के बाद ही व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र के योगोद्वहन में प्रवेश होता है।



प्रशस्ति

वृद्धिचन्द्रगुरोः पार्श्वे, भावनगरसंस्थिते ।
दीक्षितः शिक्षितो जातो, मुनिधर्मे सामहितः ॥१॥
संयमपालने श्रेष्ठो, गुप्तिमितिरक्षकः ।
अहिंसाधर्मरक्षायै, सदोद्यमी हितावहः ॥२॥
ज्ञानी ध्यानी तथा त्यागी, जितेन्द्रियः सदा शमी ।
आचार्यो धर्मसूरीशो वर्ष्योऽभूज्जैनशासने ॥३॥
विद्याविजयः शिष्योऽभूत्-भव्यस्तस्य महात्मनः ।
वक्तृत्वशक्तिसम्पन्नः प्रथिताँऽस्ति महीतले ॥४॥
ब्रह्मनिष्ठः सदा शान्तोऽहिंसाधर्मप्रचारकः ।
शासनदीपने ख्यातो-देहकान्तिसुशोभितः ॥५॥
एतादृशो गुरोःपादे-करांची सिन्धदेशगे ।
(१९९४) वेदाङ्कद्वयमोक्षाब्दे वैक्रमे मृगमासके ॥६॥
शुक्लपक्ष दशम्याञ्च दीक्षितोऽस्मि स्वभावतः ।
अलसो मन्दबुद्धिश्च, तथाप्यध्ययने श्रमी ॥७॥
व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रस्य यथामति विवेचकः ।
कुतोऽपि स्खलीतोऽभूवं, चेत् क्षाम्यो भवता तदा ॥८॥
षट्त्रिंशून्यद्वये वर्षे (२०३६) शारदपूर्णिमा दिने ।
अन्धेर्या मोहमय्याश्च फलितोऽद्य मम श्रमः ॥९॥
गुरुर्देवो, गुरुर्देवो, गुरुर्देवो जगत्त्रये ।
गुरुकृपाप्रसादेन, सर्वं समीहितं भवेत् ॥१०॥

—: o :—

'श्री भगवतीसूत्र सार संग्रह' के संबन्ध में आये हुए कुछ अभिप्राय

(१)

जैन दर्शन के विद्यमान पैंतालीश आगमशास्त्रों में से विश्वबंध देवाधिदेव, श्रमणभगवान श्रीमहावीरपरमात्मा तथा आपके प्रथम गणधर श्रुतकेवली श्री गौतमस्वामी जी महाराजा (गुरु-शिष्य) के ३६००० प्रश्नोत्तर स्वरुप पंचमांग पूजनीय श्री भगवतीसूत्र के ऊपर समर्थ विद्वान-प्रवचनकार पंन्यास-प्रवर श्री पूर्णानंदविजय जी गणिवरने सब कोई समझ सके ऐसी सरल भाषा में विवेचन किया है, जो प्रशंसनीय एवं अनुमोदनीन है ।

चाणस्मा, ता० २१-९-८० जैनाचार्य श्री वि० सुशीलसूरि

(२)

तपस्वी विद्वान् और सरलस्वाभावी पंन्यासप्रवर श्रीपूर्णानंदविजयजीगणिवर्यने चार भाग में श्री भगवतीसूत्र जैसे महान् पवित्र आगमशास्त्र का सार गुर्जर भाषा में लिखकर अज्ञजीवों के ऊपर महान उपकार किया है। वर्तमान में समाज का बड़ा वर्ग, शास्त्र के अभ्यास, पठन एवं मनन से विमुख होकर मनोरंजन साहित्य के पठन में डूबे रहा है। ऐसे समय में अतिसरलशैली में श्री भगवतीसूत्र जैसे आगम के गहन पदार्थों को समझना और उस प्रकार शास्त्रों के अभ्यास के लिये जिज्ञासा पैदा करना यह वास्तव में उत्तम धर्म कार्य है और श्रेष्ठ श्रुत भक्ति भी है। ऐसी श्रुतभक्ति प्राज्ञ, पंन्यास जी के द्वारा अहर्निश होती रहे यही शुभकामना।

गोडीजी जैनउपाश्रय जैनाचार्य
विजयवल्लभ चौक-मुंबई श्रीविजयसूर्योदयसूरि

(३)

आधुनिक भौतिकवाद के युग में आध्यात्मिक जीवन तथा श्रुताभ्यास का ह्रास हो रहा है। उस समय द्वादशांगी में सर्वश्रेष्ट भगवतीसूत्र के ऊपर सरल भाषा में सार लिखकर समाज के कर-कमलों में धरना वह वास्तव में कठिन कार्य है। प्रशंसनीय पुरुषार्थ है। जिसको पंन्यासजी पूर्णानंद-विजयजी ने चार भागों में पूर्ण किया है। बहुत से जीवों का सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र पवित्र शुद्ध बने ऐसी शुभ भावना से पंन्यास जी अपना पुरुषार्थ गतिमान रक्खें यही अभ्यर्थना।

मंगल पारेखनो खांचो — जैनाचार्य
शाहपुर-अहमदाबाद — विजयरूचक चन्द्रसूरि
आसोवद १०

(४)

भगवतीसूत्र सारसंग्रह का तीसरा भाग प्राप्त हुआ उसको भूरि भूरि अनुवंदना के साथ स्वीकार किया है। आपश्री के द्वारा साहित्य सेवा के ऐसे कार्य के लिये अभिनंदन के साथ अनुमोदना। साहित्य निर्माण का कार्य आपके द्वारा होता रहे ऐसी भावना के साथ शुभेच्छा।

चाणोद — जैनाचार्य
ता० २९-१०-८० — श्री विजयविकासचंद्रसूरि

(५)

भगवतीसूत्र सारसंग्रह के तीनों भाग प्राप्त हुये। वे सभी आत्मार्थी आत्माओं के लिये अति उपयोगी है। उनको इनमें से बिन्दु बिन्दु पान करने में मजा आयेगी। आन्य एवं मध्यम कक्षा के जीवों को भी इनमें से श्रुत के स्वाद का मजा मिल सके वैसे ही तीनों भाग आपने तैयार किये हैं। विद्वद्-भोग्य साहित्य को लोक भोग्य बनाकर मुमुक्षु जीवों पर आपने महान् उपकार किया है। विशालकाय भगवतीसूत्र रूपी महा-सागर को पार करने के लिये ये चारों भाग नौका के समान आपने बनाये हैं। आपने स्वयं श्रुत का आस्वाद चखकर अन्य आत्माओं को भी श्रुत का स्वाद चखाकर जीवन को सार्थक एवं कृतकृत्य बना लिया है।

राजकोट
आसोसुद २,२०३६

सौराष्ट्र केसरी जैनाचार्य
श्री विजयभुवनरत्नसूरि

(६)

आपका ज्ञान-आराधना का प्रयत्न स्तुत्य एवं अनु-मोदनीय है।

इहेलाका उपाश्रय
अहमदाबाद
ता० ११-१०-८०

जैनाचार्य
श्री विजयअशोकचंद्रसूरि

(७)

भगवतीसूत्र सारसंग्रह का पठन करते हुये आत्मा का कल्याण हो जाय ऐसा यह ग्रंथ हितकारी है। वैसे ही सिद्ध

शिला का सोपान और 'केवलज्ञान की पगदंडी' किताबें अत्युत्तम और श्रावक समुदाय को आदरणीय है।

रवींवाणंदी

जैनाचार्य श्री विजयमंगल प्रभसूरिजी

(८)

भगवतीसूत्र सारसंग्रह में आपने की हुई विषय की मार्मिक विवेचना और भावों की गंभीरता पढ़ते पढ़ते आनंद की उर्मियाँ प्रकट हुये नहीं रहती।

खुशाल भुवन—अहमदाबाद
ता० १-१०-८०

जैनाचार्य
श्रीभानुचंद्रसूरि

(९)

भगवतीसूत्र सारसंग्रह का तीसरा भाग मिला। साद्यन्त पढ़ा। ग्रन्थ में भगवतीसूत्र के क्लिष्ट विषय को सरल बनाकर समझाने का आपका प्रयत्न अत्युत्तम है। विवेचनशैली रोचक है। पाठकों के लिए आपका परिश्रम उपयोगी सिद्ध होगा। जैनागमनों के विवेचन के प्रति रूचि और श्रम की मैं अनुमोदना करता हूँ। आगे का साहित्य शीघ्र प्रकाशित हों और पाठकों को लाभान्वित करें ऐसी अभिलाषा के साथ मेरी शुभेच्छा।

सैलाना (म. प्र.)
आसोवदि ६ [मारवाड़ी]

जैनाचार्य, गणाधीश
श्री उदयसागरसरि [आर्यपुत्र]

[१०]

'श्री भगवतीसूत्र सारसंग्रह' के ग्रंथों को पाकर कुछ सुंदर (साहित्य) प्राप्त होने का परितोष प्राप्त हुआ है।

श्री अरिहंत परमात्मा जिज्ञासा को ज्ञान प्राप्ति का सिंहद्वार कहते हैं और यह सत्य श्री भगवतीसूत्र में पूछे जाने वाले प्रश्नों से हमको प्रत्यक्ष होता हैं। एक प्रकृष्ट जिज्ञासा ने दिया हुआ यह प्रश्नोत्तर अपने लिए भवतरणी का कैसा सुन्दर सोपान बना है ? जिज्ञासा से ज्ञान बढ़ता है। ज्ञान से निर्जरा के द्वार प्राप्त होते हैं। ज्ञानी लोग छोटी सी बात में कैसा जीवन सत्व प्रदान करते हैं।

और प्रस्तुत ग्रंथ का नामाभिधान भी अनेक प्रकार से सार्थक प्रगट होता है। श्री भगवतीसूत्र का यह सार है' ऐसा उनका अर्थ है, लेखक पंन्यासजी महाराज की यह नम्रता है। हमको ज्ञान के महानद में प्रवास कराकर पंन्यासजी म० सूचित करते हैं कि 'अभी तो हम सार के नजदीक ही पहुँचे हैं। तत्त्वज्ञान के महासमुद्र के दर्शन की बात तो अभी बाकी है।

पंन्यास जी महाराज शासन को अनेकानेक उत्तमोत्तम ग्रन्थरत्न प्रदान करते रहे और उसके द्वारा तत्त्वप्रेमीओं को उस ज्ञान के महासागर तक पहुँचने का अवसर प्राप्त हो ऐसी शुभाभिलाषा।

घेलाभाई करमचंद सेनेटोरियम
पार्ले [वेस्ट]

आ० दुर्लभसागरसूरि

[११]

विनयवंत शिष्य के जीवन में गुरुदेव की परमकृपा का बल महान् होता है। ऐसी अपूर्व गुरुकृपा के सद्भागी बने हुए अतः जैनागमशास्त्रके सुयोग्य अभ्यासी परमपूज्य पंन्यास श्री पूर्णानन्दविजयजी महाराज जैन तथा जैनेतरों को भी जैन तत्त्वज्ञान से परिचित बनाने के लिये सीधी-सादी, सरल भाषा में श्री भगवती जैसे महागभीय ग्रन्थ का भावानुवाद स्वरूप चार दलदार ग्रन्थों को स्वयं एकाकी ने अथाग परिश्रम करके श्री जैनशासन के चरणों में अर्पण किया है, यह अनुमोदनीय पुरुषार्थ है।

मेरी अपनी मान्यता के अनुसार तो ये चारों भाग पं० हरगोविन्दासजी के (शायद पं. बेचरदास जी के) चारों भागों की प्रायः पुनरावृत्ति स्वरुप ही है। विशेषता इतनी ही है कि पंन्यास जी ने चारों भाग खूब विस्तार से लिखे हैं जिसकी अत्यंत आवश्यकता थी।

अंत में मुझे स्वयं जैसे ये चारों भाग अनेक अवसर पर उपयोगी हुये हैं वैसे अन्य महानुभवों को भी उपयोगी होंगे ही ऐसी पवित्र श्रद्धा रखकर विराम लेता हूँ।

लि.

परम पूज्य, युगदिवाकर, आचार्यदेव श्रीमान् विजयधर्मसूरीश्वर के शिष्य उपाध्याय कनकविजय [वर्तमान में आचार्य] गणि

(१२)

आपके द्वारा प्रेषित भगवतीसूत्र सारसंग्रह के हिन्दी तथा गुजराती भाषा के भाग मिले हैं। उनका साभार स्वीकार किया है।

यह भगवतीसूत्र द्रव्यानुयोग का प्रमुख आगम ग्रंथ है। उसको सरल और आशुग्राही भाषा में विवेचित करके पंन्यासजी ने जैनागम की अच्छी और सच्ची सेवा की है इसलिये आप अनुमोदन और धन्यवाद के पात्र हैं। बहुत वर्षों तक द्रव्यानुयोग का चिंतन, मनन और निदिध्यासन करके गुरु कृपा द्वारा उसमें ज्ञातृत्व प्राप्त किया है। आपके ग्रंथ ही इस बात के साक्षीभूत हैं।

मेरी एक ही प्रार्थना है कि भगवतीसूत्र की तरह प्रज्ञापना सूत्र भी हाथ में लेना और इनकी तरह उचित न्याय देना ऐसी मुझे पूर्ण आशा।

मोडी पार्श्वनाथ मंदिर जैनाचार्य श्री विजयमनोहर सूरी
पूना—२

(१३)

आपने तीन भाग द्वारा भगवतीसूत्र के सार को ग्रहण करने के लिये तथा आबाल वृद्ध को उपयोगी इसलिये किया हुआ सत्प्रयत्न स्तुत्य है। ऐसे परमपवित्र कठिन आगमसूत्र का सार्थविवेचित करना वह अतीव दुष्कर कार्य है फिर भी आपने सुन्दर ढंग से किया इसलिये धन्यवाद।

खेड़ा (गुजरात) जैनाचार्य
भादरवावदि-१४ श्री देवेन्द्रसागर सूरी

(१४)

आपके द्वारा प्रेषित भगवतीसूत्र का तीसरा भाग प्राप्त करके मुझे बहुत आनंद हुआ। ऐसा परिश्रम ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होता है।

सुरत आसो सुदि–४

साध्वीजी श्री
ॐकारश्रीजी म०

(१५)

पंचमांग श्री भगवतीसूत्र जैसे गहन विषय और नित्य-अभिनव ज्ञान पूर्ण आगम ग्रंथ के लिये हम क्या अभिप्राय दे सकते हैं? फिर भी पूर्वभव ज्ञान क्षयोपशम के योग से इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि इस आगमसूत्र का विवेचन सर्वोपयोगी है। मात्र सिंहावलोकन द्वारा ही यह ग्रंथ नयनरम्य तो भासित हुआ ही लेकिन सुवाच्य और चिंतनीय भी दृष्टिगोचर हुआ। हमारे जैसे के लिये तो स्वाध्याय का सुन्दर साधन यह ग्रंथ है। अतः ग्रंथ परमादरणीय है। तदुपरांत 'सिद्ध शिलाना सोपान', 'मुक्ति का द्वार' तथा 'केवल ज्ञान की पगदंडी' पुस्तकें अत्युत्तम हैं।

धांगध्रा
१३-२०-८०

साध्वी वसंतप्रभा श्री
'सुतेजा'

(१६)

लंबे अर्से के बाद भिजवाई हुई आपकी पुस्तकें देखकर अति आनंद हुआ। भगवतीसूत्र देखकर तथा पढ़कर

सीमातीत आनंद हुआ। भगवतीसूत्र पर इतना सुन्दर विवेचन कहीं भी देखने में नहीं आया। कृपया इन सब पुस्तकों का हिन्दी भाषांतर करवाने का प्रयत्न अवश्य करें।

वस्तुपाल उपाश्रय
प्रतापगढ़ (रा० स्था)

साध्वी राजेन्द्री

(१७)

श्री भगवतीसूत्र यानि श्री गौतमस्वामी म० तथा भगवान महावीर स्वामी के प्रश्न-प्रत्युत्तर का अपूर्व खजाना है इस खजाने को सरल भाषा में खोलने का पू० पंन्यासजी भगवंत का प्रयास अपूर्व प्रशंसनीय हैं। जिज्ञासुओं के लिये यह ग्रंथ बड़ा ही लाभदायी है।

अमदाबाद
ता० २-१०-८०

साध्वी निर्मला श्री एम. ए.
(साहित्य रत्न)

(१८)

पुस्तकें मिली। हमारे जैसे अल्पज्ञ इस पर क्या अभिप्राय दे सकते हैं? फिर भी करबद्ध प्रार्थना है कि आपश्री का साहित्य शीघ्रातिशीघ्र हिन्दी भाषा में रूपांतरित हो।

—साध्वी मृगनयनाश्री

(१९)

आपश्री का भेजा हुआ 'भगवतीसूत्र सारसंग्रह' का तीसरा भाग भी मिला । उसको देखकर बड़ा आनन्द हुआ। आपने इस ग्रन्थ में सामान्य मानवी भी समझ सके इस तरह जैन आगम के गहन विषय को सरल भाषा में प्रकाशित किया है । वह प्रशंसनीय है । इसमें अति धीरज और सतत लगनी मालूम होती है । अन्यथा ऐसा कठिन कार्य सरल नहीं बन सकता ।

गुजरात युनिवर्सिटि पास
अमदाबाद

दलसुख माल
वणिया

[२०]

इन पुस्तकों के भाग तैयार करने में आपने श्री भगवती-सूत्र के विषयों को अवगाहन करने में और उनका सार निकाल कर उनको संग्रह रुप में तैयार करने में कितना प्रयास किया होगा, वह पुस्तक देखते ही दिखाई देता है । इसलिये आपको हार्दिक अभिनन्दन देता हूँ । आपके हाथ से यह कार्य स्थायी एवं महत्व का हुआ । इससे बड़ा आनन्द होता है ।

अमदाबाद

—रतिलाल दीपचंद देसाई

[२१]

योगोद्वहन के अभाव में अभ्यास से वंचित साधु-साध्वी वर्ग तथा द्रव्यानुयोगरसिक वर्ग की प्यास छिपाने में समर्थ परमश्रुतसागर स्वरुप, पंचमांग श्री भगवतीसूत्र जैसे

द्रव्यानुयोग के श्रेष्ठतम आगमग्रंथ के गहनतम सूक्ष्म विषयों पर गहरे चिंतन एवं परिश्रम से मंथन करके सार-संग्रह रुप प्रस्तुत स्तुत्य प्रकाशन आबालवृद्ध सर्वोपयोगी बनते हुये प्रसिद्धि प्राप्त कर लेखक के श्रम को सफल करे यही शुभेच्छा ।

मुनि अरुणविजय

[२२]

यह स्पष्ट दिखता है कि भगवतीसूत्र सारसंग्रह पर आपने अच्छा परिश्रम किया है । लिखना चालू ही रखना । यह प्रवृति ज्ञान की आराधना अपने विचारों की स्पष्टता तथा जो भी मूल आगम या उसकी टीका के पढ़ने में असमर्थ है; उनके वास्ते यह ग्रंथ अतीव उपयोगी बनेगा और ग्रन्थकार के लिये यह पुस्तक सद्विचारों की प्रेरणा के लिये विशेष असाधारण है, ऐसा कहने में अतिशयोक्ति नहीं करता हूँ । आगे के शतकों पर आप शांति से ठीक प्रकाश डाल सकोगे ।

भारतीनिवास सोसायटी, अमदाबाद-६

पं० बेचरदास जीवराज जोसी

[२३]

भगवतीसूत्र जैसे महान आगम से आपकी विद्वता सामने प्रत्यक्ष है । राजस्थान गोडवाडवासियों व सभी को आपके सुलझे हुये विचारों के लिये गौरव है । भगवती के विवेचन में आप सभी से अग्रणी हैं ऐसी (मेरी जानकारी

अनुसार) मेरी मान्यता है। भगवतीसूत्र के दो भाग पढ़े। पहले भाग में मातृ स्वरूपा नारी को खूब महत्व दिया है आपने। .. द्रव्य क्षेत्र काल भाव का विवरण खूब गहराई से लिखा गया है। विवेचन में 'सवी जीव करूं शासन रसी ऐसी भावदया मन उल्लसी' के विचारों से जैन शासन की विशालता प्रकट हुई है। एक शब्द के कई अर्थ होते हैं ऐसे स्थानों पर अपने सिद्धांत के अनुसार अर्थ घटाया है। संप्रदाय में रहते हुये भी आप सांप्रदायिकता में नहीं फंसे हैं। इसका ध्यान आपने अपनी रचनाओं में सर्वत्र रखा है। विद्वता के साथ आपने आत्मीय गुणों का भी विकास किया है, अतः सर्वसाधारण जीवों की दयनीय स्थिति को बतलाने में सफल हुये हैं। गुरुदेव श्री विद्याविजय जी महाराज के चरणों में आपने गहरा अभ्यास किया हैं, उसकी प्रतीति आपकी डिग्रियों से होती है। ब्रह्मचारी होने के साथ तपस्वी ज्ञानी, ध्यानी व अभ्यासी है जिसका प्रमाण आपके भिन्न भिन्न ग्रन्थ है, जिसमें भगवतीसूत्र सर्वोपरि लगता है। शासनदेव से प्रार्थना है कि आप चिरायु बनकर शासन तथा समाज के हितचिन्तक बने रहे।

गोडवाडवासिओं की भूरि भूरि वन्दना स्वीकारें।

सादडी (राजस्थान)
२४–४–७९

फूलचन्द बाफना
भूतपूर्व मंत्री राज. व सर्वोदय
कार्यकर्ता

[२४]

सादर वन्दना ! आपके प्रेषित भगवतीसूत्र सारसंग्रह का दूसरा भाग अभी प्राप्त हुआ. आपने समय निकाल कर दूसरा भाग इतना जल्दी तैयार करके छपवा दिया, यह प्रसन्नता की बात है। यही तत्परता और सृजनशीलता आपमें बनी रहे यही भावना।

बीकानेर
३१-१०-७७

अगरचंदजी नाहटा



आधि-व्याधि तथा उपाधिरूप दावानल से दग्ध हुए संसार के प्राणियों के लिये मेघ से गिरते हुए नीर के समान भगवान महावीर स्वामी को हमारी वंदना है।



संसार की माया को सेवन करनेवाले जीवात्माओं के लिए चारों तरफ़ उत्पन्न हुई मोहकर्मरूपी धलिको नाश करने में पवन के जैसे देवाधिदेव को हम मनवचन तथा काया से नमस्कार करते हैं।



जगत की मायारूपी पृथ्वी के अन्तर्भाग को चीरने के लिये हल के जैसे पतितपावन भगवान महावीरस्वामी की हम वारंवार स्तुति करते हैं।



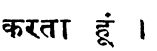
कल्पान्त काल के झंझावात से भी विचलित नहीं होनेवाले मेरू पर्वत के समान भगवान महावीरस्वामी को हमारी त्रिकाल वन्दना हो।



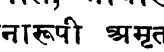
सर्वश्रेष्ठ ध्यानकी प्रकियारुपी ताप से कर्म विपाकरुपी कीचड़ को जिन्होंने सूखा दिया है, वे भगवान महावीर-स्वामी सब जीवों को हर्ष देनेवाले होवें।

अपनी शरण में आये हुए जीवों के शुभ कार्य करनेवाले होने से ब्रह्मा के समान, जन्म-मृत्यु के चक्र में से सबों की रक्षा करने में विष्णु के समान, पापियों के पापों को क्षय करने में शंकर के समान ऐसे हे प्रभो ! आप हमारे मोक्ष के मार्ग प्रदर्शक बनिये ।

क्षत्रिय वंशोत्पन्न, त्रिशलारानी के पुत्र, सिद्धार्थ राजा के नन्दन, ज्ञातवंशीय, सुवर्णसमान कायावाले, ऋषभनाराच संघयण के धारक, समचतुरस्तसंस्थान से देदीप्यमान भगवान महावीरस्वामी को मैं श्वासोश्वास में हजारों बार स्मरण करता हूं ।



लोभियों को लोभरुपी राक्षस से छुड़ानेवाले, कामियों को कामदेवरुपी गुंडे से बचानेवाले, क्रोधियों को क्रोधरुपी चांडाल से रक्षण करनेवाले, मायारूपी सर्पिणी के विष से नष्ट हुए मानवों को देशनारूपी अमृत पिलानेवाले हे पतित पावन, दलितोद्धारक भगवान महावीरस्वामी हमारा भी संसार का विष उतरनेवाले बनो ।



आपके श्रीमुखसे प्रकाशित यह भगवतीसूत्र घर-घर में आनन्द मंगल देनेवाला बने, यह मेरी आशा है ।

—: हार्दिक प्रेरणा :—

मानसिक जीवन में जैनवाणी, तत्त्वज्ञान, आचारसंहिता तथा जैनत्व प्राप्ति की अतूट श्रद्धा होते हुए भी, व्यापारिक और व्यावहारिक समस्यायें अंतरायभूत होती ही रहती है। जिससे गुरुदेवों की व्याख्यानवाणी में जाना और दो घड़ी भी आराम से बैठकर आध्यात्मिक चर्चा में भाग लेना लगभग दुष्कर सा बन गया है। ऐसी स्थिति में भी मन चाहता है कि ५-२५ मिनिट के लिए भी घर पर कुछ उत्तमोत्तम साहित्य वसाया जाय, जिससे उसके दो चार पृष्ठ भी पढ़कर ज्ञान प्राप्त कर सकें।

अपन सबों को खूब-खूब अच्छी तरह से समझ लेना है कि

- शणगारा हुआ शरीर कांच की चूड़ी जैसा अविश्वनीय है।
- संसार की तथा व्यापार की माया बिजली के चमकारे जैसी है।
- श्रीमंताई तथा सत्ता कालेनाग की फण के समान है।
- तिजोरियों की माया एक दिन विश्वासघात कराने वाली है।
- किंमती साबुन से धोया हुआ शरीर रोगों का मंदिर है।
- खाये हुए मेवा-मावा आदि मिष्ठान्न भी किसी को अमर बनानेवाले नहीं हैं। भोगविलासी जीवन में रोग का भय है। बढ़े हुए खानदान में दुराचार का भय है।

संपत्ति को राजा चोर आदि का भय है। शास्त्रों की चर्चा में वाद-विवाद तथा टंटे फिसाद का भय है। सज्जनता को दुर्जनों से भय है। जीवन को यमराज का भय है। शारीरिक शक्ति में दुश्मनों का भय है! जुवानी शरीर को वृद्धावस्था का भय है। इस प्रकार संसार का पूरा भौतिकवाद ही भयजनक भयवर्धक तथा भय परंपरक है।

इससे बचने के लिए, अरिहंत परमात्माओं का शासन, तथा उनका उपदेश और भोगोपभोगकिरमणव्रत अनर्थदंड विरमणव्रत आदि की पहिचान सबसे पहले करने की है। ये सब समस्यायें तभी हल होगी जब अति-उत्तमोत्तम साहित्य प्राप्त करने के लिए नीचे के सरनामे पर पोस्ट कार्ड भेजावे, और तीर्थंकर परमात्मा की साक्षात् वाणी स्वरूप द्वादशांगी में सर्वश्रेष्ठ तथा बालबच्चे भी जान सकें ऐसी सुन्दर, स्वच्छ गुजराती तथा हिन्दी भाषामें विवेचित हुए ग्रन्थ जो हीरों के आभूषणों से भी अमूल्य हैं उन्हे अपने घर की अलमारियों में पूज्य भाव से रखावें।

अतः इसी पुस्तक के कवर पृष्ठ के चौथे पेझ पर सूचित की हुई पुस्तकें अपनी अनुकूलतानुसार सरनामे से मंगावें उसे पढ़े पढ़ावे और जीवन को सफल बनावें यही अभ्यर्थना है।

लि. संघसेवक विमलचंद रांका
बोरीवली १, जुलाई १९८६

❀ पुस्तकों की सूची ❀

भगवतीसूत्र सारसंग्रह (गुजराती भाषा में) प्रत्येक का मूल्य	१०-
(शतक १ से ४१ तक) चार भागों में	
भगवतीसूत्र सार संग्रह (हिन्दी भाषा में)	
(शतक १ से ४१ तक) चारों भागों में ,,	१५-००
प्रश्न व्याकरण सम्पूर्ण गुजराती में	१५-००
जीवन सुखी कैसे बने भाग-१-२ हिन्दी	१-५०
जीवन सुखी केवीरीते बने भाग १-२ गुजराती	१-५०
भगवान महावीर स्वामी का दिव्य जीवन गुजराती	२-००
बारव्रत - गुजराती	२-००
नारी नारायणी गुजराती	२-००

— पू. साधु साहब जी को पुस्तकें भेट मिलेगी

प्राप्ति स्थान :

(१) संघवी जगजीवनदास कस्तूरचंद शाह
साठंबा (साबर कांठा) पीन ३८३३४०

(२) कान्तिलाल केशवलाल शाह
'लाल भुवन' रिलीफ रोड पादशाह
पोल के नाके अहमदाबाद - ३८०००२

(३) बी. एन. शाह अेन्ड कंपनी (हितेशभाई)
अेरकन्डीशन मारकेट ४, थे माले रूम
नं. ४८, ताड़देव रोड बम्बई-४०० ०३४

(४) श्री सुपार्श्वनाथ जैन देरासर
'नवी चाल' भीवंडी
(थाणा महाराष्ट्र) पीन-४२१३०२